ओ३म्

वेदार्थ-दीपक

निरुक्तभाष्य

उत्तरार्ध

लेखक तथा प्रकाशक

प्रो० चन्द्रमणि विद्यालंकार पालीरत्न

वेदोपाध्याय गुरुकुल-विश्वविद्यालय

दयानन्दाब्द १०२ १५ चैत्र १९८२ २७ मार्च १९२६	प्रथमावृत्ति १०००	पूर्वार्ध ४॥) उत्तरार्ध ४) दोनों भाग ७)

पुस्तक-प्राप्ति का स्थान

प्रबन्धकर्त्ता 'अलंकार'
डा० गुरुकुल कांगड़ी
जि० बिजनौर (यू० पी०)

मुद्रक—ला० नन्दलाल गुरुकुल कांगड़ी यन्त्रालय

वेदार्थदीपक पूर्वार्ध पर

कुछ एक सम्मतियें

'निरुक्त' वेद-निधि की कुञ्जी है, यह किम्वदन्ती बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु इस किम्वदन्ती के इतिहास को वेदप्रेमी प्रायः नही जानते। महाभारत में लिखा है कि 'निरुक्त' के प्रचार के बिना वैदिक कर्मकाण्ड और वेदप्रचार सर्वथा लुप्त होगया था। इसे देख कर 'यास्क' ऋषि को बड़ा दुःख हुआ और वैदिक कर्मकाण्ड के प्रचार के लिए फिर से निरुक्तशास्त्र का निर्माण किया।

वेद के प्रेमी सज्जनो! यदि अब फिर वैदिक कर्मकाण्ड और वेद का प्रचार सच्चे अर्थों में करना है, तो आप 'निरुक्त' को अवश्य पढ़िये। इस में विविध विषयों के ७३४ वेदमंत्रों और ३२ शाखा-मंत्रों की व्याख्या भी आगयी है। विषयों, मंत्रों, निघण्टु-निरुक्त-पदों तथा निरुक्तस्थ अन्य विशेष शब्दों आदि की वर्णानुक्रमी से अनेक सूचियें देकर ग्रन्थ को अधिक लाभप्रद बनाया गया है। देखिए प्रसिद्ध विद्वानों ने 'वेदार्थ दीपक' पूर्वार्ध पर क्या सम्मतियें दी हैं—

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज—गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के वेदोपाध्याय श्री पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार पालिरत्न ने मातृभाषा हिन्दी में निरुक्त का अनुवाद और व्याख्या करके आर्यजगत् का बड़ा उपकार किया है। इस में सन्देह नहीं कि निरुक्त की वर्तमान टीकाओं द्वारा वेदार्थ में बहुत से भ्रम उत्पन्न होजाते हैं, उनके दूर करने का यथाशक्ति बहुत उत्तम प्रयत्न किया गया है। मेरी सम्मति में प्रत्येक वैदिकधर्मी के निजू पुस्तकालय में इसकी एक प्रति अवश्य रहनी चाहिये।

श्रीयुत महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ जी झा एम. ए. पी. एच डी. वाइसचान्सलर इलाहाबाद युनिवर्सिटी—I find that you have devoted much time and attention to the important work. I have all along felt that the Nirukta has not received that attention from us which its importance demands. It is refreshing therefore to older workers like myself to find that among the younger generation we have such highly qualified workers on the Nirukta as yourself. My only hope is that this first part will receive enough support from the leading public to enable you to bring out the rest of the work.

श्रीयुत महामहोपाध्याय श्रीप्रमथनाथ देवशर्मा जी तर्कभूषण, प्रिन्सिपल संस्कृतकालेज हिन्दूविश्वविद्यालय काशी—

अध्यापकश्रीचन्द्रमणिविद्यालंकारपालीरत्नमहोदयेन विरचय्य प्राकाश्यं नीतस्य वेदार्थदीपकनिरुक्तभाष्याख्यग्रन्थस्य पूर्वार्द्धं समधिगम्य पर्यालोचयतो मम समजनि खलु सुमहान् सन्तोषभरः। हिन्दीभाषया साम्प्रतमिमं सुसारं बहुप्रयोजनं ग्रन्थं निर्माय प्रकाशयन् विद्यालङ्कारमहोदयः श्रौतसाहित्यतत्त्वबुभुत्सूनां हिन्दीभाषाविदां सर्वेषां महान्तमुपकारं साधितवानित्यस्मिन् विषये मन्ये न कस्यापि विप्रतिपत्तिर्भवितुमर्हतीति। यास्काचार्यकृतस्यातिकठिनस्य निरुक्तभाष्यग्रन्थस्यैतादृशं सरलं सुशैलीसन्नद्धं बहुसारं व्याख्यानं हिन्दीभाषया विरचयतोऽस्य विद्यालङ्कारमहोदयस्य गभीरं पाण्डित्यं सूक्ष्मार्थवीक्षणप्रकाशनयोरसाधारणं सामर्थ्यञ्च सर्वैरेव सहृदयैरवश्यमेव प्रशंसनीयमित्यत्र नास्ति मे संशयलेशस्याप्यवसर इति निःसङ्कोचं विज्ञापयति श्रीप्रमथनाथदेवशर्मा।

श्री पं० गोपीनाथ जी कविराज एम. ए. प्रिन्सिपल गवर्नमैण्ट संस्कृत कालेज काशी— I have carefully gone through the pages of the Vedartha dipaka Nirukta Bhasya Vol.I

by Professor Chandramani Vidyalankara Paliratna. It is a brilliant attempt in Hindi to illuminate along original lines the text of Yaska. Though the interpretation differs materially from the traditions of the schools, it appears in several places to have a distinct merit of its own and deserves admiration. There is no gainsaying the fact that the production is a monument of close study and laborious research in the field of Vedic exegesis.

श्री पं० घासीराम जी एम. ए. प्रधान आर्यप्रतिनिधिसभा संयुक्तप्रान्त मेरठ—मैंने आपका निरुक्त पूर्वार्द्ध भाष्य पढ़ा। आपने जिस अनुशीलन और परिश्रम से उसे लिखा है और जिस सुबोध और सरल शैली में गूढ़ स्थलों का मर्मोद्घाटन किया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। अब तक इस ढङ्ग का भाष्य निरुक्त का नहीं लिखा गया था। मैं आप को इस के लिये हृदय से बधाई देता हूं। आपने इसे लिख कर न केवल अपने यश का विस्तार किया है वरन् गुरुकुल की कीर्त्ति को भी विस्तृत किया है। अब तक गुरुकुल से वेदों के स्वाध्याय के विषय में बहुत कम काम हुआ है, आपने इस अत्युत्तम भाष्य को लिख कर उस लाञ्छन को भी बहुत अंशों तक दूर किया है। समस्त आर्यजनता को आपका उपकृत होना चाहिये। आपके भाष्य से वेदार्थ समझने में अमूल्य सहायता मिलेगी। आपने यह बहुत ही उत्तम किया है कि ग्रन्थ में आए हुए वेदमंत्रों की प्रतीकों का ही अर्थ करके संन्तोष नहीं किया वरन् पूरे मंत्र उद्धृत करके उनका सरल शब्दों में अर्थ कर दिया है। आपका भाष्य न केवल संस्कृतज्ञों के ही काम का है वरन् केवल आर्यभाषा जानने वालों के लिये भी बहुत लाभदायक है। आशा है आप उत्तरार्द्ध भाष्य भी शीघ्र प्रकाशित करेंगे।

श्री प्रो० रामदेव जी प्रिन्सिपल गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी—The volume before us bears marks of extensive

study and hard work. It deserves to be patronised by all interested in the study of the primeval scripture of humanity. Professor Chandramani's work has placed the study of the vedas within easy reach of those who are not sanskrit scholars. We trust the volume will command a wide sale.

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी संपादक 'वैदिक धर्म'—
श्री पं० चन्द्रमणि जी निरुक्त का परिशीलन आज कई वर्षों से कर रहे हैं। निरुक्तशास्त्र का विशेष रीति से अध्ययन करना उनके लिये विशेष हृदयङ्गम इस लिये हुआ कि उनको संस्कृत हिन्दी अंग्रेजी के अतिरिक्त पाली आदि प्राकृत भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान है। प्राकृत आदि अनेक भाषाओं के ज्ञान के बिना निरुक्त का अध्ययन उतना हृदयङ्गम नहीं हो सकता, यह बात निरुक्त के साथ परिचय रखने वाले स्वयं जान सकते हैं। इस लिये पण्डित जी की योग्यता निरुक्त का अध्ययन करने के लिये जैसी चाहिए वैसी है और इसी लिये वे ऐसा सुयोग्य ग्रन्थ बना सके हैं। केवल हिन्दी जानने वाले भी इस ग्रन्थ से अत्यन्त लाभ प्राप्त कर सकते हैं, इतना सुगम यह ग्रन्थ हुआ है। हर एक वैदिक ज्ञान का प्रेमी इस ग्रन्थ से अवश्य प्रेम करेगा।

श्री मा० आत्माराम जी एज्यूकेशनल इन्स्पेक्टर बड़ोदा—
मैंने आपका वेदार्थदीपक निरुक्तभाष्य देखा। इस ग्रन्थ ने एक भारी कमी को पूर्ण किया है। इस अनुसंधान-युग में प्रत्येक समाज, प्रत्येक पुस्तकालय, प्रत्येक गुरुकुल, प्रत्येक विद्यालय तथा प्रत्येक महाविद्यालय में आपके इस उपयोगी ग्रन्थ की एक प्रति होनी चाहिए-ऐसा मेरा दृढ़ मत है। इस के प्रकाशन पर मैं आपको मंगलवाद कहता हूं। आपका श्रम सफल है।

—:०:—

ओ३म्

वेदार्थदीपक--भूमिका ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

इस भूमिका में हम संक्षेप से, निघण्टुकर्ता कौन है ? यास्कीय निरुक्त कितना है ? यास्क की जीवनी क्या है ? और देवराज तथा दुर्गाचार्य का काल कौन सा है ? इन चार विषयों पर कुछ विवेचन करेंगे ।

निघण्टु-कर्ता कौन है

निरुक्त के मूलभूत पञ्चाध्यायी निघण्टु कोष की संपूर्ण शब्दसंख्या १७७३ है, जोकि इस प्रकार है—नैघण्टुककाण्ड = प्रथमाध्याय ४१५, द्वितीयाध्याय ५१६, और तृतीयाध्याय ४१३ । नैगमकाण्ड = चतुर्थाध्याय २७८ । दैवतकाण्ड = पंचमाध्याय १५१ ।

इस 'निघण्टु' का कर्ता कौन है, यह विषय जितने बड़े महत्त्व का है, शोक है कि उतना ही अधिक आधुनिक विचारकों का विवाद-क्षेत्र बना हुआ है ।

कई विद्वान् यास्काचार्य को ही निघण्टु-प्रणेता समझते हैं, और कई इस से सहमत न होकर यास्क-भिन्न किसी अन्य आचार्य का बनाया हुआ बतलाते हैं । हमारी सम्मति में उपर्युक्त दोनों पक्ष किसी सीमा तक सच्चे भी हैं और झूठ भी हैं । यदि यह माना जावे कि 'निघण्टु' का आदिकर्ता यास्क है, तो यह असत्य है । और इसी प्रकार यदि यह कहा जावे कि वर्तमान निघण्टु यास्ककृत नहीं, किसी अन्य आचार्य का है, तो यह भी ठीक नहीं ।

हमारी सम्मति में दोनों पक्षों का समन्वय करते हुए सचाई यह है कि 'निघण्टु' अतिप्राचीन काल से 'वृषाकपि' आचार्य का बनाया हुआ प्रचलित था। यास्काचार्य ने उसका अपनी मति के अनुसार संशोधन करके उसे वर्तमान 'निघण्टु' का स्वरूप दिया, और उसी परिष्कृत 'निघण्टु' पर 'निरुक्त' नामक भाष्य लिखा। अपनी स्थापना की पुष्टि में हम निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) निरुक्त ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यास्काचार्य लिखते हैं—तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते......ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः' अर्थात्, इस 'समाम्नाय' को 'निघण्टु' नाम से पुकारते हैं। और निश्चय पूर्वक वेदार्थ-ज्ञापक होने से यह 'निगन्तु' से निघण्टु' है, ऐसा औपमन्यव आचार्य 'निघण्टु' का निर्वचन करता है। यहां यास्काचार्य ने बतलाया कि जिसे मैं 'समाम्नाय' कहता हूं, उसे ही अन्य निरुक्तकार 'निघण्टु' कहते हैं, और औपमन्यव ने 'निघण्टु' का निर्वचन यह किया है। इस से स्पष्ट है कि 'निघण्टु' यास्क से प्राचीन है। यदि ऐसा न होता तो आचार्य 'तमिमं समाम्नायं' इत्यादि प्रकरण न लिखते।

(२) आप्री-देवताओं में के 'त्वष्टा' देवता की व्याख्या में यास्काचार्य लिखते हैं—'माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुर्मध्यमे च स्थाने समाम्नातः। अग्निरिति शाकपूणिः' (५४७ पृ०)। यहां पूर्वपक्ष दर्शाते हुए आचार्य कहते हैं कि मध्यम स्थान में 'त्वष्टा' के परिगणन से, यहां आप्रीसूक्तगत 'त्वष्टा' का अर्थ मध्यमस्थानीय वायु है, ऐसा कई आचार्य मानते हैं, परन्तु शाकपूणि इसका अर्थ पृथिवीस्थानीय अग्नि ही करता है। एवं 'मध्यमे च स्थाने समाम्नातः' इस पूर्वपक्षीय युक्ति से स्पष्ट है कि 'निघण्टु' यास्क से प्राचीन है। यदि 'निघण्टु' यास्ककृत ही होता तो यास्क से पहले निरुक्तकार यह युक्ति कैसे दे सकते थे।

(३) 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः......इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः (८६ पृ०) इत्यादि प्रकरण में यास्काचार्य 'निघण्टु' की उत्पत्ति का कारण बतलाते हुए 'इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः' से स्पष्ट-

तथा 'निघण्टु' को अपने से भी अतिप्राचीन बतला रहे हैं। यदि किसी को सन्देह हो कि यहां 'इमं ग्रन्थं' निघण्टु का निर्देश करता है, इस में क्या प्रमाण है, तो आप अगले ही पृष्ठ पर (६० पृ०) देखिये कि यास्काचार्य स्वयं 'निघण्टु' के विभाग प्रदर्शित करते हुए आपके सन्देह को दूर कर रहे हैं।

(४) 'निघण्टु' के चतुर्थाध्याय के बारे में यास्काचार्य, उसकी व्याख्या के प्रारम्भ में, लिखते हैं 'तदैकपदिकमित्याचक्षते' (२४० पृ०) और इसीप्रकार पंचमाध्याय की व्याख्या के प्रारम्भ में 'तद्दैवतमित्याचक्षते' (४५७ पृ०) लिखा है। एवं यहां बतलाया गया है कि आचार्य लोग चतुर्थाध्याय को 'ऐकपदिक' और पंचमाध्याय को 'दैवत' के नाम पुकारते हैं। यास्क का यह कथन तभी संगत हो सकता है जब कि 'निघण्टु' उन से पहले ही उपस्थित हो और उक्त अध्यायों की उपर्युक्त संज्ञायें प्रसिद्ध हों।

(५) इन के अतिरिक्त पांचवां हेतु यह है कि यास्काचार्य ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में स्थान २ पर 'इति नैरुक्ताः' लिखते हुए नैरुक्त-संप्रदाय का स्मरण किया है, और साथ ही भिन्न २ स्थलों में चौदह निरुक्तकारों के नामों का भी उल्लेख किया है (८१४ पृ०) । यदि यास्क से पहले 'निघण्टु' नहीं था, तो इन भिन्न २ निरुक्तकारों ने कौन से 'निघण्टु' पर भाष्य किए थे। इन पांच हेतुओं से यह बात असंदिग्ध है कि 'निघण्टु' ग्रन्थ यास्क-कृत् नहीं, अपितु उनसे पहले ही उपस्थित था।

(६) दैवतकाण्ड की भूमिका के अन्त में यास्काचार्य लिखते हैं—"तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने" इसकी व्याख्या ४६७ पृ० पर देखिए। यहां यास्काचार्य ने अन्य आचार्यों से मतभेद प्रदर्शित करते हुए स्पष्टतया कहा है कि मैं विशेष्यपदों को ही निघण्टु कोष के दैवतकाण्ड में पढ़ता हूं, विशेषण-शब्दों को नहीं। एवं, यास्क के इस कथन से स्पष्ट है कि 'निघण्टु' में समय २ पर आचार्य लोग अपनी मति के अनुसार घटती बढ़ती

करते रहे हैं, और यास्काचार्य ने भी उसमें कुछ परिवर्तन करके उसे वर्तमान निघण्टु का स्वरूप दिया है।

एवं, स्पष्ट है कि यद्यपि 'निघण्टु' यास्काचार्य से बहुत प्राचीन है, परन्तु आचार्य ने उस में कुछ परिवर्तन अवश्य किया है, जैसे कि अन्य आचार्यों ने भी यथामति पहले किया था। अतः, यास्क निघण्टु-कर्ता नहीं, अपितु निघण्टु-परिष्कर्ता है।

अब, यह देखना शेष रह गया कि निघण्टु का कर्ता यदि यास्क नहीं तो कौन है। महाभारत के शान्तिपर्व के ३४२ अध्याय में निम्नलिखित दो श्लोक (८८,८९) पाये जाते हैं—

> वृषो हि भगवान्धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
> नैघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
> कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
> तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

महाभारत के इस संपूर्ण प्रकरण को पढ़ने से विदित होता है कि यहां 'कृष्ण' अर्जुन के प्रति अपनी महिमा को प्रदर्शित कर रहा है। यहां कृष्ण से अभिप्राय चित्ताकर्षक परमेश्वर है, और अर्जुन (शुक्र) शुद्ध पवित्र सतोगुणी भगवद्भक्त है। इस प्रकरण में प्रभु-महिमा इस प्रकार बखानी गयी है कि उस के साथ २ प्राचीन इतिहास की झलक भी दृष्टिगोचर होजाती है। उपर्युक्त श्लोकों का शब्दार्थ इसप्रकार है-

हे अर्जुन! भगवान् 'धर्म' लोकों में 'वृष' के नाम से विख्यात है। निघण्टु-पदों के कथन में तू मुझे उत्तम 'वृष' जान। 'कपि' का अर्थ है वराह और श्रेष्ठ, और धर्म को 'वृष' कहते हैं, इस लिये प्रजापति कश्यप ने मुझे वृषाकपि कहा।

एवं, इस प्रसङ्ग से विदित होता है कि 'धर्म' नाम वाला कोई आचार्य 'वृष' नाम से संपूर्ण पृथिवी पर किसी समय सुविख्यात था। उस ने 'निघण्टु' ग्रन्थ का निर्माण किया था। धर्मश्रेष्ठ होने के कारण इस 'वृष' के गुरु प्रजापति 'कश्यप' ने इस का दूसरा नाम

'वृषाकपि' रखा हुआ था। इस 'वृष' ने तो वेदों में से कुछ एक शब्दों को चुनकर एक छोटा सा संग्रह-ग्रन्थ निघण्टु कोष ही बनाया था, परन्तु परमेश्वर ने विश्वकोष 'वेद' बनाया है, अतः परमेश्वर 'उत्तम वृष' है। और, इसीप्रकार क्योंकि संसार में परमेश्वर से अधिक या तत्समान कोई धर्मश्रेष्ठ नहीं, अतः वह 'वृषाकपि' भी है।

एवं, इन श्लोकों से पता लगता है कि 'निघण्टु' के कर्ता का नाम वृष या वृषाकपि था, और उस का आचार्य 'प्रजापति कश्यप' था।

यद्यपि महाभारत की इस साक्षी के सिवाय एतद्विषयक अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तथापि यह अकेला ही प्रमाण बड़ा स्पष्ट और पुष्ट है, और इस में कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि महाभारत की इस साक्षी पर पूर्णरूप से विश्वास क्यों न किया जावे।

यास्कीय निरुक्त कितना है

इस के पश्चात् यास्कीय निरुक्त कितना है, यह दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय भी बड़ा विवादास्पद है।

(१) देवराजयज्वा ने निघण्टुटीका की भूमिका में "भगवता यास्केन समाम्नायं नैघण्टुक-नैगम-देवताकाण्डरूपेण त्रिविधं गवादिदेवपत्न्यन्तं निर्ब्रुवता" ऐसा लिखा है। इसको देख कर सत्यव्रत सामश्रमी ने यह परिणाम निकाला है कि देवराजयज्वा को द्वादशाध्यायी निरुक्त ही यास्कीय अभिप्रेत था। परन्तु यह उनकी भूल है। यज्वा ने तो यहां यह कहा है कि यास्क ने नैघण्टुक नैगम और देवताकाण्ड, इन तीन विभागों में विभक्त, 'गो' से लेकर देवपत्नी तक के, समाम्नाय (निघण्टु) का व्याख्यान किया है। एवं, जिस प्रकार यज्वा ने अप्रासंगिक होने के कारण 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यादि यास्कभूमिका का विशेषतया निर्देश नहीं किया, उसी प्रकार दैवतकाण्ड के परिशिष्ट का भी निर्देश नहीं हो सकता था। अतः, हम यज्वा के उपर्युक्त लेख से कुछ भी परिणाम नहीं निकाल सकते कि उसे कितना निरुक्त यास्कीय अभीष्ट था।

(२) दुर्गाचार्य ने निरुक्तवृत्ति के प्रारम्भ में "अथास्यैवम-खिलपुरुषार्थोपकारवृत्तिसमर्थस्य संग्रहः" इत्यादि प्रसंग से "विद्या-पारप्राप्त्युपायोपदेशः, मंत्रार्थनिर्वचनफलं, देवताताद्भाव्यम्—इत्येष समासतो निरुक्तशास्त्रचिन्ताविषयः" तक यास्कीय निरुक्त के संक्षेप से ३७ विषय परिगणित किये हैं। उन में से अन्तिम दो विषय १३ वें अध्याय के हैं, और इसी अध्याय तक दुर्ग ने निरुक्तवृत्ति भी लिखी है। इसके अतिरिक्त १३ वें अध्याय की समाप्ति पर निम्न लिखित पाठ पाया जाता है—"इति ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ अष्टा-दशाध्यायस्य (त्रयोदशाध्यायस्य) प्रथमः पादः। जम्बूमार्गाश्रमवासिनो भगवद्दुर्गाचार्यस्य कृतौ ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ अष्टादशाध्यायः (त्रयोदशाध्यायः) समाप्तः। इति सपादसप्तदशाध्यायी ऋज्व-र्था नाम निरुक्तवृत्तिः समाप्ता"

दुर्गाचार्य ने निघण्टु के पांच अध्यायों को मिला कर निरुक्त के अध्यायों की गणना की है, पाठक इसे ध्यान में रखें।

भिन्न २ निरुक्तों में अध्याय-गणना भिन्न २ प्रकार से पायी जाती है। कईयों में तो यथामुद्रित चौदह अध्याय मिलते हैं और कईयों में चौदहवां अध्याय तेरहवें अध्याय में सन्निविष्ट करके तेरह अध्याय ही पाये जाते हैं। अतएव दुर्ग ने 'अष्टादशाध्यायः समाप्तः' और 'सपादसप्तदशाध्यायी' ये दोनों ही मत उल्लिखित कर दिये हैं।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी का विचार है कि दुर्गाचार्य को निरुक्त के १३ अध्याय ही ज्ञात थे, चौदहवां अध्याय उस समय तक नहीं बना था। यदि चौदहवां अध्याय भी विद्यमान होता तो, उस पर भी अवश्य वृत्ति लिखता। परन्तु सामश्रमी का यह विचार नितान्त भ्रमपूर्ण है। 'सपादसप्तदशाध्यायी' से स्पष्टतया विदित होता है कि तेरहवें अध्याय के अन्य भी पाद हैं, अन्यथा 'इति अष्टा-दशाध्यायी' ऋज्वर्था नाम निरुक्तवृत्तिः समाप्ता, ऐसा लिखना चाहिए था। तेरहवें अध्याय के अवशिष्ट पादों को ही दूसरे लोग चौदहवां अध्याय कहते हैं।

इसके अतिरिक्त १० वें अध्याय के १४ वें देवता 'क' पर वृत्ति करते हुए दुर्गाचार्य लिखते हैं—"उदाहरिष्यति च 'अथैतं महान्तमात्मानम्' इत्यधिकृत्य 'क ईषते तुज्यते' इति।"

यहां पर दुर्गने जिस अग्रिम यास्कीय पाठ का निर्देश किया है वह चौदहवें अध्याय का है। १४ अ० १२ ख० (७८६ पृ०) में उल्लिखित 'अथैतं महान्तमात्मानम्' का अधिकार करके उसी अध्याय के २६ वें खण्ड (७१४ पृ०) में 'क ईषते तुज्यते' आदि मंत्र दिया गया है। इस चौदहवें अध्याय के कुल ३७ खण्ड हैं, जिन में से २६ वें खण्ड का निर्देश दुर्गाचार्य स्वयं कर रहा है। एवं, यह बात सर्वथा असंदिग्ध और निश्चित है कि वृत्तिकार को निरुक्त के १४ वें अध्याय का भी पूर्ण ज्ञान था। इतना होने पर भी जो दुर्ग ने चौदहवें अध्याय पर वृत्ति नहीं लिखी, इसका कारण मुझे तो यही जान पड़ता है कि उस अध्याय के पाठ अत्यन्त अशुद्ध उपलब्ध होने के कारण उन पर कुछ टीका टिप्पणी करना, विवादग्रस्त समझ कर, उचित नहीं समझा और इसलिये उस पर वृत्ति नहीं लिखी।

दुर्गाचार्य ने निरुक्तवृत्ति के प्रारम्भ में "अयञ्च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः। तस्येदमादिवाक्यम् समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः" लिखते हुए निरुक्त के जिन १२ अध्यायों का उल्लेख किया है, उससे पाठक इस भ्रम में न पड़ जावें कि दुर्ग को निरुक्त के १२ अध्याय ही यास्कीय अभीष्ट थे। अपितु यहां दुर्ग पञ्चाध्यायी 'निघण्टु' के निरुक्तभाष्य' की ओर निर्देश कर रहा है, न कि संपूर्ण निरुक्त ग्रन्थ की ओर। 'निघण्टु' का निरुक्तभाष्य १२ वें अध्याय की समाप्ति पर संपूर्ण हो जाता है, अगले दो अध्याय परिशिष्ट रूप से संनिविष्ट हैं, अतः यहां उनका उल्लेख करना उचित न था।

(३) सायणाचार्य ने ऋक्संहिताभाष्य-भूमिका में लिखा है "तद्व्याख्यानञ्च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे"। इससे पता लगता है कि सायण १३ वें अध्याय को भी १२ वें अध्याय के अन्तर्गत समझ कर द्वादशाध्यायी निरुक्त को यास्कीय मानता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सायण की सम्मति में निरुक्त

१३ वें अध्याय पर्यन्त यास्कीय है चौदहवां अध्याय यास्कीय नहीं। अतएव उसने ऋग्भाष्य में त्रयोदशाध्यायान्तर्गत वेदमंत्रों की व्याख्या करते हुए दो मंत्रों को छोड़ कर सर्वत्र निरुक्त का प्रमाण उद्धृत किया है। परन्तु 'द्वा सुपर्णा सयुजा' आदि मंत्र-व्याख्या के प्रसङ्ग में "अत्र द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ, इत्यादि निरुक्तगतमस्य मंत्रस्य व्याख्यानमनुसन्धेयम्" लिखते हुए सायण ने निरुक्त के १४ वें अध्याय की ओर भी (७१६ पृ०) निर्देश किया है। इस से तो पता लगता है कि सायण को निरुक्त का चौदहवां अध्याय भी परिज्ञात था।

एवं, इस पूर्वापर-विरोधी विचित्र पहेली को सुलझाने के लिए पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने तर्क किया है कि सम्भवतः यह पाठ सायणभाष्य में किसी पाठक ने टिप्पणी के रूप में लिखा होगा, पीछे लेखक-प्रमाद से सायणभाष्य के अन्तर्गत लिखा गया, वास्तव में यह उद्धरण सायणाचार्य ने नहीं दिया।

यह पहेली की बूझ कुछ सन्तोषजनक नहीं। सायण से पूर्व-वर्ती दुर्गाचार्य के समय तो निरुक्त का चौदहवां अध्याय उपस्थित था, जैसे कि हम अभी सिद्ध कर आए हैं, और वह पीछे सायण के समय नष्ट हो गया हो, यह बात अधिक विचारणीय हो जाती है। इस लिये हमारी सम्मति में तो यहां भी वही स्वाभाविक कारण जान पड़ता है, जो कि १४ वें अध्याय पर दुर्गाचार्य की वृत्ति के न उपलब्ध होने का है। मैं समझता हूं कि सायण को यद्यपि निरुक्त के १४ वें अध्याय का भी परिज्ञान था, परन्तु उस में अत्यन्त अशुद्ध पाठों के उपलब्ध होने के कारण उसे निश्चय न था कि यह चौदहवां अध्याय यास्कीय है। अतः, संदिग्ध विषय को छोड़कर उसने १३ वें अध्याय की समाप्ति तक के ग्रन्थ को निर्विवाद समझकर, यास्कीय लिखा है।

(४) श्रीभट्टरत्नाकर के पुत्र भट्टनारायण ने प्रायः सब उप-निषदों पर टीकायें लिखी हैं। उसने गर्भोपनिषद् की टीका करते हुए गर्भवृद्धिक्रम के प्रसङ्ग में "यास्केन तु अन्यथोक्तम्, तद्यथा" यह लिख कर 'रात्रोपितं कललं भवति' से लेकर 'नवमे सर्वाङ्गसम्पूर्णो

भवति' तक चतुर्दशाध्यायीय निरुक्त का (७७९ पृ०) संपूर्ण पाठ उद्धृत किया है। इस से स्पष्ट है कि भट्टनारायण भी चतुर्दशाध्यायी निरुक्त को यास्ककृत समझते थे।

(५) इन सब के अतिरिक्त निरुक्त की अन्तःसाक्षि अत्यधिक बल रखती है। निरुक्त के १३ वें अध्याय के अन्तिम भाग में (७६६ पृ०) "पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति, इत्युक्तं पुरस्तात्" ऐसा लिखा है। सो, 'पारोवर्यवित्सु' आदि पाठ प्रथमाध्याय में (७२ पृ०) पाया जाता है। इस से पता लगता है कि निस्सन्देह १३ वां अध्याय यास्कीय ही है।

एवं, इन उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि त्रयोदशाध्याय तक तो निरुक्त का यास्कीय होना असंदिग्ध ही है, और चौदहवें अध्याय को भी विशेषयता दुर्गाचार्य और भट्टनारायण ने यास्कीय माना है। और, अभी तक ऐसा कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं हुआ, जिससे चतुर्दशाध्याय को यास्ककृत मानने में कोई अड़चन पड़ती हो। अतः, मेरी सम्मति में संपूर्ण चतुर्दशाध्यायी निरुक्त को यास्कीय मानने में, विशेष कारण के बिना, कोई संकोच नहीं होना चाहिये।

यास्काचार्य ने अन्तिम दो अध्यायों में परिशिष्ट भाग क्यों लिखा, इसका उत्तर हमने तेरहवें और चौदहवें अध्याय के प्रारम्भ में दिया है, पाठक वहां देखलें। यह परिशिष्ट संपूर्ण निरुक्त का परिशिष्ट नहीं, अपितु दैवतकाण्ड का परिशिष्ट है। दैवतकाण्ड में तो आचार्य ने मंत्रों के अधिदैवत अर्थ किये हैं, परन्तु तेरहवें अध्याय में दिग्दर्शन के तौर पर उनके ईश्वरस्तुति परक अर्थ किए हैं, और चौदहवें अध्याय में उस ईश्वर की प्राप्ति के लिये मुक्ति का उपदेश किया गया है।

यास्क-जीवनी

जैसे कि प्राचीन ऋषि मुनियों के काल और जीवनी के बारे में हमें निश्चय रूप से कुछ पता नहीं लगता, इसीप्रकार यास्क मुनि की जीवनी भी हमारे लिये अन्तर्हित है। लेखक ने 'महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत' नामी पुस्तिका में यास्काचार्य के काल के बारे में कुछ थोड़ा सा विवेचन किया है, उससे अधिक अभी तक और कुछ नहीं पता चलता। हां, देवराजयज्वाकृत निघण्टु-टीका

की भूमिका को देखने से यास्क-गुरु के नाम का ज्ञान और होता है। यज्वा ने भूमिका के प्रारम्भ में अपने अभीष्ट देवता गणेश का स्मरण करके तत्पश्चात् यास्क-गुरु शिपिविष्ट, निरुक्तकर्ता यास्क, अपने पितामह वागीश्वर, और अपने पिता यज्ञेश्वर, इन सब की क्रमशः वन्दना की है। वहां के शब्द इसप्रकार हैं—

नमोऽस्त्वधाम्ने शिपिविष्टनाम्ने, निरुक्तविद्यानिगमप्रतिष्ठाम् ।

अवाप यास्को विविधेषु यागे–ष्वनेन चाम्नायमभिष्टुवानः ॥

प्रणमामि यास्कभास्करं यो हृतमसः प्रकाशितपदार्थः ।

यस्य भुवनत्रयीमिव गावः प्रकटां त्रयीं वितन्वन्ति ॥

वागीश्वरं......वन्दे पितामहं देवराजयज्वाऽहम् ॥

आचार्यं शाब्दिकानां वन्दे......ततं यज्ञेश्वरार्यं......।

एवं, इस प्रसङ्ग से ज्ञात होता है कि यास्क के समय निरुक्तविद्या नष्ट हो चुकी थी, और उसके नष्ट होने के साथ २ वेदार्थ-ज्ञान की क्लिष्टता के कारण वेद का प्रचार शिथिल पड़ गया और उस से कर्मकाण्ड लुप्तप्राय हो गया। ज्ञात होता है कि संभवतः यही कारण था कि यास्क के समय कौत्स जैसे प्रबल नास्तिक विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ और उनका यास्काचार्य को तीव्र खण्डन करना पड़ा। और वेदविद्याप्रदीप के बुझ जाने पर, ऐसे विकट समय में शिपिविष्ट नामक वेदज्ञ विद्वान् बड़ा विख्यात हुआ। उससे प्रेरित होकर यास्क ने नष्ट हुई निरुक्तविद्या को पुनः प्राप्त किया और विविध यागों की सिद्धि के लिए वेद का स्तवन किया।

इसी आशय की पुष्टि में महाभारत की साक्षि भी दर्शनीय है। शान्तिपर्व ३४३ अ० के ७१—७३ श्लोक इसप्रकार हैं—

शिपिविष्टेति चाख्यायां हीनरोमा च योऽभवत् ।

तेनाविष्टं तु यत्किंचिच्छिपिविष्टेति च स्मृतः ॥

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान् ।

शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।

मत्प्रसादादधोनष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥

यहां भी पूर्ववत् (भू०४ पृ०) परमेश्वर का स्तवन है। 'शिपिविष्ट' आचार्य रोमरहित था, इसलिये शिपि अर्थात् रोमरहित स्वरूप से आविष्ट अर्थात् आस्थित होने के कारण उसका नाम 'शिपिविष्ट' था। खिन्नचित्त यास्क ने उस शिपिविष्ट की अनेक यज्ञों की सिद्धि के लिये स्तुति की, और इस प्रकार स्तुति करके उस उदारबुद्धि यास्क ने शिपिविष्ट की कृपा से अन्तर्हित निरुक्तशास्त्र को उपलब्ध किया।

एवं, यह शिपिविष्ट तो केवल हीनरोम होने के कारण ही 'शिपिविष्ट' है, परन्तु परमेश्वर रोमादि सर्वावयवों से रहित होकर सर्वत्र व्यापक होने के कारण पूर्णरूपेण 'शिपिविष्ट' है। यास्क ने विविध यागों की सिद्धि के लिए इस गुह्यनामधारी परमेश्वर की भी स्तुति की है (देखिए ३२१ पृ०)। और, बिना परमेश्वर की कृपा के कोई उत्तम कर्म सिद्ध नहीं होता, अतः निरुक्तशास्त्र के पुनरुद्धार में परमेश्वर का भी हाथ था।

इसप्रकार इन प्रमाणों से स्पष्टतया विदित होता है कि यास्क के गुरु 'शिपिविष्ट' थे, और संभवतः उन्हीं का स्मरण निरुक्तकर्ता ने 'वैश्वानर' देवता के प्रसङ्ग में (५०८ पृ०) 'आचार्याः' इस शब्द से किया है।

इस प्रसङ्ग से यदि मैं एक आवश्यक बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करदूं तो कुछ अनुचित न होगा। आपने अभी देखा है कि यास्क से पहले वैदिक कर्मकाण्ड के नष्ट होने का एकमात्र मुख्य कारण यह था कि निरुक्तविद्या के नष्ट हो जाने पर वेद का प्रचार लुप्त होगया था। तब यास्क ने निरुक्तविद्या का पुनरुद्धार करके फिर से वैदिक कर्मकाण्ड का मार्ग साफ किया। आजकल की अवस्था उससमय से अधिक निकृष्ट है। अतः वैदिक कर्मकाण्ड और वेद का प्रचार करने के लिए निरुक्तशास्त्र का प्रचार अत्यावश्यक है।

देवराज–दुर्गाचार्य–काल

निघण्टु–टीकाकार देवराजयज्वा की टीका–भूमिका को देखने से यह भी विदित होता है कि उससमय तक निरुक्त

पर दुर्गाचार्य की वृत्ति नहीं बनी थी, प्रत्युत 'दुर्गाचार्य' देवराज से बहुत पीछे हुआ है। 'देवराज' के समय 'स्कन्दस्वामी' की टीका विद्यमान थी, जोकि, आजकल उपलब्ध नहीं होती। इस के अतिरिक्त उस भूमिका से यह भी ज्ञात होता है कि स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास, माधवदेव, उवटभट्ट, भास्करमिश्र और भरतस्वामी, इन के बनाए हुए वेदभाष्य भी 'देवराज' के समय प्रचलित थे। इन में से एक 'उवटभट्ट' का ही यजुर्वेद पर भाष्य उपलब्ध होता है, अन्य किसी का नहीं।

'देवराज' ने अपनी भूमिका और निघण्टु-टीका में बारबार जिस वेदभाष्यकार 'माधव' के प्रमाण दिये हैं, वह सायणाचार्य से पूर्वकालवर्ती कोई अन्य ही 'माधव' है, सायण नहीं, और सायण ने भी अपने ऋग्भाष्य में (१०.८६.१) 'माधवभट्टास्तु' लिखते हुए उस माधव के मत का प्रदर्शन किया है।

सायण ने ऋग्भाष्य में 'ऋध्याम स्तोमं सनुयाम' आदि मंत्र (ऋ०१०.१०६.११) की व्याख्या में अक्षरशः दुर्गाचार्य की व्याख्या (निरु०१२अ०२७श०) का ही उल्लेख किया है। और, इसीप्रकार 'हिनोता नो अध्वरं' मंत्र (१०.३०.११) की व्याख्या अक्षरशः दुर्गानुसारी (निरु०६ अ०१४श०) देते हुए अन्त में सायण ने स्पष्ट ही लिख दिया है कि "एतस्या ऋचो व्याख्यानं निरुक्तटीकाया उद्धृतम्" एवं, इस से स्पष्ट है कि 'दुर्गाचार्य' सायण से पहले हुआ है।

इन के अतिरिक्त अन्य समालोचनीय विषयों पर विवेचन यथास्थान 'वेदार्थ-दीपक' में किया हुआ है, अतः पिष्टपेषण के भय से इस भूमिका को यहीं समाप्त किया जाता है, और अन्त में वेदाभिमानी विज्ञवर पाठकों से इतना अनुरोध अवश्य है कि वे यास्कीय निरुक्त की ऐतिहासिक घटना को सामने रखते हुए वैदिक कर्मकाण्ड के पुनरुद्धार के लिये तथा ईश्वरीय ज्ञान वेद के प्रसार के लिए निरुक्तशास्त्र का मनन अवश्य करें। इस विद्या के ज्ञान के बिना सच्चे अर्थों में वेद का स्वाध्याय करना या वेद का प्रचार करना निरा स्वप्नदर्शन ही होगा। इत्योम् शम्।

* ओ३म् *

वेदार्थ-दीपक निरुक्त-भाष्य

उत्तरार्द्ध

(दैवत-काण्ड)

सप्तमाध्याय ।

यास्क-भूमिका ।

* प्रथम पाद *

अथातो दैवतम् ।

अब, निघण्टु के नैघण्टुक और नैगम काण्डों की व्याख्या करने के पश्चात्, दैवत-काण्ड की व्याख्या करते हैं।

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते ।

उस निघण्टु में मुख्यतया वर्णन किए जाने वाले देवताओं के जो नाम हैं, वह दैवतकाण्ड है—ऐसा आचार्य लोग कहते हैं।

सैषा देवतोपपरीक्षा ।

वह, जो ९४ पृ० पर कह आए थे कि दैवतकाण्ड की व्याख्या आगे करेंगे, सो यह देवताओं का विचार पूर्वक पर्यालोचन प्रारम्भ होता है।

देवता-ज्ञान की सामान्यविधि

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति।

(ऋषिः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर (यत्कामः) जिस अर्थ के प्रकाश की कामना करता हुआ, (यस्यां देवतायां) जिस देवता में (आर्थपत्यं इच्छन्) उस अर्थ के स्वामित्व की इच्छा रखता हुआ, (स्तुतिं प्रयुङ्क्ते) जिस देवता के लिए उस अर्थ के वर्णन को प्रयुक्त करता है, (सः मंत्रः) वह मंत्र (तद्दैवतः भवति) उस देवता वाला होता है।

उपर्युक्त यास्कवचन का संक्षेप से अभिप्राय यह है कि सर्वद्रष्टा प्रभु ने जिस २ अर्थ का जिस २ नाम से मंत्रों में उपदेश किया है, उस २ नाम वाले वे मंत्र कहलाते हैं। जैसे 'अग्निमीडे पुरोहितं' मंत्र में परमेश्वर ने आग, अपना, या विद्वान् का वर्णन 'अग्नि' नाम से किया है, अतः यह मंत्र अग्निदेवत्यक या आग्नेय कहलाता है। एवं, स्पष्टतया उपदिष्ट देवता वाले अन्य मंत्रों में भी यही देवता-परिज्ञान की विधि समझिए।

मंत्रों के तीन प्रकार

तास्त्रिविधा ऋचः—परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च ॥ १ ॥

वे सब सत्यविद्याओं का स्तवन करने वाले, प्रकाशन करने वाले मंत्र तीन प्रकार के हैं। (१) परोक्षकृत, जो अप्रत्यक्षरूप में किसी अर्थ का प्रकाश करते हैं। (२) प्रत्यक्षकृत, जो प्रत्यक्ष रूप में किसी अर्थ को बतलाते हैं। और (३) तीसरे आध्यात्मिक, जो जीवात्मा या परमात्मा को अधिकृत करके उन का प्रतिपादन करते हैं।

'तास्त्रिविधा ऋचः' इस स्थल पर 'ऋच्' शब्द मंत्र वाचक है। यतः इस से पूर्व 'तद्दैवतः स मंत्रो भवति' कह कर पुनः उन्हीं मंत्रों के तीन भेद दर्शाए हैं। और, तीनों भेदों को लक्षण तथा उदाहरणों द्वारा बतलाकर अन्त में फिर 'परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मंत्रा भूयिष्ठाः' में मंत्र का प्रयोग किया है।

वेद सब सत्यविद्याओं के पुस्तक हैं, अतः सत्यविद्याओं के प्रकाशक होने से वेदमंत्र ऋच् या ऋचा कहलाते हैं ॥ १ ॥

परोक्षकृत का लक्षण और उदाहरण

तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य । 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः' 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्' 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः' 'इन्द्राय साम गायत' 'नेन्द्रादृते पवते धाम किंचन' 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' 'इन्द्रे कामा अयंसत' इति ।

उन में से परोक्षकृत मंत्र सातों नाम विभक्तियों और आख्यात के प्रथमपुरुषों से युक्त होते हैं ।

यास्काचार्य प्रत्येक विभक्ति का क्रमशः एक एक उदाहरण देते हैं—

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥ १०. ८९. १०.

देवता—इन्द्रः । (इन्द्रः दिवः ईशे) परमेश्वर द्युलोक का स्वामी है, (इन्द्रः पृथिव्याः) परमेश्वर पृथिवीलोक का मालिक है, (इन्द्रः अपां) परमेश्वर जल का मालिक है, (इन्द्रः इत् पर्वतानाम्) और परमेश्वर ही पर्वतों का अधिपति है । (इन्द्रः वृधां) परमेश्वर महान् से महान् आत्माओं का राजा है, (इन्द्रः इत् मेधिराणाम्) और परमेश्वर ही मेधा-संपन्न मनुष्यों का शासक है । (इन्द्रः क्षेमे हव्यः) वह परमेश्वर प्राप्त वस्तु के संरक्षण के लिये प्रार्थनीय है, (इन्द्रः योगे) और वही परमेश्वर अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये आह्वातव्य है ।

यहां देवतावाची 'इन्द्र' शब्द प्रथमान्त है और 'ईशे' क्रिया प्रथमपुरुष में प्रयुक्त है ।

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ऋग्वेद १. ७. १

देवता—इन्द्रः । (गाथिनः ! बृहत् इन्द्रं इत् अनूषत) हे गायक लोगो ! तुम सर्वोत्तम गान के द्वारा परमेश्वर का ही स्तवन करो । (अर्किणः ! अर्केभिः इन्द्रं) हे वेदपाठी लोगो ! तुम वेदमंत्रों के द्वारा परमेश्वर का गुणानुवाद करो । (वाणीः इन्द्रं) और हे समस्त मनुष्यो ! तुम अपने वचनों से सदा परमेश्वर की स्तुति करो ।

बृहत् = बृहता । वाणीः = वाणीभिः ।

'इन्द्रे यैते तृत्सवो वेविषाणाः' की व्याख्या ३८९ पृष्ठ पर देखिए।

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥ ८.९८. १

देवता—इन्द्रः। हे मनुष्यो ! तुम (विप्राय) विविध प्रकार से सत्कामनाओं को पूर्ण करने वाले (बृहते, धर्मकृते) महान्, धर्म को बनाने वाले, (विपश्चिते पनस्यवे) सर्वद्रष्टा और स्तुत्य (इन्द्राय) परमेश्वर का (बृहत् साम गायत) महान् सामगान करो।

पनस्यु—स्तुतिमान्। विप्र=वि+ प्रा पूरणे।

सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते।
तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन॥९.६९.६

देवता—इन्द्रः। (सूर्यस्य रश्मयः इव द्रावयित्नवः) सूर्य की रश्मियों की तरह आकर्षण करने वाले, (मत्सरासः) हर्षप्रद (प्रसुपः) और प्रसुप्त होजाने वाले अर्थात् अन्त में कारण में लीन होजाने वाले (आशवः सर्गासः) ये फैले हुए लोक लोकान्तर (ततं तन्तुं परि साकं ईरते) विस्तृत ब्रह्मरूपी सूत्र में पिरोये हुए इकट्ठे विचर रहे हैं। (इन्द्रात् ऋते) उस परमेश्वर के बिना (किंचन धाम) कोई भी लोक (न पवते) गति नहीं करता।

ब्रह्मसूत्र की विस्तृत व्याख्या शतपथ के १४ काण्ड ५ अध्याय ७ ब्राह्मण में उद्दालक-याज्ञवल्क्य के संवाद में देखिए।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥ १.३२. १

देवता—इन्द्रः। (इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं) मैं विदारक सूर्य की तरह शत्रुमर्दन राजा के पराक्रमों को कहता हूं। (वज्री यानि प्रथमानि चकार) किरणों के द्वारा सूर्य ने जिन प्राथमिक पराक्रमों को किया करता है और करेगा, उसी प्रकार वज्रधारी राजा को भी राजधर्म के मुख्य कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। सूर्य के मुख्य पराक्रम ये हैं—(अहिं अहन् अनु अपः ततर्द) सूर्य, मेघ का हनन करता है और तत्पश्चात् जल को बरसाता है। (पर्वतानां वक्षणाः प्राभिनत्) वह पर्वतों की नदियों को—दूर २ तक फैले हुए हिमप्रवाह को— पिघलाता है। इसी प्रकार राजा का भी मुख्य धर्म है कि वह सब प्रकार के शत्रुओं का दलन करके राष्ट्र में शान्ति सुख और लक्ष्मी की वर्षा करे तथा शत्रु-दुर्गों को छिन्न भिन्न करे।

'इन्द्रे कामा अयंसत' कहां का वचन है— यह ज्ञात नहीं। दुर्गाचार्य ने इस प्रतीक का पूर्ण पाठ इस प्रकार दिया है—

इन्द्रे कामा अयंसत दिव्यासः पार्थिवा उत। त्वमूषु गृणता नरः॥

(इन्द्रे दिव्यासः उत पार्थिवाः कामाः अयंसत) परमेश्वर में पारलौकिक और ऐहलौकिक कामनायें बंधी हुई हैं। अर्थात् परमात्मा ही हमारी उपर्युक्त दोनों प्रकार की कामनाओं का परिपूरक है। (नरः) अतः, हे मनुष्यो! तुम (त्वम् उ) उसी जगदीश्वर की (सु गृणत) भली प्रकार पूजा करो।

प्रत्यक्षकृत का लक्षण और उदाहरण

अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। 'त्वमिन्द्र बलादधि' 'वि न इन्द्र मृधोजहि' इति।

प्रत्यक्षकृत मंत्र मध्यमपुरुषयोगी होते हैं और 'त्वम्' इस सर्वनाम से संयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दो मंत्र हैं—

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं वृषन्वृषेदसि॥ १०. १५३.२

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र त्वं बलात् अधिजातः) हे परमेश्वर! तू बल से पैदा हुआ २ है, अर्थात् तू बलस्वरूप है। (सहसः) हे परमेश्वर! तू साहस का भण्डार है। (ओजसः) और हे जगदीश्वर! तू ओजोमय है। (वृषन्) हे वृष्टि-कर्ता! (वृषा इत् असि) तू वास्तव में सुखों का बरसाने वाला ही है।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥ १०.१५२.४

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र! नः मृधः विजहि) हे राजन्! घात पात करने वाले हमारे दुःखदायी शत्रुओं को मारो, (पृतन्यतः नीचा यच्छ) सेना द्वारा आक्रमण करने वाले दुश्मनों को नीचा दो—उन्हें भलीप्रकार पराजित करो, (यः अस्मान् अभिदासति) और जो दुष्ट हम आस्तिकों का क्षय करता है, (अधरं तमः गमय) उसको निचले दर्जे के अन्धकार में—कठोर कारागृह में—पहुंचाओ।

मृधः—'मृध्' धातु स्कन्दस्वामी ने हिंसार्थक मानी है।

स्तोता के प्रत्यक्षकृत होने से मंत्र प्रत्यक्षकृत नहीं होता, परन्तु मंत्र का प्रत्यक्षकृतत्व या परोक्षकृतत्व स्तोतव्य देवता के साथ ही संबन्ध रखता है—इस बात के स्पष्टीकरण के लिये यास्काचार्य लिखते हैं—

अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । 'मा चिदन्यद्विशंसत' 'कण्वा अभिप्रगायत' 'उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्' इति ।

किन्तु, कहीं स्तोता प्रत्यक्षकृत होते हैं और स्तोतव्य परोक्षकृत । उन स्तोतव्य देवताओं के ध्यान से मन्त्र परोक्षकृत ही समझने चाहियें, स्तोता के लिए प्रयुक्त 'त्वम्' आदि शब्दों को देख कर भ्रमवश उन्हें प्रत्यक्षकृत नहीं मानना चाहिए । इसके स्पष्टीकरण के लिये निम्नलिखित उदाहरण दिए गये हैं—

मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत । इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ ८.१.१

देवता—इन्द्रः । (सखायः ! अन्यत्चित् मा विशंसत) हे मनुष्यो ! अन्य किसी की पूजा मत करो, (मा रिषण्यत) अपने आपको दुःखी मत बनाओ । (सुते सचा) संसार में इकट्ठे होकर (वृषणं इन्द्रं इत् स्तोत) सुखवर्धक परमेश्वर की ही स्तुति करो, (मुहुः उक्था च शंसत) और बारबार उसके प्रशस्य गुणकर्मों का गान करो ।

क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम् । कण्वा अभिप्रगायत ॥ १.३७.१

देवता—मरुतः । (कण्वाः वः मारुतं शर्धः क्रीडं) हे मेधाविलोगो ! तुम्हारा मानुषिक बल आराम देने वाला है । (रथेशुभं) तुम शरीररूपी रथ में शोभायमान (अनर्वाणं) उस स्वतंत्रतासंपन्न पौरुष की भलीप्रकार सराहना करो ।

उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्रमुञ्चता सुदासः ।
राजा वृत्रं जङ्घनत्प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः ॥ ३.५३.११

देवता—इन्द्रः । (कुशिकाः उपप्रेत) हे उद्घोषक राजपुरुषो ! आवो (चेतयध्वम्) सावधानचित्त होवो । (सुदासः अश्वं) अभय न्याय विद्या और ऐश्वर्य आदि के प्रदाता राजा के आश्वमेधिक अश्व को (राये प्रमुञ्चत) दिग्विजय से धनलाभ के लिये छोड़ो, (राजा प्राक् अपाक् उदक् वृत्रं जङ्घनत्) यतः राजा पूर्व पश्चिम और उत्तर दिशाओं में शत्रु को पूर्णतया पराजित कर चुका है । (अथ) और फिर, अश्वमोचन के पश्चात् (पृथिव्याः वरे) राजा पृथिवी के उत्कृष्ट प्रदेश में (आयजाते) यज्ञ करे ।

इन मंत्रों में यद्यपि विशंसत, रिषयत, स्तोत, शंसत, अभिप्रगायत, उपप्रेत, चेतयध्वम्, प्रमुञ्चत–ये सब मध्यमपुरुष के प्रयोग हैं, परन्तु इन का संबन्ध सखायः, कण्वाः, कुशिकाः, इन स्तोतृजनों के साथ है स्तोतव्य देवताओं के साथ नहीं। एतादृशो य इन्द्रोऽस्मि तमिन्द्रमित् स्तोत, एतादृशाः ये मरुतः सन्ति तेषां संबन्धि मारुतं शर्धः क्रीडम्, एतादृशो य इन्द्रो विद्यते तस्य सुदासः इन्द्रस्य—इस प्रकार देवताओं के परोक्षकृत होने से उपर्युक्त मंत्र परोक्षकृत ही समझे जावेंगे। इसी प्रकार पूर्वोल्लिखित 'इन्द्रमिद् गाथिनो""अनूषत' 'इन्द्राय साम गायत' में समझना चाहिए।

एवं 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' में उत्तमपुरुष 'प्रवोचम्' का संबन्ध स्तोता के साथ है देवता के साथ नहीं, अतः वह मंत्र भी आध्यात्मिक नहीं समझा जावेगा प्रत्युत परोक्षकृत ही है।

आध्यात्मिक का लक्षण और उदाहरण

अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना। यथैतदिन्द्रो वैकुण्ठो, लवसूक्त, वागाम्भृणीयमिति ॥ २ ॥

आध्यात्मिक मंत्र उत्तमपुरुषयोगी होते हैं और 'अहं' इस सर्वनाम से संयुक्त होते हैं। जैसे ये इन्द्र वैकुण्ठ सूक्त, लवसूक्त और वागाम्भृणीय सूक्त हैं।

ऋग्वेद के १० मण्डल ४८ सूक्त का देवता इन्द्र वैकुण्ठ है। 'वैकुण्ठ' कहते हैं परमेश्वर के परमपद को, यतः वह उस परमपद में सर्वत्र कुण्ठित गति से विगत होता है, अर्थात् सर्वत्र अप्रतिहतगति होता है। उसकी क्रियाओं में कहीं भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती है। उस विकुण्ठ-नामी परमपद में स्थित होने के कारण परमेश्वर 'वैकुण्ठ' कहलाता है। उस इन्द्र वैकुण्ठ सूक्त का प्रथम मंत्र यह है—

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥

(अहं पूर्व्यः) हे मनुष्यो! मैं सनातन परमेश्वर (वसुनः पतिः भुवं) संपूर्ण जगत् का स्वामी हूं। (अहं शश्वतः धनानि संजयामि) मैं अन्य सनातन जीवात्माओं और प्रकृति का, तथा सब धनों का, अर्थात् कार्य जगत् का

विजय करता हूं । (जन्तवः मां पितरं न हवन्ते) सब जीव मुझे पिता की तरह पुकारते हैं । (अहं दाशुषे) मैं, सब को सुख देने वाले आत्मसमर्पक मनुष्य को उत्तमोत्तम भोग्यसामग्री प्रदान करता हूं ।

ऋग्वेद के १० मण्डल ११९ सूक्त का देवता 'लव इन्द्र' है । 'लव इन्द्र' का अर्थ है सूक्ष्म जीवात्मा । अत एव कई आचार्य इस सूक्त का देवता 'आत्म-स्तुति' मानते हैं । सूक्त का प्रथम मंत्र यह है—

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति । कुवित्सोमस्यापामिति ॥

सन्यासाश्रम में प्रविष्ट होनेवाला यति सर्वमेध यज्ञ करने की इच्छा रखता हुआ संकल्प करता है—(इति वै इति मे मनः) मेरा संकल्प इस इस प्रकार का है (इति) कि (गां अश्वं सनुयाम) मैं गाय घोड़ा आदि संपूर्ण ऐश्वर्य सामग्री का दान करदूं, (इति) क्योंकि (सोमस्य कुवित् अपाम्) मैंने योगैश्वर्य का बहुत पान कर लिया है ।

ऋग्वेद के १० मण्डल १२५ सूक्त का देवता 'वागाम्भृणी' है । वेदवाणी का प्रदाता होने से परमात्मा 'वाक्' है । निघण्टु में 'अम्भृण' महद्वाची पठित है । स्त्रीलिङ्ग 'वाक्' के संबन्ध से 'अम्भृणी' भी स्त्रीलिङ्ग है । एवं, वागाम्भृणी का अर्थ हुआ वेदवाणी का प्रदाता महान् परमात्मा । सूक्त का प्रथम मंत्र यह है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥

मैं रुद्र और वसु देवताओं के साथ विचरता हूं । मैं आदित्य देवताओं और सब विद्वानों या सूर्य किरणों के साथ विचरता हूं । अर्थात् इन सब में मैं एकरस-तया व्यापक हूं । मैं प्राण तथा अपान—इन दोनों का धारण पोषण करता हूं । एवं, मैं बिजुली और अग्नि का तथा दोनों द्यावापृथिवी लोकों का धारण पोषण करता हूं ।

एवं, इन सूक्तों में सर्वत्र 'देवता' के लिए उत्तम पुरुष या 'अहं' का प्रयोग होने से, ये जीवात्मा या परमात्मा का वर्णन कर रहे हैं ।

वेदार्थ करते समय परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक मंत्रों के उपर्युक्त नियमों को भली प्रकार ध्यान में रखना चाहिए । इन्हीं के अज्ञान से अनेक वेद-भाष्यकार वेदों में सूर्यादि जड़ पदार्थों की पूजा का विधान समझते हैं । जहां, देवता के लिए प्रथम पुरुष का प्रयोग हो वहां समझना चाहिए कि किसी वस्तु का परोक्षरूप में वर्णन है । जहां, मध्यम पुरुष या 'त्वं' आदि का प्रयोग हो वहां

किसी वस्तु का प्रत्यक्षरूप में प्रतिपादन है। और जहां, उत्तम पुरुष या 'अहं' आदि का प्रयोग हो वहां जीवात्मा या परमात्मा की चर्चा है—इसे पूर्णतया ध्यान में रख लेना चाहिए। एवं 'त्वम्' आदि का प्रयोग करते हुए प्रत्यक्षरूप में जड़ चेतन, दोनों का वर्णन होसकता है। अतः, यह आवश्यक नहीं कि ऐसे स्थलों में केवल चेतन का ही प्रतिपादन हो, और जड़ पदार्थ का न हो।

इस प्रसङ्ग में एक दूसरी बात पर भी ध्यान रखना चाहिए। वह यह कि मध्यमपुरुष का त्वम्, युवाम्, यूयम्, और उत्तमपुरुष का अहम्, आवाम्, वयम्—इन में से किसी एक के साथ वचनानुसार नित्य संबन्ध है। अतः, यदि किसी मंत्र में मध्यमपुरुष का प्रयोग हो तो वचनानुसार 'त्वम्' आदि में से किसी का, और यदि 'त्वम्' आदि में से किसी का प्रयोग हो तो वचनानुसार मध्यम पुरुष का अध्याहार कर लेना चाहिये। इसी प्रकार उत्तमपुरुष और 'अहम्' आदि के बारे में समझिए॥ २॥

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मंत्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः।

परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत मंत्र बहुत अधिक हैं, परन्तु आध्यात्मिक मंत्र थोड़े हैं। अर्थात्, वेदों में तत्त्वज्ञान परोक्षरूप या प्रत्यक्षरूप में तो अधिक पाया जाता है परन्तु आध्यात्मिक रूप में—अहम्भाव में—बहुत थोड़ा है।

वेदों के प्रतिपाद्य विषय

यहां पर यास्काचार्य प्रसङ्गवश नि[illegible] के तौर पर [illegible] प्रतिपाद्य विषयों का [illegible] जिन से पाठक वेदों के स्वरूप को यत्किञ्चित् समझ [illegible]—

अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः। '[illegible]न्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इति यथैतस्मिन्सूक्ते।

अथाप्याशीरेव न स्तुतिः। 'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्' इति। तदेतद्बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मंत्रेषु।

अथापि शपथाभिशापौ। 'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि' 'अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः' इति।

अथापि कस्यचिद् भावस्याचिख्यासा । 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि' 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' इति ।

अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात् । 'सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्' 'न विजानामि यदि वेदमस्मि' इति ।

अथापि निन्दाप्रशंसे । 'केवलाघो भवति केवलादी' 'भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म' इति । एवमक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा कृषिप्रशंसा च ।

एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मंत्रदृष्टयो भवन्ति ॥ ३ ॥

१. स्तुति । कही केवल स्तुति ही होती है प्रार्थना नही होती, जैसे कि 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इस मन्त्र वाले सूक्त में (ऋग्वेद १. ३२) पायी जाती है। यह सूक्त १५ ऋचाओं का है। उन सब मे 'इन्द्र' की स्तुति ही वर्णित है, उनमे किसी प्रकार की प्रार्थना नही की गई। इस सूक्त के पाच मन्त्रों की व्याख्या भिन्न २ स्थलों पर इसी निरुक्त में आचुकी है, पाठक वहा देखले। जैसे, इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम ४८० पृ० । अहन् वृत्रं० ४२१ पृ० । अयोद्धेव दुर्मद'० ३८३ पृ० । अतिष्ठन्तीनाम्०१४० पृ० । दासपत्नीरहिगोपाः० १४२ पृ० ।

२. प्रार्थना । कही विशुद्ध प्रार्थना ही होती है स्तुति नही होती, जैसे 'सुचक्षा अहमक्षीभ्याम्' इत्यादि मंत्र में है। इस प्रकार विशुद्ध प्रार्थना परक मंत्रों का पाठ (आध्वर्यवे) यजुर्वेद मे, और अन्य तीनों वेदों मे आए हुए यज्ञसंबन्धी मन्त्रों मे बहुत पाया जाता है।

'सुचक्षा' आदि वचन पारस्कर गृह्यसूत्र के समावर्तनसंस्कार--प्रकरण में विनियुक्त है। परन्तु किस शाखा का मन्त्र है—यह ज्ञात नही। उपर्युक्त संस्कार में स्नानादि के पश्चात् चन्दनानुलेपन करते समय इस का जप किया जाता है। अर्थ इस प्रकार है—प्रजापते! आप ऐसी कृपा कीजिए कि मैं आँखों से भला देखने वाला होऊँ, मुख से उत्तम कान्तिमान् होऊं, और कानों से अच्छा सुनने वाला होऊं।

'यद्ग्राम यदरण्ये' इत्यादि यजुर्वेद का प्रार्थनापरक मंत्र निरुक्त पूर्वार्द्ध के ३४२ पृ० पर देखिए।

यास्काचार्य ने 'मंत्रेषु' का विशेषण 'याज्ञेषु' दिया है। इस से स्पष्ट है कि यास्क वेदों के संपूर्ण मंत्रों को यज्ञपरक नहीं मानता। अतः, 'यज्ञार्थमेव वेदाः प्रवृत्ताः' इत्यादि प्रभाकरादि मीमांसकों का विचार अयुक्त है।

३. शपथ ४. अभिशाप

कहीं शपथ होता है, और कहीं शाप होता है। ये दोनों ही 'अद्या मुरीय' आदि एक ही मंत्र में आगये हैं। मंत्र के पहले भाग में शपथ है, और द्वितीय भाग में शाप। संपूर्ण मंत्र तथा अर्थ इस प्रकार है—

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैर्दशभिर्वियूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह॥ ७. १०४. २५

देवता—इन्द्रः। (यदि यातुधानः अस्मि) हे इन्द्र राजन्! यदि मैं दूसरों को यातना देने वाला राक्षस होऊं, (यदि वा पूरुषस्य आयुः ततप) अथवा यदि मैंने किसी पुरुष का जीवन नष्ट किया हो, (अद्य मुरीय) तो मैं आज ही दण्ड का भागी हूं। (अध यः मा मोघं 'यातुधान' इति आह) परन्तु जो मुझे व्यर्थ ही 'यातुधान!' ऐसा कहता है, (सः दशभिः वीरैः वियूया) वह अपनी दसों सन्तानों से वियुक्त हो, अर्थात् उस असत्यवादी को कठोर कारागृह में डाल कर अपनी दसों सन्तानों से वियुक्त किया जावे जहां कि वह अपने पुत्रों तक से न मिल सके।

इस मंत्र में बतलाया गया है कि यदि कोई दुष्ट मनुष्य व्यर्थ में ही झूठ मूठ किसी सज्जन महात्मा पर दोषारोपण करे, तो उसे तुरन्त कठोर कारावास का दण्ड देना चाहिए। और साथ ही 'दशभिः वीरैः' से स्पष्टतया यह सिद्धान्त भी प्रतिध्वनित हो रहा है कि मनुष्य को अधिक से अधिक दस सन्तान पैदा करने की आज्ञा है, इस से अधिक नहीं।

शतपथ में 'मृत्यु' शब्द पाप्मानं मृत्युः १४.३.३.११ तानि मृत्युः श्रमो भूत्वा' १४. ३.६.२१ मृत्युर्वै तमः १४. ३ ३. २८ इत्यादि स्थलों में पाप दुःख, थकावट, अज्ञान अन्धकार आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, अतः मैंने 'मुरीय' का अर्थ दण्ड का भागी (दुःख का भागी) बनूं—ऐसा किया है।

५. भावविवक्षा

कहीं किसी (भाव) सत्, अवस्था या सृष्ट्युत्पत्ति की विवक्षा होती है। उदाहरण के तौर पर निम्नलिखित दो मंत्र दिये गये हैं।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ १०.१२६.३

देवता—भाववृत्त। (अग्रे तमसा गूढं तमः आसीत्) सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व प्रलय रात्रि से आच्छादित प्रकृति थी, (इदं सर्वम्) और यह संपूर्ण जगत् (अप्रकेतं) अप्रज्ञायमान था, यतः वह (सलिलं आः) अपने सत्कारण प्रकृति में लीन था। (तुच्छ्येन आभु) परिणाम आदि गुणों से शून्य, सर्वदा एकरस रहने वाले तुच्छ या शून्य नामक निर्गुण, तथा सर्वव्यापक परमेश्वर से (यत् अपिहितं आसीत्) जो यह तमोनामा प्रकृति ढकी हुई थी, बन्द थी, (तत् एकं) वह एक सत् प्रकृति (तपसः महिना अजायत) परमेश्वर के स्रष्टव्य-पर्यालोचन रूपी तप के प्रभाव से विकसित हुई।

एवं, इस मंत्र में प्रलयावस्था का वर्णन है, प्रकृति तथा परमात्मा—इन दो सत्पदार्थों को दर्शाया गया है, और सृष्ट्युत्पत्ति का दिग्दर्शन है।

'तत् एकं अजायत' से स्पष्टतया परिज्ञात होता है कि एक सत् पदार्थ, जिसका नाम 'तमस्' या प्रकृति है, वह ही उपादान कारण है, तुच्छनामा परमेश्वर नहीं।

सांख्य में 'तमस्' प्रकृतिवाचक है। सलिल—सद्भावे लीनं सलिलम्। आः=आसीत्। तुच्छ=तुच्छ्य=शून्य। आभु=आभुना, सुपां सुलुक् से विभक्ति-लोप। आ समन्तात् भवतीति आभुः। महिना=महिम्ना।

उपर्युक्त मंत्र के पूर्वार्ध की व्याख्या मनु ने इस प्रकार की है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १.७

निम्नलिखित दूसरे मंत्र में प्रलयावस्था का वर्णन है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥ १०.१२६.२

देवता—भाववृत्त। (तर्हि न मृत्युः आसीत् न अमृतं) तब प्रलयावस्था में न किसी को मृत्यु थी और न किसी का मोक्ष था। अर्थात्, उस समय जन्म मरण या मोक्ष किसी का नहीं होता है। (न रात्र्याः अह्नः प्रकेतः आसीत्) न रात्रि या दिन का ज्ञान था। अर्थात्, उस समय रात दिन मास ऋतु वर्ष आदि काल की स्थिति न थी। (तत् एकं) वह सर्वप्रसिद्ध एक सत् ब्रह्म (स्वधया अवातं आनीत्) स्वभावतः वायु के बिना प्राणधारण कर रहा था। (तस्मात्

परः) उस परमात्मा से उत्कृष्ट (अन्यत् किंचन न आस) अन्य कोई भी सत्पदार्थ नहीं था। अर्थात्, वह परमात्मा प्रलयावस्था में भी सर्वोत्कृष्ट था।

'आनीदवातं स्वधया तदेकं' से स्पष्टतया प्रतिध्वनित होता है कि परमेश्वर के बिना अन्य चेतन जीव भी विद्यमान थे, परन्तु वे प्राणधारण नहीं कर रहे थे, क्योंकि उस समय प्राणशक्ति को देने वाली वायु का अभाव था।

स्वधा—स्वस्मिन्धीयते इति स्वधा।

६. विलाप। कहीं किसी अवस्था के कारण विलाप पाया जाता है। उदाहरण के लिये दो मंत्र उद्धृत किये गये हैं। उन में से 'इन्द्रो अद्य प्रपतेद्नावृत्' की व्याख्या १० अ० ३२ अ० पर देखिए। दूसरा मंत्र यह है—

न विजानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥ १. १६४. ३७

ऋषि—दीर्घतमा। (न विजानामि) मैं नहीं जानता (यत् इव इदं अस्मि) जैसा मैं यह हूं। अर्थात्, दीर्घान्धकार में पड़ा हुआ मैं नहीं जानता कि मेरे आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है। (निण्यः) परन्तु अपने स्वरूप से छुपा हुआ (सन्नद्धः) और अविद्या से बंधा हुआ (मनसा चरामि) मन आदि इन्द्रियों के साथ विचर रहा हूं। अर्थात् इन्द्रियों के वशीभूत हुआ २ तज्जन्य विषयभोगों में फंसा हुआ हूं। (यदा मा) अतः, जब मुझे (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्य आत्मा का उत्कृष्ट अनुभव, आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान (आ अगन्) सम्यक्तया प्राप्त होगा, तभी मैं (अस्याः वाचः भागं) इस वेदवाणी के द्वारा भजनीय परमपुरुषार्थ को, या वेदवाणी के प्रदाता इस जगदीश्वर के गुणांशों को (अश्नुवे) प्राप्त कर सकूंगा।

एवं इस मंत्र में, अविद्यान्धकार में पड़ा हुआ दुःख मनुष्य अपनी हीन अवस्था को देख कर विलाप कर रहा है। इसी प्रकार 'नदस्य मा रुधतः' आदि मंत्र में (देखिए ३१० पृ०) विलाप है।

७. निन्दा ८. प्रशंसा। कहीं किसी बात की निन्दा और कहीं किसी बात की प्रशंसा की जाती है। निन्दापरक मंत्र यह है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ १०. ११७. ६

(अप्रचेताः मोघं अन्नं विन्दते) जो मनुष्य अन्नदान नहीं करता वह मूढ़ व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। (सत्यं ब्रवीमि) हे मनुष्यो! यह सत्य सिद्धान्त है जो मैं कह रहा हूं कि (सः तस्य वधः इत्) वह अन्न दान न करने वाले का घातक ही है। (न अर्यमणं पुष्यति न उ सखायं) क्यों कि जो मूढ़ अन्न से न किसी श्रेष्ठ विद्वान् का पोषण करता है और नाही किसी अपने साथी का भरण करता है, (केवलादी केवलाघः भवति) वह एकाकीभोजी केवल पाप का भोगी होता है, पुण्य के किसी अंश का भोग नहीं कर सकता।

इसी सचाई को गीता ने 'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' इस वाक्य से दर्शाया है।

यहां अन्नदान न करने वाले की निन्दा है। निम्न मंत्र में दाता की प्रशंसा की गई है—

भोजायाश्वं संमृजन्त्याशुं, भोजायास्ते कन्या शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म, परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥ १०.१०७.१०

(भोजाय आशुं अश्वं संमृजन्ति) दूसरों की पालना करने वाला दाता यहां कहीं चला जावे, उस के लिये मनुष्य आशुगामी अश्व को अलंकृत करते हैं। (भोजाय शुम्भमाना कन्या आस्ते) पालक के लिये विवाहकाल में शोभावती गुणवती कुमारी प्राप्त होती है। (भोजस्य इदं वेश्म) पालक का यह गृह, जो कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के साथ बना है, (पुष्करिणी इव परिष्कृतं) जैसे पुष्करिणी हंस पद्मादिकों से सुभूषित होती है वैसे अलंकृत, तथा (देवमाना इव चित्रम्) देवनिर्मित राजप्रसाद की तरह दर्शनीय होता है।

देवमाना = देवमानम्, 'सु' की जगह 'आ'।

इसी प्रकार द्यूतसूक्त (ऋ० १०. ३४) में द्यूत की निन्दा और कृषि की प्रशंसा है। द्यूतनिन्दा परक एक मंत्र यहां दिया जाता है—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुपनक्तमेति ॥ १०. ३४. १०

(क्वस्वित् चरतः कितवस्य) एक ओर तो कहीं मारे २ फिरते हुए जुआरी की (जाया हीना तप्यते) स्त्री हीनावस्था को प्राप्त हुई दुःख भोगती है, (पुत्रस्य माता) और दूसरी ओर पुत्र की दुरवस्था को देख कर माता संतप्त होती है। (ऋणावा धनं इच्छमानः) फिर, वह ऋणी जुआरी धन की इच्छा से (नक्तं बि-

भ्यत् अन्येषां अस्तं) रात्रि के समय डरता हुआ अन्यों के घर में चोरी के लिये (उपैति) पहुंचता है।

कृषिप्रशंसा का मंत्र निम्न लिखित है—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया, तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥ १०.३४.१३

(कितव ! अक्षैः मा दीव्यः) द्यूत के निन्दित होने के कारण ऐ जूआ खेलने वाले ! तू जूआ मत खेल, (इत् कृषिं कृषस्व) परन्तु खेती कर। (बहु मन्यमानः वित्ते रमस्व) कृषिजन्य धन को बहुत मान कर उसी धन में आनन्दित रह। (तत्र गावः तत्र जाया) ऐ जुआरी ! उस कृषि में गवादि धन है और उसी में पतिव्रता स्त्री की प्राप्ति है तथा गृहस्थ सुखधाम बनता है। (तत् अयं सविता अर्यः) इस सत्य सिद्धान्त को इस सर्वप्रसिद्ध सकलजगदुत्पादक सर्वप्रेरक सर्व-स्वामी ने (मे विचष्टे) मुझे कहा है—ऐसा तू समझ।

उपर्युक्त मंत्र में एकवचनान्त 'जाया' के प्रयोग से प्रतिध्वनित होता है कि बहुविवाह अनुचित है।

इसप्रकार ऋषियों को अनेकविध अभिप्रायों से युक्त मंत्रों के दर्शन होते हैं। इस कथन से यह भी ध्वनित होता है कि यास्काचार्य को ऋषियों का मंत्रद्रष्टृत्व ही अभिप्रेत है, मंत्रकर्तृत्व नहीं, मंत्रकृत तो परमेश्वर है॥ ३॥

देवता-ज्ञान की विशेष विधि

देवता-ज्ञान की विधि बताते हुए यास्काचार्य 'मंत्र' के प्रसङ्ग में मंत्रों के तीन प्रकारों और वेदों के कुछ एक प्रतिपाद्य विषयों का उल्लेख कर गये। अब पुनः अपने प्रकृत विषय पर आते हैं—

तद्येऽनादिष्टदेवता मंत्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा।

त्रिकालस्थ सब पदार्थों और सत्यविद्याओं का द्योतन करने वाले मंत्र ही हैं, अतः उन्हें देवता कहा गया (१४ पृ०)। परन्तु, उन देवताओं के अनेक नाम हैं। अमुक मंत्र किस देवता वाला है— इस पर विचार करते हुए 'यत्काम ऋषिः' इत्यादि वाक्य मे निश्चय किया गया कि मंत्र में विशेष्य के तौर पर मुख्यतया जिस नाम से किसी तत्त्व का निरूपण किया गया हो, उसी नाम से उस मंत्र का देवता माना जाता है। जैसे, गायत्रीमंत्र में मुख्यतया 'सविता' नाम के द्वारा जगदुत्पादक प्रभु से प्रार्थना की गई, अतः उस मंत्र का देवता 'सविता' है।

परन्तु मंत्रों के देवता-ज्ञान की यह सामान्य विधि वहीं सफल हो सकती है जहां कि हमें उन मंत्रों का पूर्वापर बिना देखे या देखकर विशेष्य शब्द का परिज्ञान स्पष्टतया हो जाता हो। परन्तु ऐसे मंत्र और सूक्त अनेक पाये जाते हैं जहां कि पूर्वापर देखने पर भी कोई विशेष्यपद आदिष्ट प्रतीत नहीं होता, जैसे दानसूक्त, ज्ञानसूक्त, द्यूतसूक्त आदि। ऐसे मंत्रों का देवता--ज्ञान कैसे हो, अब इस पर विचार प्रारम्भ होता है।

यद्दैवतः सः यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिकाः। नाराशंसा इति नैरुक्ताः। अपि वा सा कामदेवता स्यात् प्रायोदेवता वा। अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यम् पितृदेवत्यम्। याज्ञदैवतो मंत्र इति।

अनादिष्टदेवताक मंत्रवर्ग जिस देवता वाला है, उसे सुनो—

[क] यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग उन मंत्रों के देवता होते हैं।

'यज' धातु के देवपूजा, संगतिकरण, और दान -ये तीन अर्थ हैं। अतः, यज्ञ भी तीन विभागों में विभक्त हैं।

(१) देवपूजा-इस में परमेश्वरपूजा तथा विद्वान् आदि मान्यों का सत्कार आता है। संध्या को ब्रह्मयज्ञ के नाम से पुकारा गया है, इस में परमेश्वरपूजा विहित है। पितृयज्ञ और अतिथियज्ञ में माता पिता आदि वृद्धों और विद्वानों का सत्कार करते हैं, अतः ये भी इसी देवपूजा-विभाग में शामिल हैं।

(२) संगतिकरण—इस में परमेश्वरकृत सृष्टिरचना, मनुष्यकृत शिल्पविद्या, राज्यप्रबन्ध, ज्ञान आदि आते हैं।

(३) और, तीसरा विभाग **दान** का है। इस में अग्निहोत्र (देवयज्ञ) से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सब याग, भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव) तथा इसीप्रकार अन्य परोपकारसंबन्धी कार्य आते हैं।

'यज्ञाङ्ग' वे कहलाते हैं जो इन तीनों प्रकार के यज्ञों के साधन हैं, जिन से कि वे यज्ञ सिद्ध होते हैं। जैसे कि शिल्पयज्ञ में अग्नि वायु विद्युत् आदि, और दान में अन्न वस्त्र आदि साधन हैं।

एवं, किसी विशेष्य पद के स्पष्टतया न पाये जाने पर मंत्रों के देवता-ज्ञान की पहली विधि यह हुई कि **उन मंत्रों में जिस यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग का**

वर्णन प्रतीत पड़े, वही यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग, उनका देवता होगा।

(ख) जहां किसी यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग का भी स्पष्टतया परिज्ञान न होता हो, वहां क्या किया जावे ? इसका उत्तर याज्ञिक लोग यह देते हैं कि वे मंत्र प्रजापति अर्थात् परमेश्वर देवताक हैं । नैरुक्त मानते हैं, वे मंत्र मनुष्य-देवताक हैं । और, सकाम लौकिक जन कहते हैं कि वे मंत्र कामना देवताक हैं ।

क्योंकि संपूर्ण वेद का मुख्य विषय परमेश्वर--विज्ञान है, अन्य सर्व विषयों का समन्वय अन्ततोगत्वा परब्रह्म सर्वशक्तिमान् सर्वोत्पादक परमात्मा में ही हो जाता है, अतः याज्ञिक कहते हैं कि उनका देवता 'प्रजापति' है ।

यतः, परमेश्वर ने चारों वेद मनुष्यों के हितार्थ ही बनाए हैं, अतः नैरुक्त मनुष्य-देवताक समझते हैं । वेदों की रचना मनुष्यों के हित के लिए हुई है अतः, उन में मनुष्यों की किसी कामना, इच्छा, वा प्रार्थना का ही वर्णन होगा, इस लिए सकाम अर्थात् लौकिकजन उन्हें कामदेवताक मानते हैं ।

(देवता वा प्रायः) इस प्रकार देवता-विकल्प का प्रायः करके (लोके बहुलं आचारः अस्ति हि) लोक में बहुत व्यवहार है ही। कहीं विद्वान् गुरु आचार्य आदि देवजनों के लिए देवता का व्यवहार है, कहीं अतिथि के लिए और कहीं माता पिता के लिये देवता का व्यवहार है। अर्थात्, इन्हें देवता माना जाता है। (याज्ञदैवतः मंत्रः) परन्तु कर्मकाण्ड में मुख्य देवता मंत्र या मंत्रकर्ता परमेश्वर ही है, अन्य नहीं । अर्थात्, कर्मकाण्ड में एक मात्र उपास्य देव सत्यविद्याओं का स्रोत वेद और परमेश्वर ही है, अन्य मूर्ति आदिक नहीं।

पितृदैवत्यम्—माता च पिता च पितरौ, पितरौ देवता अस्य वस्तुन इति पितृदैवत्यम् । यह वस्तु आचार्यदेव की है, यह वस्तु अतिथिदेव की है, और यह वस्तु पितृदेव की है—यह देवदैवत्यम् आदि तीनों पदों का शब्दार्थ है ।

याज्ञदैवतः—यज्ञे कर्मकाण्डे या देवता सा यज्ञदेवता, यज्ञदेवता एव याज्ञदैवतः ।

एकेश्वरपूजा

'याज्ञदैवतो मंत्रः' के प्रसङ्ग से आचार्य पूर्वपक्षी के आक्षेप की स्थापना करके एकेश्वरपूजा को, वेदोक्त सिद्ध करते हैं—

अपि ह्यदेवता देवतावत् स्तूयन्ते, यथाश्वप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि । अथाप्यष्टौ द्वन्द्वानि ।

अपि॰ प्रश्ने आक्षेपे वा

(१) स न मन्येतागन्तूनिवार्थान् देवतानाम्, प्रत्यक्षदृश्यमेतद्भवति, माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

(२) अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः।

(३) प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च। इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयः। कर्मजन्मानः। आत्मजन्मानः। आत्मैवैषां रथो भवति, आत्माश्वः, आत्मायुधम्, आत्मेषवः, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥४॥

नास्तिक समुदाय की ओर से यह आक्षेप उठता है कि वेदों में (अदेवताः) पूजा के अयोग्य द्रव्यों की (देवतावत्) पूज्य द्रव्य की तरह स्तुति की जाती है। जैसे, 'अश्व' से लेकर 'ओषधि' पर्यन्त द्रव्य (९ अ० १–२२ ख०) और 'उलूखलमुसले' आदि आठ जोड़े (९ अ० २९–३६ ख०)।

उत्तर—यह नास्तिकवर्ग इन देवताओं के आगन्तुक से, नवीन से, अर्थ मत समझे, क्योंकि वेद द्वारा ही यह प्रत्यक्षतया देखा जा सकता है कि (एकः आत्मा) एक ही सर्वव्यापक परमात्मा मुख्य देव है, (देवतायाः माहाभाग्यात्) परन्तु उस एक परमात्मदेव के सर्वशक्तिमत्त्वादि अनेकविध ऐश्वर्यों के होने से, (बहुधा स्तूयते) वही वेदों में अनेक नामों से पूजित किया जाता है। (अन्ये देवाः) अन्य सब देव (एकस्य आत्मनः) एक परमात्मा के (प्रत्यङ्गानि भवन्ति) सामर्थ्यैकदेश में प्रकाशित होते हैं।

अङ्गं अङ्गं प्रत्यञ्चन्तीति प्रत्यङ्गानि। अर्थात्, अन्य सब देव इस महादेव के एक अङ्ग में ही आजाते हैं।

एक ही परमात्मदेव, अनेक गुणों के कारण अनेक नामों से वेदों में बखाना जाता है—इस की पुष्टि के लिए ७ अ० १८ ख० में 'इन्द्रं मित्रं वरुणं' आदि मंत्र देखिए। और, इसी प्रकार 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः' यह यजुर्वेद–मंत्र (३२.१) उसी की पुष्टि कर रहा है।

(२) किञ्च, (सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिः) अश्वादि द्रव्यों के कारणबाहुल्यों से, अर्थात् द्रव्यों की कारणपरम्परा के विचार से एक आत्मा की अनेक नामों से (ऋषयः स्तुवन्ति) वेद स्तुति करते हैं—(इति आहुः) ऐसा दूसरे विचारक कहते हैं।

इस का अभिप्राय यह है कि यदि हम किसी भी द्रव्य के कारणों की पड़-ताल करें तो कारण का अन्वेषण करते २ अन्त में मुख्य आदिकारण परमेश्वर पर पहुंच कर ठहर जाते हैं। अतः, पता लगा कि परमात्मा ही एक मुख्य निमित्तकारण है। जैसे, हम किसी के कार्य की प्रशंसा करें तो वह वास्तव में कर्ता की ही स्तुति मानी जाती है, कार्य की नहीं। इसी प्रकार यदि कहीं पूजा का भाव है, तो उसके कर्ता परमेश्वर की ही पूजा की जावेगी, किसी अन्य पदार्थ की नही।

यहां पर 'स्तुवन्ति' के प्रयोग से विभक्ति-व्यत्यय करके 'एकं आत्मानं बहुधा' की अनुवृत्ति है।

(३) (प्रकृतिसार्वनाम्याच्च) और आदिकारण परमेश्वर की सर्वत्र मति होने से, अर्थात् उसकी सर्वव्यापकता के कारण, (एकः आत्मा बहुधा स्तूयते) वह एक आत्मा अनेक नामों से पूजित किया जाता है। अन्य एक दूसरे के कारण एक दूसरे से पैदा होने वाले हैं। जैसे, यदि पिता अपने पुत्र का कारण है तो वह पिता भी अपने पिता से पैदा हुआ है। एवं, संपूर्ण कार्यजगत् के सब पदार्थ यदि किसी दूसरे के कारण हैं, तो वे स्वयं भी किसी अन्य के कार्य हैं। परन्तु परमेश्वर ऐसा है कि जिस का अन्य कोई कारण नही। वह सब का आदिकारण है और सदा एकरस रहने वाला है। प्रकृति और जीव भी यद्यपि आदिकारण हैं, परन्तु वे एकरस नही रहते, उन के स्वरूप समय २ पर बदलते रहते हैं। अतः, परमेश्वर ही एक मुख्य आदिकारण है, जो सर्वत्र सर्वदा समानभाव से व्यापक रहता है। अतः, उसकी सर्वव्यापकता से वह अनेक नामों का भागी बन ही सकता है।

(४) ये सब पदार्थ किसी न किसी (कर्म=अर्थ) प्रयोजन के लिये पैदा हुए हैं। इन में से कोई भी निष्प्रयोजन नहीं, अतः ये कर्मजन्मा हैं। और, ये परमात्मा के सामर्थ्य से पैदा हुए हैं, अतः आत्मजन्मा हैं। इन का रथ अर्थात् रमणस्थान परमात्मा ही है, जहां कि ये विहरण करते हैं। इन का अश्व—गमनहेतु—परमात्मा है। इन का आयुध—विजयप्रापक—परमात्मा है। इन के इषु—दुःखनाशक—परमात्मा हैं। एवं, प्रत्येक देव का सर्वस्व परमात्मा ही है। अर्थात्, अश्व रथ आदि सब देवता परमेश्वरवाची हैं ॥ ४ ॥

* द्वितीय पाद *

देवता-विभाग

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रोवाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वाद्‌ यथा होताऽध्वर्युब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः।

अपिवा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति, तथाभिधानानि। यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति, बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः।

तत्र संस्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं चोपेक्षितव्यम्। यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वम्। सम्भोगैकत्वं च दृश्यते, यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च संभोगः अग्निना चेतरस्य लोकस्य। तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव ॥ १ । ५ ॥

मुख्यतया पूज्य देव एक ही परमात्मदेव है उस पर विचार हो चुका। अब व्यवहारोपयोगी देवताओं को लक्ष्य में रख कर उन पर विचार प्रारम्भ किया जाता है—

निरुक्तकार कहते हैं कि तीन ही देवता हैं। (१) अग्नि देवता पृथिवी स्थानीय (२) वायु अथवा इन्द्र (विद्युत्) देवता अन्तरिक्षस्थानीय (३) और सूर्यदेवता द्युलोकस्थानीय है। और फिर, इन तीनों देवताओं के अनेकविध गुणों के होने से, उस एक एक देवता के अनेक नाम हैं। तथा कर्मों के पृथक् पृथक् होने से भी उस एक २ देवता के अनेक नाम हैं, जैसे एक ही मनुष्य के होते हुए उसके होता अध्वर्यु ब्रह्मा उद्गाता— ये चार नाम पड़ जाते हैं। अर्थात्, किसी यज्ञ में यज्ञ कराने वाला यद्यपि एक ही ऋत्विज् होता है, परन्तु चूंकि वह चारों ऋत्विजों के कर्म करता है अतः उसके भिन्न २ चार नाम पड़ गये। इसी प्रकार अग्नि आदि तीनों देवताओं के कर्म-भेद से भिन्न २ अनेक नाम हैं।

याज्ञिकलोग कहते हैं कि सब देवता पृथक् २ ही हैं, क्योंकि उनको

स्तुतियें भिन्न २ प्रकार की हैं, और उसी प्रकार उनके पृथक् २ नाम हैं। नैरुक्तों ने दृष्टान्त देते हुए जो यह सिद्ध किया था कि कर्म की पृथक्ता से नाम भिन्न हैं, वास्तव में भेद नहीं—यह दृष्टान्त अपूर्ण है, क्योंकि अनेक भी मनुष्य बांटकर अनेक कर्म करते हैं।

उपर्युक्त तीनों पक्षों (एकदेव, त्रिदेव, बहुदेव) में कोई विशेष भेद नहीं, इसको यास्काचार्य दर्शाते हुए कहते हैं कि वहां मतभेद में उन देवताओं में समान स्थान से एकता, और समान भोग से एकता समझनी चाहिए। जैसे, पृथिवी में मनुष्य, पशु, अग्नि आदि स्थान की एकता से एक गिने जा सकते हैं। एवं, समान भोग से भी एकता देखी जाती है। जैसे, पृथिवी, [illegible] वायु और आदित्य के साथ संभोग है, (१५० पृ०) और इतरलोक अर्थात् अन्तरिक्ष का पार्थिव अग्नि तथा आदित्य अग्नि के साथ संभोग है, (७.२३ ख०) अतः ये तीनों लोक संभोग की एकता से एक देव समझे जासकते हैं। वहां—भेदाभेद में—यह अनेकत्व या एकत्व मनुष्यों के राष्ट्र की तरह है। राष्ट्र में रंग, रूप, जाति, धर्म, भाषा आदि के कारण अनेक प्रकार के मनुष्यों के होने पर भी उन सब में एक राष्ट्रीयत्व होता है। और, यदि रूप रंग जात्यादि के कारण पृथक् २ भागों में उस राष्ट्र को विभक्त करदें तो उन में भेद आजाता है। उसी प्रकार यहां समझना चाहिए। अर्थात्, यदि हम ब्रह्म–राष्ट्र की दृष्टि से देखें तो एक ही देव परमात्मदेव है। यदि उस राष्ट्र को स्थानभेद से बांट कर देखें तो त्रिलोकी के कारण तीन देव हैं। और यदि राष्ट्र का, पृथक् २ बिखरे हुए रूप में दर्शन करें तो अनेक देव हैं। एवं ये, विद्वानों के भिन्न २ दृष्टि से विभाग करने के भिन्न २ तरीके हैं, वास्तव में उन विद्वानों के मतों में कोई भेद नहीं।

देवतावाद के इन भिन्न २ तरीकों को शतपथ के १४ का० ५ अ० ९ ब्रा० में आये शाकल्य–याज्ञवल्क्य–संवाद से मिलाइए। वहां क्रमशः अनन्तदेव, तैंतीस देव छै देव, त्रिदेव, द्विदेव, अध्यर्धदेव तथा एकदेव का वर्णन किया गया है॥ ११५॥

देवतास्वरूप–चिन्तन
प्रथम पूर्वपक्ष।

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्।

पुरुषविधाः स्युरित्येकम्—

(क) चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति, तथाभिधानानि।

(ख) अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते—'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू' 'यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते'।

(ग) अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः—'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि' 'कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते'।

(घ) अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः—'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य' 'आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्' ॥ २ । ६ ॥

अब देवताओं के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

इस विषय में एक मत यह है कि ये देवता पुरुषवत् शरीरधारी और चेतन हैं। इस में वे लोग ४ हेतु देते हैं

(क) पहला हेतु यह है कि वेद में इन देवताओं की स्तुतियें चेतनावानों की तरह पायी जाती हैं और वैसे ही उन देवताओं के पारस्परिक संभाषण हैं। जैसे कि ऋ० १०.१० के यमयमी–सूक्त में संभाषण पाया जाता है। (देखिए परिशिष्ट)।

(ख) किञ्च, इन देवताओं की पुरुषसदृश अङ्गों के साथ स्तुति की जाती है, जैसे कि निम्नलिखित दो मन्त्रों में देखिए—

उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान्त्स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।
ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥६.४७.८

देवता—इन्द्रः। (इन्द्र! विद्वान् नः) हे राजन्! ज्ञानवान् होते हुए आप हमारे लिये (उरुं लोकं) महान् अभ्युदय को (स्वर्वत् ज्योतिः) निःश्रेयस को देने वाले ज्ञान–प्रकाश को, (अभयं स्वस्ति) और अभयरूपी कल्याण को (अनुनेषि) पहुंचाओ। (स्थविरस्य ते) राजन्! ज्ञानवयोवृद्ध आप की (ऋष्वा, शरणा) दर्शनीय, आश्रय देने वाली, (बृहन्ता बाहू उपस्थेयाम) और लम्बायमान बाहुओं को हम प्राप्त करें।

'उताभये……यत्संगृभ्णाः' आदि मंत्र की व्याख्या ३७५पृ० पर देखिए।

इन में क्रमशः बाहुओं तथा मुष्टि का वर्णन है जो कि मनुष्याङ्ग हैं अतः, ये देवता पुरुषविध हैं।

(ग) किञ्च, इन देवताओं की पुरुषसंबन्धी द्रव्य–संबन्धों से स्तुति की जाती है। इसकी पुष्टि के लिये अधोलिखित दो मंत्र दिये गये हैं—

आ द्वाभ्यांमिन्द्र याह्याचतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः ।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥ २.१८.४

देवता—इन्द्रः (इन्द्र अयं सुतः) हे राजन् ! मैंने यह यज्ञ रचाया है। (हूयमानः) निमंत्रित किए हुए आप (सोमपेयं) ऐश्वर्य के पान कराने वाले उस यज्ञ में (द्वाभ्यां हरिभ्यां आयाहि) दो घोड़ों की शक्ति से युक्त यान के द्वारा आइए। (चतुर्भिः आ) चार घोड़ों की शक्ति वाले यान से आइए। (षड्भिः आ, अष्टाभिः दशभिः आ) छैः आठ या दश घोड़ों की शक्ति रखने वाले यान पर सवार होकर आइए। (सुमख ! मृधः मा कः) हे उत्तम यज्ञों के करने वाले ! यज्ञ का तिरस्कार मत कीजिए।

अगले दो मंत्रों में २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९० और १०० घोड़ों पर सवार होकर आने की चर्चा है। अतः, यहां पर १०० घोड़ों तक की शक्ति रखने वाले यन्त्रयान ही अभिप्रेत हैं।

मृधस्—इस का अर्थ आपटे महाशय Disregard करते हुए लिखते हैं कि यह वेद में प्रयुक्त है।

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते ।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत्॥३.५३.६

देवता—इन्द्रः । (इन्द्र ! यत्र बृहतः रथस्य वाजिनः) शत्रुमर्दन राजन् ! यहां विशाल यान के वेगवान् यंत्राश्व का (दक्षिणावत्) सप्रयोजन (निधानं विमोचनं) नियोजन और विमोचन होता है, उस यान में बैठकर, (ते गृहे कल्याणीः जाया) गृहस्थ में जो आपकी कल्याणकारिणी जाया है, उसके साथ (अस्तं प्रयाहि) दूर देश को जाइए, (सोमं अपाः) उसके साथ उत्तम रस का पान कीजिए, (सुरणं) और उसी के साथ संग्राम में जाइए।

एवं, यहां राजा और राणी को इकट्ठे ही दूर देश में जाने का, इकट्ठे ही उत्तम पदार्थों के सेवन करने का, और इकट्ठे ही रणस्थली में जाने का विधान है। अतएव मनु ने भी यही आदेश किया है कि पति पत्नी को सदा इकट्ठे ही देशान्तर में जाना चाहिए, एकाकी नहीं। और पाणिग्रहण के प्रतिज्ञामंत्र 'न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये' (अथर्व० १४. १. ५७) में स्त्रीपुरुष प्रतिज्ञा करते हैं कि हम एकाकी कभी किसी वस्तु का भोग न करेंगे।

'दक्षिणावत्' का अर्थ सायण ने 'प्रयोजनवत्' किया है। पता लगता है कि 'दक्षिणा' के दक्षिण दिशा और न्याय्य, ये दोनों अर्थ हैं। अतएव अंग्रेजी भाषा में भी दक्षिणा के पर्यायवाची Right का, उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रयोग होता है। अस्तु—देखिए २५४ पृ० पर 'अस्ततरोऽस्मात्'।

एवं, उपर्युक्त मंत्रों में अश्व और जाया का वर्णन है। इन द्रव्यों का संबन्ध पुरुषों के साथ होता है, अतः ये देवता पुरुषविध हैं।

(घ) किञ्च, इन देवताओं की पुरुषसंबन्धी कर्मों के साथ स्तुति की जाती है। इसकी सिद्धि के लिये ये दो मंत्र दिये गये हैं—

इदं हविर्मघवन्तुभ्यं रातं प्रति सम्राळहृणानो गृभाय।
तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यं पक्वोऽद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य॥ १०. ११६. ७

देवता—इन्द्रः। (मघवन् ! इदं हविः तुभ्यं रातम्) हे ऐश्वर्यवान् राजन् ! यह हवि आपको दी गई है, (सम्राट् अहृणानः प्रतिगृभाय) सम्राट् ! प्रसन्नता पूर्वक इसे स्वीकार कीजिए। (मघवन् ! तुभ्यं सुतः तुभ्यं पक्वः) मघवन् ! यह उत्तम रस आपके लिये बनाया गया है, और यह उत्तम भोज्य पदार्थ आपके लिये पकाया गया है, (इन्द्रः प्रस्थितस्य अद्धि पिब च) राजन् ! इस उपस्थित भोजन को खाइए और इस उपस्थित रस का पान कीजिए।

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नूचिद्दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्॥ १. १०. ६

देवता—इन्द्रः। (आश्रुत्कर्ण) प्रार्थी के वचनों को भली प्रकार सुनने वाले कानों से युक्त विद्वान् ! (हवं श्रुधि) मेरी प्रार्थना को सुनिए, (नूचित् मे गिरः दधिष्व) और शीघ्र मेरे वचनों को धारण कीजिए—अपनाइए। (इन्द्र इमं स्तोमं) हे विद्यावान् ब्राह्मण ! मेरी इस वाणी को सुन कर और धारण करके (युजः चित्) अपने प्यारे संबन्धी की तरह (मम अन्तरं कृष्व) मेरा अन्तःकरण पवित्र कीजिए।

युग्=संयोगी। 'कृ' धातु निर्मलीकरणार्थक महाभाष्य (६. १. ९) में पठित है। पहला 'चित्' पूजार्थक है, और दूसरा उपमार्थक।

इन मंत्रों में खाने, पीने और सुनने का वर्णन है जो कि चेतनावानों में ही होता है, अतः ये देवता पुरुषविध हैं।

एवं, प्रथम पूर्वपक्षी का यह अभिप्राय है कि जैसे इन मंत्रों में पुरुषविध देवता पाये जाते हैं, इसी प्रकार अन्य वेदमंत्रों में भी हैं। इस लिये वेदों में देवताओं का स्वरूप पुरुषविध है, अर्थात् वे मनुष्यजातीय और चेतन हैं। आजकल इस पक्ष का पोषक पौराणिक संप्रदाय है॥ २। ६॥
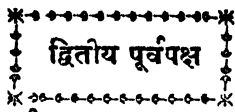
द्वितीय पूर्वपक्ष

अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम् । अपितु यद् दृश्यते, अपुरुषविधं तद्, यथाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति ।

(क) यथो एतच्चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्तीति, अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाऽक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि ।

(ख) यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इति, अचेतनेष्वप्येतद्भवति—'अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः' इति ग्रावस्तुतिः ।

(ग) यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव । 'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' इति नदीस्तुतिः ।

(घ) यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येतदपि तादृशमेव । 'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत' इति ग्रावस्तुतिरेव ।

दूसरा मत यह है कि ये देवता जड़ हैं, चेतन नहीं क्योंकि इन का स्वरूप जो प्रत्यक्षतया दृष्टिगोचर हो रहा है, वह अपुरुषविध ही है, जैसे आग वायु सूर्य पृथिवी चन्द्रमा आदि । प्रत्यक्ष वस्तु का कभी अपलाप नहीं होसकता, अतः ये देवता जड़ ही हैं ।

(क) जो यह कहा कि चेतनावानों की तरह इन की स्तुतियें पायी जाती हैं, अतः ये देवता चेतन हैं । यह ठीक नहीं, क्योंकि 'अक्ष' से लेकर 'ओषधि' पर्यन्त सब जड़ द्रव्यों की स्तुतियें भी इसी तरह पायी जाती हैं ।

९ अ० ४–२२ ख० में आए 'वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा' 'बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रः' 'इमं मे गङ्गे यमुने……स्तोमं सचत' आदि में रथ इषुधि (तुणीर) और नदी आदि का वर्णन चेतनावानों की तरह ही है । जड़ पदार्थों के ऐसे वर्णन रूपकालङ्कार में आया ही करते हैं । अतः, इस पहले हेतु से देवताओं की चेतनता सिद्ध नहीं होसकती ।

(ख) जो यह कहा कि पुरुषसदृश अंगों से स्तुति की जाती है, अतः ये देवता चेतन हैं, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जड़ पदार्थों में भी ऐसा होता है ।

जैसे कि निम्नलिखित मंत्र रूपकालङ्कार में शिलाओं के मुखों का वर्णन कर रहा है—

एते वदन्ति शतवत्सहस्रवदभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।
विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत ॥ १०.९४.२

देवता—ग्रावाणः। जब यज्ञादिक के लिये शिलाओं पर सोमादि पदार्थों को पीसा जाता है, उस समय का यह वर्णन है—

(एते ग्रावाणः शतवत् सहस्रवत् वदन्ति) शिला पर किसी पदार्थ को पीसते समय बारबार अनेक प्रकार की ध्वनियें निकलती हैं, उनको लक्ष्य में रख कर कवि कहता है कि मानो ये शिलायें सैंकड़ों और हजारों प्रकार के वचन बोल रही हैं। (हरितेभिः आसभिः अभिक्रन्दन्ति) और फिर, उन हरे सोमादि पदार्थों के पीसने से शिला का पृष्ठ हरिद्वर्ण का हो जाता है, उस पर कवि कहता है कि मानो ये शिलायें अपने उन हरे मुखों से सोमपाताओं को सोमपान के लिए बुला रही हैं। (सुकृत्यया सुकृतः विष्ट्वी होतुः चित् पूर्वे अद्यं हविः आशत) और, सोमादि के पीसने का सुकर्म करने से, ये सुकर्मा शिलायें, अपने कर्म को करके मानो कि यज्ञकर्ता से पूर्व स्वयं भक्ष्य हवि का भक्षण कर रही हैं।

(ग) जो यह कहा कि पुरुषसंबन्धी द्रव्यों के संबन्ध से स्तुति की जाती है, अतः ये देवता चेतन हैं, यह वर्णन भी उसी तरह रूपकालङ्कार में समझिए। जैसे कि निम्न मंत्र में रूपकभाव से नदी का वर्णन है—

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः ॥ १०.७५.९

(सिन्धुः अश्विनं सुखं रथं युयुजे) नदीरूपी अश्व बड़ी शीघ्रता से खींचे जाने वाले सुखकारी जल-रथ को अपने में जोड़े हुए है। (तेन अस्मिन् आजौ वाजं सनिषत्) वह नदरूपी अश्व उस जल-रथ के योग से इस संसार रूपी संग्राम स्थली में अन्नादिक का लाभ कराता है। (अदब्धस्य) एवं, न सूखने वाले, (स्वयशसः) अपने यश से युक्त, (विरप्शिनः अस्य) और बड़े वेग से दौड़ने पर जैसे अश्व-संयुक्त रथ शब्द करता है, एवं कोलाहल करने वाले इस सिन्धु-जल की (महान् महिमा पनस्यते) महान् महिमा बखानी जाती है।

एवं, इस मंत्र में, नदियों के द्वारा जल खींचते हुए अन्नादिकों के पैदा करने का आदेश किया गया है।

(घ) जो यह कहा कि पुरुषसंबन्धी कर्मों से स्तुति के किये जाने से, ये देवता चेतन हैं, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहां भी उसी तरह रूपकालङ्कार में वर्णन है। जैसे कि 'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत' यहां पर 'आशत' क्रिया रूपकरूप में शिक्षा के लिए ही प्रयुक्त है। मंत्र का पूर्ण अर्थ अभी पीछे कर चुके हैं।

तृतीय पूर्वपक्ष

अपिवोभयविधाः स्युः।

तीसरा पक्ष यह है कि पुरुषविध अपुरुषविध, दोनों ही स्वरूपों वाले देवता हैं, क्योंकि दोनों प्रकार के देवताओं का वर्णन पाया जाता है। परमात्मा तथा मनुष्यों से संबन्ध रखने वाले देवता पुरुषविध हैं, और प्रकृति या पशुओं से संबन्ध रखने वाले अपुरुषविध।

सिद्धान्तपक्ष

अपिवा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मानः एते स्युः, यथा यज्ञो यजमानस्य। एष चाख्यानसमयः ॥ ३ । ७ ॥

चौथा पक्ष यह है कि जो कोई भी अपुरुषविध देवता हैं, वे पुरुषजातीय सत्यस्वरूपों, अर्थात् परमात्मा और सात्विक वृत्ति वाले स्त्री पुरुषों के ही प्रयोजनात्मक हैं, अर्थात् वे उन के प्रयोजन के लिये ही रचे गये हैं और उन के ही अधिष्ठातृत्व में उन की स्थिति है, जैसे कि यजमान का यज्ञ। कई मंत्रों का 'यज्ञ' भी एक देवता है। यह यज्ञ देवता यजमान के सुखलाभ के ही रचा गया है। बिना यजमान के यज्ञ की स्थिति नहीं।

तीसरे और और चौथे पक्ष में केवल इतना ही भेद है कि तीसरा पक्ष पुरुषविध अपुरुषविध, दोनों प्रकार के देवताओं को स्वतंत्र रूप में मानता है। परन्तु चौथा पक्ष दोनों को स्वतंत्र नहीं मानता, अपितु अपुरुषविध देवताओं को पुरुषविध देवताओं के आधीन समझता है। (एष च आख्यानसमयः) और यही उत्तरपक्ष नैरुक्तों का सिद्धान्तपक्ष है, अन्य सब पूर्वपक्ष ही समझने चाहियें।

अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः (८. २. १०५) इस सूत्र में पाणिनि आचार्य ने 'आख्यान' शब्द 'उत्तर' अर्थ में प्रयुक्त किया है। पूर्वपक्ष एक तरह से प्रश्न के रूप में है, और उत्तरपक्ष उत्तर के रूप में, अतः 'आख्यानसमयः' में 'आख्यान' को उत्तरपक्ष मान कर अर्थ करना उचित जान पड़ता है ॥३।७॥

* तृतीय पाद *

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्, तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः।

देवता तीन ही हैं, ऐसा पहले कहा है। अब उनकी भक्ति और साहचर्य का निरूपण करेंगे। अर्थात्, वे तीन देवता अन्य किन २ वस्तु के भागी हैं—कौन से पदार्थ उन से संबन्ध रखते हैं, कौन से देवता उनके अन्तर्गत समझे जाते हैं या किन २ देवताओं के वे प्रतिनिधि स्वरूप हैं, तथा उनके कौन से कर्म हैं—और किन देवताओं के साथ उनकी एक ही मंत्र में समानरूप से स्तुति पायी जाती है, इस की व्याख्या की जाती है।

अग्नि-भागी पदार्थ

अथैतान्यग्निभक्तीनि—अयं लोकः, प्रातःसवनं, वसन्तः, गायत्री, त्रिवृत्स्तोमः, रथन्तरं साम, ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने, अग्नायी पृथिवीळेति स्त्रियः। अथास्य कर्म—वहनं च हविषाम्, आवाहनं च देवतानाम्, यच्च किंचिद् दार्ष्टिविषयिकमग्निकर्मैव तत् ॥१।८॥

ये अग्नि के भागी हैं—पृथिवीलोक, प्रातःसवन (प्रातःकालीन यज्ञ) वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, त्रिवृत् नामक स्तोम, रथन्तर नामक साम, और जो प्रथमस्थान में (निघण्टु ५ अ० १-३ ख०) 'जातवेदाः' से लेकर 'देवी ऊर्जाहुती' तक देवसमुदाय पढ़ा गया है, वह, तथा उसी देवसमुदाय में पठित अग्नायी पृथिवी और इडा, ये स्त्रियें।

इस का अभिप्राय यह है कि वेदों में पृथिवीलोक, प्रातःसवन और वसन्त-ऋतु का वर्णन आग्नेय प्रकरण में आता है। अग्निदेवताक मंत्रों का छन्द गायत्री होगा। त्रिवृत् स्तोम और रथन्तर साम अग्निदेवताक मंत्रों के होंगे। 'जातवेदस्' से लेकर 'देवी ऊर्जाहुती' तक जो ५१ देवता परिगणित हैं, उन सब का प्रतिनिधि 'अग्नि' देवता है। और उसी देवसमुदाय में जो अग्नायी (निघण्टु ५. ३. २८) पृथिवी (५. ३. २९) और इडा स्त्रियें हैं, वे भी अग्नि के ही अन्तर्गत हैं।

'स्तोम' सामवेदीय मंत्रों के उच्चारण-भेद से रचना-विशेष हैं। ये स्तोम त्रिवृत्, एकविंश, पञ्चदश, त्रिणव, सप्तदश और त्रयस्त्रिंश नाम वाले ६ हैं। इन स्तोमों के रचना-प्रकार सामवेदीय ताण्ड्यब्राह्मण के ३, ४, ५, अध्यायों में विस्तार से वर्णित हैं।

'साम' सामवेदीय मंत्रों के गानभेद हैं। ये साम भी रथन्तर, वैराज, बृहत्, शाक्वर, वैरूप, और रैवत नाम वाले ६ ही हैं। इन्हीं सामों को 'पृष्ठ' के नाम से भी पुकारा जाता है। जैसे कि बृहच्च वा इदमग्ने रथन्तरञ्चास्ताम्......षट् पृष्ठान्यगातम् (ऐ० ब्रा० ४. ४. ६) में वर्णित है।

प्रथमस्थानीय देवसमुदाय में 'अग्नायी' आदि स्त्रियों का भी उल्लेख है ही, फिर जो उनका पृथक् निर्देश किया है, उसका विशेष अभिप्राय है। वह अभिप्राय यह है कि प्रथमस्थान में उषा, अरण्यानी, नद्यः, आपः आदि अन्य अनेक स्त्रीलिङ्गों के होते हुए जो उपर्युक्त तीनों का ही निर्देश किया है, उससे ज्ञात होता है कि यास्काचार्य को इन तीनों का अर्थ मनुष्यजातीय स्त्री भी अभीष्ट है। इसी तरह अन्तरिक्षस्थान और द्युस्थान में समझिए।

'इडा' 'तिस्रो देवीः' (८ अ० १० खं० आप्रीदेवता) में की तीन देवियों में से एक है।

इस अग्नि के कर्म ये हैं—हवियों का ले जाना, दिव्य पदार्थों का प्राप्त कराना, और जो कुछ दृष्टि-विषयक प्रकाश-प्रदान आदि कर्म हैं, वे अग्नि के ही कर्म हैं॥ १।८॥

अग्नि-सहचारी देव

अथास्य संस्तविका देवाः—इन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतवः। आग्नावैष्णवं हविः, नत्वृक् संस्तविकी दशतयीषु विद्यते। अथाप्याग्नापौष्णं हविः, नतु संस्तवः। तत्रैतां विभक्तिस्तुतिमृचमुदाहरन्ति—

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः। स त्वैतेभ्यः परिददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ १०.१७.३

पूषा त्वेतः प्रच्यावयतु विद्वान्, अनष्टपशुः, भुवनस्य गोपा इति। एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिताऽऽदित्यः। 'स त्वैतेभ्यः परिददत्पितृभ्यः' इति सांशयिकस्तृतीयः पादः। पूषा पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्, अग्निरुपरिष्टात्तस्य प्रकीर्तनेत्यपरम्।

'अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः' सुविदत्रं धनं भवति। विन्दतेर्वै-कोपसर्गाद्, ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात् ॥ २ । ६ ॥

अग्नि के सहचारी देवता ये हैं, जिनको इस के साथ समानभाव से स्तुति की जाती है— इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, और ऋतु। उदाहरण के तौर इन में से प्रत्येक की एक २ मंत्र-प्रतीक दी जाती है—

(१) ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी १.२१.५

(२) अग्नीषोमाविमं सु मे १.९३.१

(३) त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो ४.१.४

(४) अग्नीपर्जन्यावक्तं धियं मे ६.५२.१६

(५) अग्ने देवां इहावह········पिब ऋतुना १.१५.४

अग्नि और विष्णु, इन दोनों देवताओं को सम्मिलित हवि तो दी जाती है, परन्तु समानभाव से स्तवन करने वाली एक भी ऋचा ऋग्वेद में नहीं।

दशसु मण्डलेषु तायते इति दशतयः ऋग्वेदः। दशतयीषु=ऋग्वेदीयासु ऋक्षु=ऋग्वेदे।

एवं, अग्नि और पूषा, इन देवताओं की भी सम्मिलित हवि तो है, परन्तु समानभाव से स्तवन करने वाली एक भी ऋचा ऋग्वेद में नहीं। अपितु इनकी विभिन्न स्तुति 'पूषा त्वेतः' आदि ऋचा में पायी जाती है, जिसे कि उदाहरण के तौर आचार्य लोग प्रस्तुत करते हैं। इस ऋचा का विनियोग अन्त्येष्टि संस्कार में है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः पूषा) हे मृत मनुष्य ! निरन्तर प्रकाशयुक्त और प्राणिमात्र का पोषक आदित्य (विद्वान् त्वा इतः प्रच्यावयतु) जानने वाला सा होकर अपनी रश्मियों के द्वारा तेरी आत्मा को इस पृथिवीलोक से प्रकृष्ट मार्ग की ओर लेजावे। (सः अग्निः) और वह अग्रणी परमेश्वर (त्वा-एतेभ्यः पितृभ्यः) तुझे इन पितरों को (सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः) और योगैश्वर्य युक्त देवजनों को (परिददत्) प्रदान करे, अर्थात् तेरी आत्मा को पितृलोक या देवलोक में स्थापित करे।

पितृलोक उस लोक का नाम है, जहां कि अभ्युदय-संबन्धी शुभकर्मों को करने वाले आत्मा विचरते हैं, और फिर शीघ्र ही मनुष्य जाति में जन्म ग्रहण करते हैं। देवलोक मुक्तिधाम का नाम है। तीसरे प्रकार की योनि का नाम तिर्यक्योनि है, जिस में पशु पक्षि आदिकों का शरीर प्राप्त होता है। एवं, प्रस्तुत मंत्र में पितृलोक या देवलोक की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है।

'स त्वैतेभ्यः परिददत्पितृभ्यः' यह मंत्र का तीसरा पाद संशययुक्त है। कई इसकी व्याख्या पूर्वोक्त 'पूषा' के साथ करते हैं, और कई अपरोक्त 'अग्नि' के साथ। द्वितीय मत का अर्थ तो उल्लिखित हो चुका है, उसी प्रकार पहले मत के अनुसार भी अर्थ किया जासकता है। इन दोनों मतों के हेतु पर्याप्त बल रखते हैं। तीसरे पाद में जो 'सः' पद आया है, वह पूर्वोक्त 'पूषा' का ही निर्देश करता है—यह तो प्रथम मत का हेतु है। और, दूसरे मत का हेतु यह है कि 'अग्नि' देवता बड़ा प्रसिद्ध देवता है, अतः उसके लिए 'सः' पद का प्रयोग उपयुक्त है। मेरी सम्मति में यह अन्तिम पक्ष अच्छा है, क्योंकि इससे अर्थ अधिक संगत जान पड़ता है।

सुविदत्र=धन। (क) सुष्ठु विन्दन्ति लभन्ते यत् तत् सुविदत्रम्, सु+विद्+कत्रन् (उणा०३.१०८) इस प्रकार एक उपसर्ग पूर्वक 'विद्' धातु से इसकी सिद्धि हुई है। (ख) अथवा दा धातु से पूर्व 'सु वि' इन दो उपसर्गों को लगाने से भी निष्पन्न होता है। सुष्ठु विविधतया दीयते इति सुविदत्रम्। जिसे धर्मपूर्वक सन्मार्ग से उपलब्ध किया जावे, और जिसका साधुभावेन अनेकप्रकार से दान दिया जाये, वह धन 'सुविदत्र' कहलाता है॥ २। ९॥

इन्द्र का भक्ति, साहचर्य

अथैतानीन्द्रभक्तीनि—अन्तरिक्षलोकः, माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्मः, त्रिष्टुप्, पञ्चदशस्तोमः, बृहत्साम, ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने, याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म—रसानुप्रदानं, वृत्रवधः, या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्।

अथास्य संस्तविका देवाः—अग्निः, सोमः, वरुणः, पूषा, बृहस्पति· ब्रह्मणस्पतिः, पर्वतः, कुत्सः, विष्णुः, वायुः। अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते, पूष्णा रुद्रेण च सोमः, अग्निना च पूषा, वातेन च पर्जन्यः॥ ३। १०॥

इन्द्र के भागी ये हैं—अन्तरिक्षलोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदश स्तोम, बृहत् साम, जो अन्तरिक्षस्थानीय 'वायु' से लेकर 'रोदसी' तक (निघण्टु ५ अ० ४, ५ खण्ड) ६७ देव पठित हैं, वे, और उसी देवसमुदाय में पठित राका अनुमति इन्द्राणी आदि स्त्रियें। इसके कर्म ये हैं—वृष्टिरस का देना, मेघादि वृत्र का वध, तथा अन्य जो कोई भी बलकर्म है, वह सब इन्द्र का कर्म है।

इन्द्र-सहचारी देवता ये हैं—अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु। प्रत्येक की एक २ मंत्र-प्रतीक यह है—

(१) यदिन्द्राग्नी जना इमे ३०७पृ०
(२) इन्द्रासोमा समघशंसम् ४०१पृ०
(३) इन्द्रावरुणा युवमध्वराय ३०८पृ०
(४) इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय ६.५७.१
(५) इदं वामास्ये हविः प्रियमिन्द्राबृहस्पती ४.६६.१
(६) विश्वं सत्यं······अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती २.२४.१२
(७) इन्द्रापर्वता बृहता रथेन ३.५३.१
(८) इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेन ५.३१.६
(९) इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य ७.६६.५
(१०) इन्द्रवायू इमे सुताः १.२.४

अब 'इन्द्र' से भिन्न मध्यमस्थानीय अन्य देवताओं का किन्हीं अन्य देवताओं के साथ समान-स्तवन निर्दिष्ट किया जाता है—

(१) मित्र' देवता 'वरुण' के साथ संस्तुत होता है। जैसे, आनो मित्रावरुणा ३.६२.१६

(२) 'सोम' देवता 'पूषा' और 'रुद्र' के साथ संस्तुत होता है। जैसे, सोमापूषणा जनना २.४०.१, सोमारुद्रा युवमेतानि ६.७४.३

(३) मध्यमस्थानीय 'अग्नि' के साथ 'पूषा' देवता संस्तुत होता है।

(४) 'पर्जन्य' देवता 'वात' के साथ संस्तुत होता है। जैसे, धर्तारो दिवः······वातापर्जन्या१०.६६.१०

आदित्य का भक्ति, साहचर्य

अथैतान्यादित्यभक्तीनि असौ लोकः, तृतीयसवनं, वर्षा, जगती, सप्तदशस्तोमः, वैरूपं साम, ये च देवगणाः समाम्नाता उत्तमे स्थाने, याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म—रसादानं, रश्मिभिश्च रसधारणं, यच्च किंचित्प्रवल्हितमादित्यकर्मैव तत्। चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः।

ये आदित्यभागी हैं—द्युलोक, तृतीयसवन, वर्षा ऋतु, जगती छन्द, सप्तदश स्तोम, वैरूप साम, 'अश्विनौ' से लेकर 'देवपत्न्यः' तक (निघण्टु ५अ० ६ ख०) द्युलोकस्थानीय ३१ देव, और उसी देव-समुदाय में पठित सूर्या,

सरण्य आदि स्त्रियें। इसके कर्म ये हैं—रसाकर्षण, रश्मियों के द्वारा रसधारण, और जो कुछ भी ओषधि वनस्पत्यादिकों की बढ़ती या पुष्टि है, वह सब आदित्य-कर्म है। इसकी चन्द्रमा, वायु, संवत्सर—इन देवताओं के साथ समान-स्तुति है। जैसे—

पूर्वापरं चरतो माययैतौ १०. ८५. १८। सप्तऋषयः प्रतिहिताः······ अस्वप्नजौ सत्रसदौ (निरु० १२ अ० २५ खं०)

भक्तिशेष-कल्पना

एतेष्वेव स्थानव्यूहेष्वृतुछन्दस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषमनुकल्पयीत—

शरत्, अनुष्टुप्, एकविंशस्तोमः, वैराजं सामेति पृथिव्यायतनानि। हेमन्तः, पंक्तिः, त्रिणवस्तोमः, शाक्करं सामेत्यन्तरिक्षायतनानि। शिशिरः, अतिच्छन्दाः, त्रयस्त्रिंशस्तोमः, रैवतं सामेति द्युभक्तीनि ॥ ४ । ११ ॥

इन्हीं पृथिव्यादि स्थानों के वर्गों में, ऋतु छन्द स्तोम और साम—इन के अवशिष्ट भाग की कल्पना कर लीजिए। जैसे—

शरत् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, एकविंशस्तोम, और वैराज साम, ये पृथिवीस्थानीय हैं।

हेमन्त ऋतु, पंक्ति छन्द, त्रिणव स्तोम, शाक्कर साम—ये अन्तरिक्षस्थानीय हैं।

और, शिशिर ऋतु, सब अतिच्छन्द, त्रयस्त्रिंश स्तोम, रैवत साम—ये द्युलोकभागी हैं।

लोक तथा सवनों का विभाग तो पूर्ण होचुका था, परन्तु ऋतु, छन्द, स्तोम और साम—इन का विभाग अवशिष्ट रह गया था। सो, यहां उनका भी विभाग दिखला दिया गया है। परन्तु छन्दों के बहुत अधिक होने से, उनका विभाग फिर भी पूर्ण नहीं हुआ। अतः, उन अवशिष्ट छन्दों का विभाग भी इसी तरह कल्पित कर लेना चाहिए।

गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती—ये छन्द हैं। अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति—ये अतिछन्द हैं। और, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति, उत्कृति—ये विच्छन्द हैं।

इन में से उष्णिक्, बृहती और विच्छन्द—अवशिष्ट रह गये हैं, जिन का विभाग यास्क ने प्रदर्शित नहीं किया। ऋक् प्रातिशाख्य में बृहती और विच्छन्दों को 'वायु' दैवता के भागी (१७ पटल २०, २४ सू०) तथा उष्णिक् को आदित्यभागी (१७ पटल २० सू०) बतलाया है। ऋक् प्रातिशाख्य के १७, १८ पटल छन्दों के पूर्ण ज्ञान के लिये अत्युत्तम हैं ॥ ४ । ११ ॥

त्रिदेव-भाग-तालिका

* इस चिन्ह वाले भागधेय हैं। और † ऐसे अवशिष्ट भागधेय।

	अग्नि	इन्द्र	आदित्य
लोक...	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यु
सवन...	प्रातः	माध्यन्दिन	तृतीय
ऋतुः...	वसन्त शरद्*	ग्रीष्म हेमन्त*	वर्षा शिशिर*
छन्द...	गायत्री अनुष्टुप्*	त्रिष्टुप् पंक्ति* बृहती† विछन्द†	जगती अतिछन्द* उष्णिक्†
स्तोम...	त्रिवृत् एकविंश*	पञ्चदश त्रिणव*	सप्तदश त्रयस्त्रिंश*
सामः...	रथन्तर वैराज*	बृहत् शक्वर*	वैरूप रैवत*
देवगण...	निघण्टु ५.१-३	५.४,५	५.६ खण्ड
स्त्रियें...			,,
कर्म...	हविर्वहन देवप्रापण प्रकाशादि	रसप्रदान वृत्रवध बलकृति	रसादान रसधारण शरीरादिवृद्धि

त्रिदेव-सहचारी देव।

अग्नि... रुद्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतु
आग्नावैष्णव, आग्नापौष्ण हवि है, संस्तव नहीं।

इन्द्र... अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स विष्णु, वायु। 'मित्र' वरुण के साथ, 'सोम' पूषा और रुद्र के साथ, 'पूषा' अग्नि के साथ, 'पर्जन्य' वात के साथ।

आदित्य... चन्द्रमा, वायु, संवत्सर।

'मंत्र' आदि पदों के निर्वचन।

मंत्रा मननात् । छन्दांसि छादनात् । स्तोमः स्तवनात् । यजुर्यजतेः । साम सम्मितं ऋचा, स्यतेर्वा, ऋचा समं मेने इति नैदानाः ।

(१) गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः, त्रिगमना वा विपरीता, गायतो मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम् ।

(२) उष्णिगुत्स्नाता भवति, स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः, उष्णीषिणीवेत्यौपमिकम् । उष्णीषं स्नायतेः ।

ककुप् ककुभिनी भवति । ककुप् च, कुब्जश्च कुजतेर्वा, उब्जतेर्वा ।

(३) अनुष्टुब् अनुष्टोभनात् । गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभतीति च ब्राह्मणम् ।

(४,५) बृहती परिबर्हणात् । पंक्ति पञ्चपदा ।

(६) त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा । का तु त्रिता स्यात् ? तीर्णतमं छन्दः, त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा । यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते ।

(७) जगती गततमं छन्दः, जलचरगतिर्वा, जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम् ।

विराड् विराजनाद्वा, विराधनाद्वा, विप्रापणाद्वा । विराजनात्संपूर्णाक्षरा, विराधनादूनाक्षरा, विप्रापणादधिकाक्षरा । पिपीलिकामध्येत्यौपमिकम् । पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः ॥५।१२॥

मनन से, अर्थात् सब सत्यविद्याओं के जानने से, इन का नाम मंत्र है। सत्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वाः सत्यविद्याः यैस्ते मंत्राः, मन्+ष्ट्रन् । 'मन्त्रि' गुप्तपरिभाषणे

से भी मंत्र की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि इन में गुप्त पदार्थों, या रहस्ययुक्त विद्याओं का वर्णन है।

छादन से अर्थात् पापदुःखादिकों से रक्षा के लिये आत्मा के आच्छादन से, इसका नाम छन्दस् है। छद्+असुन्।

छान्दोग्य उपनिषद् (१.४.२) में लिखा है 'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशँस्ते छन्दोभिरच्छादयन्, यदेभिरच्छादयँस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' अर्थात् देवलोग मृत्यु से, पाप से डरते हुए वेदों में प्रविष्ट हुए और छन्दों से (मंत्रों से) अपने आप को आच्छादान किया। यतः, उन्हों ने इन छन्दों से अपने आपको आच्छादन किया, अतः यह छन्दों का छन्दस्त्व है।

उणादिकोष में (४.२१९) चदि आल्हादने से 'छन्दस्' की सिद्धि की गई है। वेदाध्ययन से सत्यविद्या के ज्ञान के कारण मनुष्य आह्लादी होता है, अतः मंत्र या वेद का नाम 'छन्दस्' है। और मंत्र के प्रसङ्ग से गायत्री आदि रचनाओं का नाम भी 'छन्दस्' है।

सत्यविद्याओं के स्तवन से वेद का नाम स्तोम है। और, वेद के प्रसङ्ग से त्रिवृत् आदि रचनायें भी स्तोम-वाचक हैं।

'ऋच्' का निर्वचन ४२ पृ० पर बतला आये हैं, अतः यास्काचार्य उसको यहां छोड़ देते हैं।

'यजुष्' शब्द 'यज' धातु से 'उसि' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है (उणा० २.११७)। यजुर्वेद यज्ञ-विद्या का प्रकाशक है।

'सामन्' के तीन निर्वचन किये गये हैं—(क) यह ऋचा के साथ समान परिमाण वाला है। ऋचायें ही उपासना भेद से 'साम' कहलाती हैं। अतएव सामवेद में प्रायः करके ऋग्वेद के ही मन्त्र हैं। सम्+मा (ख) अथवा, षो अन्तकर्मणि से मनिन् (उणा०४.१५३)। सामवेद उपासना या भक्ति परक है, और यह 'उपासना' ज्ञान, कर्म, उपासना—इन तीनों में अन्तिम है। (ग) देवजनों ने इसे ऋचा के समान माना, अतः इसका नाम 'साम' है, ऐसा 'नैदान' मानते हैं। सम्+मन्।

'नैदान' से पता लगता है कि नैरुक्तों के अतिरिक्त अन्य भी कोई ऐसा संप्रदाय था जो कि निदान (Etymology) अर्थात् शब्द-मूल का अन्वेषण किया करता था। किसी निदान-ग्रन्थ का ही 'ऋचा समं मेने' यह वाक्य है। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने जो यह कहा है कि यहां 'नैदान' से अभिप्राय

शब्दमूलान्वेषी नैरुक्त ही है, यह ठीक नहीं, क्योंकि जहां नैरुक्तों ने अपना मतभेद प्रकट करना होता है वहां वे अन्यों के मतों का उल्लेख करके 'इति नैरुक्ताः' इन शब्दों से अपना मत प्रदर्शित करते हैं। और फिर, यदि यहां किसी तरह 'नैदानाः' का अर्थ 'नैरुक्ताः' मान भी लिया जावे तो 'ऋचा सम्मितं स्यतेर्वा' ये दो अन्य निर्वचन किसके हैं। अतः नैदान का उपर्युक्त अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत देता है।

सप्तछन्दों के निर्वचन

(१) गायत्री—(क) स्तुत्यर्थक 'गै' धातु से 'अत्रन्' प्रत्यय। यतः, ऋग्वेदीय प्रारम्भिक मंत्र 'अग्निमीडे' से पदार्थ-स्तवन का प्रारम्भ होता है, अतः उस छन्द का नाम 'गायत्री' पड़ा।

(ख) अथवा, यह छन्द (त्रिगमन) तीन पादों वाला होता है, अतः गम और त्रि' के विपर्यय से 'गायत्री' निष्पन्न हुआ। त्रिगम-गमत्रि-गायत्री।

(ग) ब्राह्मण कहता है कि गान करते हुए परमेश्वर के मुख से सब से पूर्व यह छन्द निकला, अतः इसका नाम 'गायत्री' है। गै+पत् से 'रक्' प्रत्यय, गापत्र—गायत्री।

(२) उष्णिक्—(क) इससे उत्कृष्ट कोटि की पवित्रता का लाभ होता है। उत् उत्कृष्टं स्नातं शुद्धत्वं यया सा उष्णिक्, उत्+स्ना+इजि—उष्णिज्। (ख) अथवा, इच्छार्थक 'स्निह्' धातु से इस की सिद्धि हो सकती है। यह छन्द अधिक प्रिय है। उत्+स्निह्—उष्णिज्। (ग) अथवा, जिस प्रकार सिर के चारों ओर पगड़ी लपेटी जाती है उसी प्रकार 'गायत्री' के तीनों पादों में एक एक अधिक अक्षर के होने से, यह उष्णिक् पगड़ी सी है, अतः यह उपमाजन्य निर्वचन है। उष्णीषिणी-उष्णीष्-उष्णिज्। गायत्री के तीनों पादों में तो आठ आठ अक्षर होते हैं, परन्तु उष्णिक् में नौ नौ।

उष्णीष—'उत्' पूर्वक 'स्ना' धातु से सिद्ध होता है। 'उष्णीष' शब्द मुख्यतया श्वेत पगड़ी के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

'ककुभ्' उष्णिक् आदि छन्दों का भेद है, अतः 'उष्णिक्' के प्रसंग से उसका भी निर्वचन यहां किया गया है। 'ककुभ्' छन्द के पादों में मध्यवर्ती पाद अधिक अक्षरों वाला होने से, ककुभ् (चोटी) की तरह उठा हुआ होता है, अतः उसे 'ककुभ्' कहा गया। जैसे कि 'उष्णिक्' छन्द के तीनों पादों के मध्यवर्ती १२ अक्षर होते हैं, और पार्श्ववर्ती दोनों पादों में आठ आठ।

'ककुभ्' और कुब्ज-ये दोनों पद कुज कौटिल्ये, या उब्ज आर्जवे से निष्पन्न होते हैं। ककुद् के कारण उष्ट्र आदि पशुओं के पृष्ठ में कुटिलता आजाती है, और पार्श्वप्रदेश नीचा हो जाता है। कुबड़ा आदमी टेढ़ा और नीचे झुका हुआ होता है। कुज् कुज्-ककुज्-ककुभ्। उब्ज-उज्-कुभ्-ककुभ्। कुज-कुब्ज, उब्ज-कुब्ज।

(३) अनुष्टुभ्—अनुष्टोभन से इसका नाम 'अनुष्टुभ्' है, जैसे कि ब्राह्मण कहता है कि यह अनुष्टुप् छन्द तीन पादों वाली गायत्री का ही चतुर्थ पाद से अनुस्तवन करता है—अनुकरण करता है। 'अनु' पूर्वक निघण्टुपठित स्तुत्यर्थक 'स्तुभ्' से क्विप्। गायत्री के आठ आठ अक्षरों वाले तीन पाद होते हैं और अनुष्टुप् के चार पाद। अतएव गायत्री तो २४ अक्षरों वाला होता है, परन्तु यह ३२ अक्षरों वाला।

(४) बृहती—यह छन्द चार अक्षरों की अधिकता के कारण अनुष्टुप् से बड़ा होता है। इस के अक्षर ३६ होते हैं। बृह+अति+ङीप्।

(५) पंक्ति—यह छन्द आठ आठ अक्षरों वाले पांच पदों का होता है। एवं, यहां क्रमशः स्थित पांच के समुदाय को पंक्ति कहा गया है। पचिक्तिन्

(६) त्रिष्टुभ्—'त्रिष्टुभ्' में उत्तर पद तो 'स्तुभ्' धातु का 'स्तुभ्' है, परन्तु त्रित्व क्या है? (उत्तर) 'त्रि' के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि यह छन्द गायत्री आदि से बहुत अधिक अक्षरों वाला होने से (तीर्णतम) अधिक विस्तृत है, बहुत बड़ा है अतः यह 'त्रि' है। यह छन्द पङ्क्ति से भी चार अक्षर बड़ा होता है, अतएव यह ४४ अक्षरों वाला है। एवं, यह छन्द बहुत बड़ा होता हुआ पदार्थों का स्तवन करता है, अतः 'त्रिष्टुप्' है। और दूसरा, यह छन्द त्रिवृत् अर्थात् वज्र का स्तवन करता है, अतः 'त्रिष्टुप्' है। इसी निर्वचन को 'यत् त्रिरस्तोभत्' आदि ब्राह्मणवचन प्रमाणित करता है। वज्र के तीन पार्श्व तीखे होते हैं, अतः उसे 'त्रिवृत्' या 'त्रि' कहा गया।

(७) जगती-(क) यह छन्द अन्य सब छन्दों से (गततम) आगे गया हुआ है—बहुत बड़ा है, अतः इसे 'जगती' कहा जाता है। यह ४८ अक्षरों का छन्द है। गम् गम्+अति+ङीप् (उणा० २. ८४)। (ख) अथवा इस की गति गुरु लघु के लम्बे भेदों के कारण जल में चलने वाली लहरों की तरह है। जलचरगति—जगति—जगती। (ग) ब्राह्मण 'जगती' का निर्वचन करता है कि (जल्गल्यमानः असृजत्) बहुधा स्तूयमान परमेश्वर ने इसे सिरजा है, अतः

यह जगती है। गृ गृ क्विप् ङीप्— जगृ ई—जगती। जगल्यमान=जागीर्यमाण, आत्व ईत्व का अभाव।

इन सातों छन्दों के अनेक भेद हैं। उन में से एक का उल्लेख तो प्रसङ्गवश पहले कर आये हैं, दो का अब करते हैं। उन दोनों में से 'पिपीलिकामध्या' तो 'ककुभ्' का उलटा रूप है, और 'विराट्' का प्रयोग बहुत आता है, अतः इन दोनों का उल्लेख किया गया है—

विराज्—'विराज्' शब्द वि+राज्, वि+राध, या वि प्र+आप्लृ से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। विराध्–विराज्, विप्राप्–विराप्–विराज्। विराजन से (स्व–स्वरूप में चमकने से) संपूर्ण अक्षरों वाली, विराधन से (विगत ऋद्धि वाली होने से) न्यून अक्षरों वाली, और विप्रापण से (विशेष प्राप्ति के होने से) अधिक अक्षरों वाली 'विराट्' होती है।

पिपीलिकामध्या—यह छन्दोभेद वह होता कि जिसका मध्यवर्ती पाद, चिऊंटी की कमर की तरह अन्य पार्श्ववर्ती पादों की अपेक्षा, अक्षरों में बहुत छोटा हो। जैसे, उष्णिक् के 'पिपीलिकामध्या' छन्द में अक्षरों का क्रम ११+६+११=२८ होता है। यह निर्वचन भी 'ककुभ्' की तरह औपमिक है।

पिपीलिका— यह शब्द गत्यर्थक 'पेल' धातु से निष्पन्न होता है। 'पेल' के 'ए' को ह्रस्व करके रूपसिद्धि होगी। पिल पिल्+अ—पिपील, पुनः ह्रस्व अर्थ में 'कन्' और 'टाप्'। चिऊंटियों की गति बड़ी ही शिक्षाप्रद है। ये आराम नहीं करतीं, प्रत्युत लगातार परिश्रम करती रहती हैं।

पीछे हम जिन सप्तछन्दों, सप्त अतिच्छन्दों, और सप्त विच्छन्दों के नाम क्रमशः उल्लिखित कर आये हैं, उन में से प्रत्येक के क्रमशः चार चार अक्षर बढ़ते जाते हैं। जैसे, सब से पहला गायत्री छन्द २४ अक्षरों का है, सातवां 'जगती' ४८ अक्षरों का, सातवां 'अतिधृति' अतिच्छन्द ७६ अक्षर का, और सातवां 'उत्कृति' विच्छन्द १०४ अक्षरों का है॥ ५। १२॥

देवता–भेद
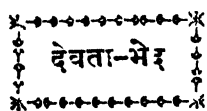
इतीमा देवता अनुक्रान्ताः। सूक्तभाजो हविर्भाजः, ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः, काश्चिन्निपातभाजः।

इसप्रकार ये अग्न्यादि देवता सामान्यतया वर्णित किये गये। वे देवता

सूक्तभाक् और हविर्भाक् हैं, ऋग्भाक् बहुत अधिक हैं, और कई निपातभाक् हैं।

'सूक्तभाक्' देवता वे हैं जिनका वर्णन एक या अनेक सूक्तों में हो, और 'हविर्भाक्' वे कहलाते हैं जिन के लिये केवल हवि दी जाती है, परन्तु सूक्तभाक् नहीं। इनका विशेष वर्णन 'इतीमानि सप्तविंशतिर्नामधेयानि' आदि में (निरु० १०. ४[illegible]ख०) देखिए।

जिसका वर्णन एक आध ऋचा में हो, आधी ऋचा में हो, या एक पाद में हो, वह देवता 'ऋग्भाक्' कहलाता है। आप्रीसूक्त (८ अ०२,३ पाद) में 'इध्म' आदि एक २ ऋचा के देवता हैं। पृथात्वेतश्च्यावयतु (७अ०९ख०) में एकपक्ष में 'अग्नि' आधी ऋचा का देवता है, और दूसरे पक्ष में एक पाद का।

और, जिसका अन्यान्य देवों के साथ गौणरूप में वर्णन हो, वह निपातभाक् कहलाता है। 'निपातभाक्' देवता दो तरह के होते हैं। एक तो वे जिन का वर्णन अन्य देवताओं के साथ साधारणतः पाया जाता हो। ऐसे देवता बहुदेवता वाले मंत्रों में पाए जाते हैं। जैसे 'सोमस्य राज्ञः' आदि मंत्र में '[illegible] धाता' [illegible] बृहस्पति आदि अनेक देवताओं के साथ समानभाव से प्रयुक्त है (देखिए ११ अ० १२ ख०)। दूसरे वे हैं, जो किसी अन्य देवता के वर्णन में गौणरूप से [illegible] हैं। जैसे, 'य[illegible]ाग्नी परमस्यां पृथिव्यां' में 'पृथिवी' देवता 'इन्द्राग्नी' के साथ गौणरूप में वर्णित है (देखिए १२.२९[illegible])। इस के विशेष ज्ञान के लिये ९१ पृ० देखिए।

देवता—परिगणन

अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—'इन्द्राय वृत्रघ्न इन्द्राय वृत्रतुर इन्द्रायांहोमुचे' इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति, तत्समामने।

अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति, वृत्रहा पुरन्दर इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। व्यञ्जनमात्रं तु तत् तस्याभिधानस्य भवति, यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षितायौदनं देहि, स्नातायानुलेपनं पिपासते पानीयमिति॥ ६।१३॥

ब्राह्मण ग्रन्थ भिन्न २ विशेषणों से संयुक्त करके भी किसी के लिए हवि का विधान करता है। जैसे, 'इन्द्राय वृत्रघ्ने' आदि में ऐतरेय ब्राह्मण ने (२.३.४) वृत्रघ्न इन्द्र, वृत्रतुर इन्द्र और अंहोमुच इन्द्र के लिये हवि का विधान किया है। इसको देखकर

कई निरुक्तकार ऐसे वृत्रघ्न, वृत्रतुर और अंहोमुच् आदि विशेषणों को भी देवता समाम्नाय में पढ़ते हैं। परन्तु ऐसे देवता, उनके परिगणन से बहुत अधिक हैं। अर्थात्, उन्होंने जितने ऐसे देवता परिगणित किये किये हैं, उनसे बहुत अधिक अवशिष्ट रहते हैं, क्योंकि विशेषणवाची शब्द तो बहुत ही अधिक हैं, उनकी भी यदि गणना करने लगें तो एक बड़ा भारी कोष बन जावे, अतः, मैं उसी संज्ञावाची शब्द को देवता–समाम्नाय में पढ़ता हूं, जिसकी प्रधानतया स्तुति पायी जाती है। अर्थात्, जो विशेष्य शब्द है, उसी को मैं निघण्टुकोष के दैवत–प्रकरण में पढ़ता हूं।

इस प्रसङ्ग से पता लगता है कि वर्तमान निघण्टु यास्काचार्य द्वारा परिष्कृत किया हुआ है, और उन्हों ने अपनी मति के अनुसार प्राचीन निघण्टु में कुछ परिवर्तन करके, उसे वर्तमान निघण्टु का स्वरूप दिया है।

वेद भिन्न २ कर्मों से किसी देवता की स्तुति करता है, जैसे इन्द्र–वाची वृत्रहा पुरन्दर आदि हैं। दुष्टादि वृत्रों के मारने से यह वृत्रहा है, और शत्रु–पुरों के विदारण से पुरन्दर है। एवं, भिन्न २ विशेषणों से युक्त देवताओं को देख कर, उन वृत्रहा पुरन्दर आदि विशेषण–शब्दों को कई निरुक्तकार देवता–समाम्नाय में पढ़ते हैं। परन्तु, ऐसे देवता उनके परिगणन से बहुत अधिक हैं। यह वृत्रहा या पुरन्दर पद तो उस असली 'इन्द्र' नाम का व्यञ्जकमात्र है, विशेषणमात्र है। जैसे, कोई कहता है कि यदि यह ब्राह्मण भूखा हो तो चावल दे, स्नान किए हुआ हो तो चन्दनानुलेपन दे, और यदि प्यासा है तो जल दे। यहां अवस्था के भेद से एक ही ब्राह्मण को बुभुक्षित, स्नात, या पिपासित कहा गया है, ब्राह्मण अनेक नहीं। इसी प्रकार देवताओं में भी समझिए। अतः मैं ऐसे विशेषण वाची शब्दों को देवता–समाम्नाय में परिगणित नहीं करता॥ ६। १३॥

यास्क-भूमिका समाप्त

* चतुर्थ पाद *

अथातोऽनुक्रमिष्यामः ।

अब यहां से निघण्टु के दैवतकाण्ड की क्रमशः व्याख्या करेंगे ।
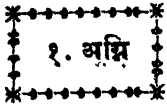
१. अग्नि

अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ।

अग्निः कस्मात् ? अग्रणीर्भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति सन्नममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः, न क्नोपयति न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः, इताद् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात् । स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परः ॥ १ । १४ ॥

'अग्नि' पृथिवीस्थानीय है, उसकी व्याख्या पहले करेंगे । यहां 'अग्नि' से अभिप्राय अग्न्यादि गण से है । क्योंकि यह अग्न्यादिगण पृथिवीस्थानीय है, अतः उसकी व्याख्या पहले की जाती है ।
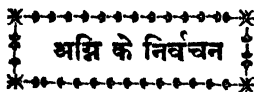
अग्नि के निर्वचन

अग्नि किस कारण से ? (क) यह अग्रणी होता है । आग के द्वारा मनुष्यों का इतना अधिक उपकार होता है कि यह अन्य सब जड़ देवों में मुख्य समझी जाती है । इसीप्रकार परमेश्वर, विद्वान्, सेनानी, राजा—ये भी अग्रणी होने से अग्नि कहलाते हैं । 'अग्निर्वै देवानां सेनानीः' इस ब्राह्मणवचन में अग्नि को सेनानी, और यदिन्द्रस्य (३०७पृ०) आदि वचन में अग्नि को राजा कहा है । अग्रणी—अग्नी—अग्नि ।

(ख) यह यज्ञों में आगे ले जायी जाती है । अग्नि के बिना कोई भी यज्ञ प्रारम्भ नहीं होता । परमेश्वर सर्वयज्ञों में अग्रणी होता ही है । राजा राष्ट्र-यज्ञ में, या राजसभा विद्यासभा धर्मसभा—इन तीनों सभाओं में मुखिया होता है । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते इति अग्निः, अग्रणी—अग्नि ।

(ग) यह किसी पदार्थ में (सन्नममानः) रखी हुई, उसे अपना अङ्ग बना लेती है । आग को जिस किसी भी पदार्थ में रखेंगे, उसे जलाकर या बिना जलाए अपने जैसा, ताप और दीप्ति से युक्त बना लेगी । परमेश्वरका

निवास जिस महात्मा में होगा, वह परमेश्वर के गुणों के अधिक निकट पहुंच जाता है। विद्वान् जिस के साथ संगति करता है, उसे अपने जैसा श्रेष्ठ बना लेता है। अङ्गं नयतीति अङ्गनी—अग्नि।

(घ) स्थौलाष्ठीवि निरुक्तकार कहता है कि यह रूक्ष या शुष्क करने वाली होती है, अतः इसे अग्नि कहते हैं। न क्नोपयति न स्नेहयतीति अग्निः, न + क्नुयी + णिच्—अक्न् इ—अग्नि। 'क्नुयी' धातु यहां स्नेहनार्थक मानी गई है।

(ङ) शाकपूणि आचार्य मानता है कि 'अग्नि' इण्, अञ्जू या दह, और णीञ्—इन तीन धातुओं से सिद्ध होता है। वह इण् से 'अ' लेता है, और अञ्जू या दह से 'ग' और णीञ् धातु का 'नी' उसके पीछे है। यहां अञ्जू और दह धातुयें विकल्प से ली गई हैं। अयन + अञ्जन + नी—अ ज् नी—अग्नि। अयन + दहन + नी—अ ह नी—अग्नि।

आग गतिशील है, पदार्थ-व्यञ्जक है, दाहक है, और गति देने वाली है—अर्थात् किसी वस्तु को स्थानान्तर में लेजाने वाली है। इसी तरह परमेश्वर क्रियावान् है, सर्वप्रकाशक है, संहारक है, और पदार्थ-प्रापक है।

उणादिकोष में (४. ५०) अगि गतौ धातु से 'नि' प्रत्यय करके अग्नि बनाया गया है॥ १। १४॥

तस्यैषा भवति—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

अग्निमीडेऽग्निं याचामि। ईडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा। पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च। देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारम्, जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्॥ २। १५॥

उस 'अग्नि' को 'अग्निमीळे' आदि ऋचा है। उसका अर्थ यह है—

(यज्ञस्य पुरोहितं) अग्निहोत्रादि प्रत्येक यज्ञ में आगे रखे जाने वाले, (देवं) प्रदीपक (ऋत्विजं) समय समय पर शिल्पादि यज्ञों में संगन्तव्य (होतारं) दिव्य पदार्थों को बुलाने वाले (रत्नधातमम्) और रमणीय धनों के उत्तम दाता (अग्निं ईळे) अग्नि की मैं याचना करता हूं, परमेश्वर ऐसी कृपा करें कि उपर्युक्त कर्मों को सिद्ध करती हुई अग्नि मुझे प्राप्त हो।

एवं, प्रार्थी प्रार्थना करता है कि मैं नित्यप्रति यज्ञ करने वाला बनूं, आग्नेय प्रकाश से लाभ उठाऊं, अग्नि के प्रयोग से शिल्पयज्ञों का सम्पादन करूं, तथा सुवर्ण हीरा आदि धनों को रत्नरूप में प्राप्त करूं। अग्नि के प्रयोग से कृत्रिम हीरों का वर्णन शुक्रनीति में आता है।

यह है मंत्र का आधिदैविक अर्थ। आध्यात्मिक अर्थ इसप्रकार है—

(यज्ञस्य पुरोहितं) प्रत्येक शुभ कर्म में आगे रखे हुए, (देवं) सर्वप्रकाशक (ऋत्विजं) संध्या-समय में उपासनीय (होतारं) सब सुखों के प्रदाता (रत्न-धातमं) और सूर्यचन्द्रादि रमणीय पदार्थों के उत्तम दाता (अग्निं ईडे) अग्रणी परमेश्वर की मैं प्रार्थना और पूजा करता हूं।

धातुपाठ में 'ईड' धातु स्तुत्यर्थक पढ़ी हुई है, परन्तु यहां याचना और पूजा अर्थ में मानी गई है। पुरोहित और यज्ञ की व्याख्या क्रमशः १३२ और २२१ पृ० पर हो चुकी है। ऋत्विज् भी वहीं २२१ पृ० पर व्याख्यात है।

देव—यह दान, दीपन या द्योतन करने से देव कहलाता है, और यह दिविस्थ होता है। एवं, दाता, प्रदीपक, द्योतक या द्युस्थानीय पदार्थ को 'देव' कहा जावेगा। सूर्यादि प्रकाशक लोक द्युस्थानीय हैं, मुक्तात्मा भी द्युलोक में विचरता है (१३७ पृ०) और परमेश्वर 'दिवि तिष्ठत्येकः' (१०७ पृ०) के अनुसार दिविस्थ है। दा—देव, दीप—दीव-देव। द्युत्—दिउत्—दिव्—देव, यहां सन्धिच्छेद और 'उ' को संप्रसारण है। दिवि तिष्ठतीति देवः, 'दिव्' शब्द से 'तिष्ठति' अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय। देव एव देवता, स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय। अतएव मंत्रेण द्योत्यते इति देवता, इस निर्वचन से मंत्र के प्रतिपाद्य विषय को देवता कहा गया है।

होतृ—यास्काचार्य 'ह्वाता' से 'होता' की सिद्धि करता है, और और्णवाभ निरुक्तकार 'हु' दानादानयोः धातु से। रत्न=रमणीय, रम् धातु से रक् (उणा०३.१४)। धाता=दाता, यास्काचार्य ने यहां 'धा' धातु दानार्थक मानी है ॥ २ । १५ ॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति ॥१.१.२

अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नव-तरैः, स देवानिहावहत्विति ॥ ३ ।१६ ॥

उस अग्नि की यह 'अग्निः पूर्वेभिः' आदि दूसरी ऋचा है। उसका अर्थ इस प्रकार है—

(अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः) यह आग पूर्ण विद्वानों या प्राचीन मनुष्यों (उत नूतनैः) और अपूर्ण विद्वानों—साधारण मनुष्यों—या नूतन हम सब मनुष्यों से (ईड्यः) उपर्युक्त प्रकार से याचनीय है। (सः इह देवान् आवक्षति) वह अग्नि इस राष्ट्र में दिव्य पदार्थों को प्राप्त करावे। अर्थात्, अग्नि से पूर्व नूतन, विद्वान् और मूर्ख, सभी मनुष्य यथामति उपकार लेते हैं, इसके बिना कोई भी अपनी जीवन–यात्रा को सफल नहीं कर सकता।

इसी प्रकार आध्यात्मिक पक्ष में अग्रणी परमेश्वर विद्वान् मूर्ख, गुरु (पूर्ण) शिष्य (अपूर्ण) वृद्ध बालक, सभी से वन्दनीय है। पूजा का लाभ यह होता है कि वह परमेश्वर पूजकों के (इह) अन्तरात्मा में दिव्य गुणों को स्थापित करता है।

'पुर्व' पूरणे से 'पूर्व' की सिद्धि सायणादि भाष्यकारों ने की है। वक्षति=वहतु। 'वक्षति' लेट् का रूप है ॥ ३ । १६ ॥

स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। ततो नु मध्यमः—

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्। घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ ४.५८.८

अभिनमन्त समनस इव योषाः। समनं समननाद्वा, सम्माननाद्वा। कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निमित्यौपमिकम्। घृतस्य धारा उदकस्य धाराः। समिधो नसन्त, नसतिराप्नोतिकर्मा वा नमतिकर्मा वा। ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः, हर्यतिः प्रेप्साकर्मा, विहर्यतीति।

'समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्' इत्यादित्यमुक्तं मन्यन्ते। 'समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति' इति च ब्राह्मणम् ॥ ४ । १७ ॥

निरुक्त–शास्त्र का अध्येता यह न समझे कि 'अग्नि' शब्द से यही आग ली जाती है, अपितु ये उत्तर ज्योतियें (विद्युत्, सूर्य) भी 'अग्नि' कहलाती

हैं। इसलिये हम 'अभिप्रवन्त समनेव' आदि मंत्र प्रस्तुत करते हैं, उसमें 'अग्नि' विद्युत् (मध्यम) वाची है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(कल्याणयः, स्मयमानासः समना योषाः इव घृतस्य धाराः अग्निं अभिप्रवन्त) जिस प्रकार कल्याणकारिणी, स्मितवदना और समान मन वाली या सम्मान के योग्य पत्नियें अपने पतियों के अनुकूल होती हैं, उसी प्रकार कल्याण-कारिणी और उछलने कूदने से स्मितवदना सी जल की धारायें विद्युत् के अनुकूल होती हैं। (समिधः नसन्त) और, ये जल–धारायें विद्युत् के लिये समिधाओं की तरह प्रदीपक होती हुई, उसे प्राप्त करती हैं या उसके अनुकूल होती हैं। (जुषाणः जातवेदाः ताः हर्यति) अतः, ऐश्वर्य चाहने वालों से सेवित किया हुआ ऐश्वर्य–प्रदाता विद्युत्, उन जल–धाराओं को चाहता है।

इस मंत्र में जल–धाराओं से विद्युत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। एवं, यहां 'अग्नि' शब्द विद्युत् वाचक है।

अभिप्रवन्त = अभिनमन्त । अभि + प्रुङ् गतौ। **समन—** (क) समान मनन करने से या समान मन वाली होने से स्त्री को 'समन' कहा है। सह मननं यस्याः सा समनं। (ख) अथवा, इसका सम्यक्तया मान करने से, यह 'समन' है। सम् + मान – समन। 'समन' शब्द नित्य बहुवचनान्त और नपुंसक लिङ्ग है। समना = समनानि। घृत = जल। 'नस' धातु प्राप्ति और नमन, दोनों अर्थों में मानी गई है। 'हर्य' धातु इच्छार्थक है।

'समुद्रादूर्मिः' आदि मंत्र में अग्नि को आदित्य कहा है, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं। संपूर्ण मंत्र और अर्थ इस प्रकार है--

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥ ४.५८.१

देवता—अग्नि। (ऊर्मिः मधुमान् समुद्रात् उदारत्) प्रकाश के द्वारा सब को आच्छादन करने वाला सर्वप्रिय सूर्य अन्तरिक्ष से उदित होता है। (अंशुना सम् अमृतत्वं उपानट्) चन्द्रमा के साथ उस सूर्य का संयोग होने पर मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त करता है। (यत्) जिन ओषधि वनस्पत्यादिकों में (घृतस्य गुह्यं नाम अस्ति) जल का गुप्त रूप में अवस्थान है, (देवानां जिह्वा) वहां सूर्यरश्मिओं की जिह्वा पहुंचती है, अर्थात् सूर्यकिरणें उस रस का आस्वादन करती हैं। (अमृतस्य नाभिः) और, यह सूर्य वृष्टिजन्य अमृत–जल का कारण है।

सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है, और वह चन्द्र-प्रकाश मनुष्यों को कितना आह्लाद देता है और कितनी शान्ति प्रदान करता है, इसे ईश्वर-लीला को देखने वाले अनुभवी अच्छी तरह जानते हैं। अतएव कहा गया 'उपांशुना सममममृतत्वमानट्'।

अन्तरिक्ष से सूर्य का ही उदय होता है, अग्नि का नहीं, अतः यहां स्पष्ट-रूपेण 'अग्नि' आदित्य वाचक है।

इसी बात को 'समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति' यह ब्राह्मण-वचन प्रमाणित करता है कि यह सूर्य 'अप्' से अर्थात् समुद्र से-अन्तरिक्ष से-उदित होता है।

नित्य बहुवचनान्त 'आपः' और 'समुद्र' निघण्टु में अन्तरिक्षवाची पढ़ा हुआ है। 'आपः' और 'अपः' समानार्थक हैं ॥ ४ । १७ ॥

अथापि ब्राह्मणं भवति 'अग्निः सर्वा देवताः' इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥१.१६४.४६

इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति, इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्। दिव्यो दिविजः, गरुत्मान् गरणवान्, गुर्वात्मा महात्मेति वा।

किञ्च, यह भी ब्राह्मणवचन है कि 'अग्निः सर्वा देवताः' अर्थात् अग्नि सब देवता है, अग्नि सब देवताओं को कहने वाली है। इस बात को और अधिक प्रमाणित करने वाली 'इन्द्रं मित्रं' आदि ऋचा है। मंत्रार्थ इस प्रकार है।—

(अग्निं इन्द्रं मित्रं वरुणं आहुः) अग्नि को इन्द्र, मित्र और वरुण कहते हैं। (अथो सः दिव्यः, सुपर्णः, गरुत्मान्) और वह अग्नि दिव्य है, सुपर्ण है, और गरुत्मान् है। (एकं सत् अग्निं) उस महान् स्वरूपों वाले एक अग्नि रूप शब्द को (विप्राः बहुधा वदन्ति) बुद्धिमान् लोग अनेक अर्थों में कहते हैं, (यमं, मातरिश्वानं आहुः) उसे यम और मातरिश्वा कहते हैं।

एवं, इस मंत्र में अग्नि के इन्द्र (विद्युत्) मित्र (उद्रजन वायु) वरुण (अम्लजन वायु) दिव्य (सूर्य) सुपर्ण (जीवात्मा) गरुत्मान् (परमात्मा) यम (मृत्यु) और मातरिश्वा (वायु)—ये आठ अर्थ करते हुए, उसे अनेकार्थक बतलाया है।

दिव्य = दिविज = सूर्य। गरुत्मान्—(क) गरणवान्—स्तोता, उपदेष्टा। गरुत् = स्तुति, उपदेश,। गरुत्+मतुप् = गरुत्मत्। (ख) गुर्वात्मा = महान् आत्मा। गुरु आत्मन्—गुरुत्मन्—गरुत्मत्। पाली में 'गुरु' अर्थ में 'गरु' ही प्रयुक्त होता है, और 'आत्मन्' के 'आ' का लोप बहुत्र पाया ही जाता है।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निः, निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ ५ । १८ ॥

एवं, यद्यपि 'अग्नि' के उपर्युक्त अनेक अर्थ हैं, परन्तु जो अग्नि सूक्त को भजती है और जिसके लिए हवि दी जाती है, अर्थात् जो मुख्यतया अनेक सूक्तों का देवता है, और जो हविर्भाक् है, वह यही आग है। ये अन्तरिक्षस्थानीय और द्युलोकस्थानीय सूर्य विद्युत् वायु आदि दूसरे देवता औपचारिक अर्थ को ही इस 'अग्नि' नाम से सेवते हैं।

यास्क का अभिप्राय यह है कि वेदों में देवतावाची शब्द यद्यपि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु वे सब किसी एक अर्थ में तो प्रधानतया प्रयुक्त होते हैं, और अन्य अर्थों में गौणरूप से। इसी प्रकार अग्नि के यद्यपि अन्य अर्थ भी हैं, परन्तु इसका मुख्य अर्थ आग ही है।

'ज्योतिष्' और 'देव' ये दोनों शब्द समानार्थक हैं, दोनों ही 'द्युत्' धातु से निष्पन्न हुए हैं, अतः, मैंने 'ज्योतिषी' का अर्थ प्रकरणानुसार देवता किया है। 'ज्योतिषी' का अर्थ केवल विद्युत् और सूर्य करना उचित नहीं, क्योंकि 'अग्नि' नाम से मित्र वरुण आदि अन्य देव भी गिनाये गये है।

दैवतकाण्ड की यास्क-भूमिका से भलीभान्ति विदित हो गया होगा कि यास्काचार्य वेदों द्वारा प्रतिपादित उपास्य देव एक मात्र परमात्मा को ही मानते हैं, और वे मंत्रों के आध्यात्मिक अर्थों से भी सहमत हैं। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यास्काचार्य इस दैवतकाण्ड में मुख्यतया आधिदैविक या आधिभौतिक अर्थों का ही प्रतिपादन करते हैं। हां! कहीं २ दिग्दर्शन के तौर पर उस के साथ २ किसी मंत्र के आध्यात्मिक अर्थ भी जतला देते हैं।

इस लिए, यहां पर 'इन्द्रं मित्रं वरुणं' का उपर्युक्त आधिदैविक अर्थ करना ही यास्क को अभिप्रेत है। यदि आध्यात्मिक अर्थ किया जावे तो 'निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी' इसकी ठीक संगति भी नहीं लगती। वैसे, मंत्र का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि इन्द्र मित्र आदि आठ नाम अग्रणी (अग्नि) परमेश्वर के हैं।

इस मंत्र के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक, दोनों अर्थ उसी तरह हैं, जैसे कि यास्क ने 'अदितिर्द्यौः' आदि मंत्र के (२८६ पृ०) दोनों अर्थ प्रदर्शित किये हैं ॥ ५।१८ ॥

※ पञ्चम पाद ※

२. जातवेदस्

जातवेदाः कस्मात् ? जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यते इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः। 'यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्' इति ब्राह्मणम् । तस्मात् सर्वानृतून्पशवोऽग्निमभिसर्पन्तीति च ।

तस्यैषा भवति—

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्। इदं नो बर्हिरासदे ॥

प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानम् । अपिवोपमार्थे स्यात्, अश्वमिव जातवेदसमिति । इदं नो बर्हिरासीदत्विति ।

तदेतदेकमेव जातवेदस्यं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने युज्यते ॥ १ । १६ ॥

जातवेदस् किस से ? (क) जो उत्पन्न वस्तुओं को जानता है, वह जातवेदस् है, अर्थात् सर्वज्ञ परमेश्वर और पदार्थज्ञाता विद्वान् ।

(ख) जिसे उत्पन्न हुए भूत-मनुष्य-जानते हैं, वह जातवेदस् है, अर्थात् परमेश्वर या अग्नि । जात पूर्वक 'विद' ज्ञाने धातु से कर्ता या कर्म में 'असि' प्रत्यय (उणा० ४. २२७) करने से ये दोनों निर्वचन हैं ।

(ग) जो प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान है, वह 'जातवेदस' है । परमेश्वर सर्वव्यापक है, और आग भी सब पदार्थों में पायी जाती है । आग की विद्यमानता के कारण ही, उसे हम पत्थरों से, दियासलाई से, और लोहे आदि से संघर्षण के द्वारा पैदा कर लेते हैं । जात+विद सत्तायाम्+असि ।

(घ) जातं वित्तं धनं यस्मात् यस्य वा स जातवेदाः। जात+विद्लृ लाभे+असि। इस निर्वचन से धनप्रदाता, या ऐश्वर्यवान् को 'जातवेदस्' कहा जावेगा। परमेश्वर में तो ये दोनों गुण विद्यमान हैं ही, परन्तु आग भी अपने प्रकाश तथा ताप आदि धन को देने वाली है, और उस अग्नि के सदुपयोग से विद्वान् लोग प्रचुर धन पैदा करते हैं। इसी तरह अग्नि ऐश्वर्यवान् भी है।

(ङ) जाता विद्या प्रज्ञानं यस्मात् यस्य वा स जातवेदाः। जात+विद ज्ञाने+असि। परमेश्वर ज्ञानप्रदाता और सर्वज्ञ है, अग्नि प्रकाशक और प्रकाशवान् है।

(च) 'यतज्जातः' आदि वचन से ब्राह्मण निर्वचन करता है कि यतः वह उत्पन्न हुई अग्नि, प्रज्वलित हुई अग्नि, मनुष्यों को प्राप्त करती है, अतः यह जातवेदस का जातवेदस्त्व है। इस लिये सब कालों में मनुष्य अग्नि की ओर जाते हैं। अतएव चाहे अत्यन्त प्रचण्ड ग्रीष्म ऋतु भी क्यों न हो, परन्तु आग के बिना मनुष्यों का गुज़ारा नहीं। जात+विद्लृ लाभे+असि।

'तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः।'

यहां अथर्ववेद ने (११. २. ९) गाय, घोड़ा, पुरुष, बकरी, और अवि–इन पांच पशुओं में मनुष्य को भी पशु बतलाया है।

उस 'अग्नि' देवता की 'प्र नूनं जातवेदसं' आदि ऋचा (१०-१८८-१) है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(अश्वं वाजिनं जातवेदसं) हे मनुष्यो! तुम अपने पुरुषार्थों से अत्यन्त वेगवान् और बलवान् अग्नि को, अथवा घोड़े की तरह अत्यन्त वेग से ले जाने वाली बलवान् अग्नि को (नूनं प्रहिणुत) प्राप्त करो (नः इदं बर्हिः आसदे) कि वह अग्नि हमें इस जल और अन्तरिक्ष में ले जावे।

एवं, इस मंत्र में अग्नि के द्वारा समुद्र में जहाज, और अन्तरिक्ष में विमानों के चलाने का उपदेश है।

हिनोत=हिनुत, 'हि' गतौ वृद्धौ च। अश्वं=समश्नुवानं, अश्वमिव। आसदे=आसीदतु।

सो, यह एक ही गायत्री छन्द वाला तीन ऋचाओं का सूक्त (१०. १८८) ऋग्वेद में है। परन्तु यज्ञ में जातवेदस्–देवताक अनेक मंत्रों की आवश्यकता होने पर, जो कोई गायत्री छन्द में अग्निदेवताक सूक्त है, वह जातवेदसों के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है। अतः, पता लगता है कि 'जातवेदस्' और 'अग्नि' दोनों समानार्थक है॥ १। १९॥

स न मन्येतायमेवाग्निरिति । अप्येते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते । ततो नु मध्यमः—'अभिप्रवन्त समनेव योषाः' इति । तत् पुरस्ताद् व्याख्यातम् । अथासौ आदित्यः 'उदुत्यं जातवेदसं' इति । तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते, अयमेवाग्निर्जातवेदाः, निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ २ । २० ॥

निरुक्त-शास्त्र का अध्येता यह न समझे कि 'जातवेदस्' शब्द से यही आग ली जाती है, अपितु ये उत्तर देवता (विद्युत्, सूर्य) भी 'जातवेदस्' कहलाते हैं । इसलिये हम 'अभिप्रवन्त समनेन योषा.' आदि मंत्र प्रस्तुत करते हैं । उस में 'जातवेदस्' विद्युत् (मध्यम) वाचक है । मंत्र का अर्थ अभी पीछे कर आये है, वहा देख लीजिए । और, उस आदित्य का वाचक 'जातवेदस्' शब्द 'उदुत्यं जातवेदसं' मंत्र में प्रयुक्त है । मंत्र की व्याख्या आगे (१२.१५) की जावेगी ।

एवं, यद्यपि 'जातवेदस्' के उपर्युक्त अन्य अर्थ भी हैं, परन्तु जो 'जातवेदस्' सूक्त को भजता है और जिस के लिये हवि दी जाती है, अर्थात् जो मुख्यतया अनेक सूक्तों का देवता है और जो हविर्भाक् है, वह यही आग है । ये अन्तरिक्षस्थानीय और द्युलोकस्थानीय विद्युत् तथा सूर्य देवता औपचारिक अर्थ को ही इस 'जातवेदस्' नाम से सेवते हैं ॥ २ । २० ॥

* षष्ठ पाद *

३. वैश्वानर

वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान्नरान्नयति, विश्व एनं नरा नयन्तीति वा । अपि वा विश्वानर एव स्यात्, प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य वैश्वानरः । तस्यैषा भवति—

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः ।
इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥ १.९८.१

इतो जातः सर्वमिदमभिविपश्यति, वैश्वानरः संयतते सूर्येण, राजा यः सर्वेषां भूतानाम् अभिश्रयणीयः, तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्यामेति ॥ १।२१ ॥

वैश्वानर किस से ? (क) यह सब मनुष्यों को ले जाता है। विश्वान् नरान् नयतीति वैश्वानरः, विश्वनर से नयन अर्थ में कर्ता में 'अण्' प्रत्यय और आकार दीर्घ। अग्नि या विद्युत् यंत्र-यानों में प्रयुक्त किया हुआ मनुष्यों को देशान्तर में ले जाता है, परमेश्वर सर्वनायक है, राजा प्रजाजनों का नेता है, विद्वान् नेता समझा जाता है, और सूर्य पृथिवीलोकों को चलाने वाला है।

(ख) जिसे सब मनुष्य प्राप्त करें, वह वैश्वानर है। यहां, विश्वनर से नयन अर्थ में कर्म में 'अण्' है। अग्नि, परमेश्वर, और सूर्य आदि को सब मनुष्य प्राप्त करते हैं।

(ग) अथवा, विश्वानर ही असली शब्द है विश्वनर नहीं, क्योंकि यह सब भूतों के प्रति गया हुआ है। ऋ गतौ + अच् = अर, विश्वान् पदार्थान् अरः गतः इति विश्वानरः, तस्यापत्यं वैश्वानरः। इस निर्वचन का आशय 'विश्वानराविस्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी' यहां पर (७. २३) देखिए।

उस 'वैश्वानर' का प्रतिपादन करने वाली 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम' आदि ऋचा है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—(राजा, भुवनानां अभिश्रीः वैश्वानरः) देदीप्यमान और सब मनुष्यों के लिये आश्रयणीय सर्वजनहितकारी अग्नि (इतः जातः इदं विश्वं विचष्टे) यहां पैदा होकर इस संपूर्ण वस्तुजात को प्रकाशित करती है, (सूर्येण यतते) और सूर्य के साथ संगत होती है, अर्थात् सूर्य के समान ताप और प्रकाश को देती है। (वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम) हम उस अग्नि की कल्याणी विद्या में वर्तमान हों, अथवा उस अग्नि की सुमति में हों अर्थात्, अग्नि की तरह दूसरों के लिये ज्ञान-प्रकाश के प्रदाता बनें।

अभिश्रीः = अभिश्रयणीयः'। 'हिकम्' पदपूरक है ॥ १।२१ ॥

प्रथम पूर्वपक्ष

तत् को वैश्वानरः ? मध्यम इत्याचार्याः। वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौति—

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते। वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥ १.५९.६

प्रब्रवीमि तन्महित्वं माहाभाग्यं वृषभस्य वर्षितुरपां, यं पूरवः पूरयितव्या मनुष्या वृत्रहणं मेघहनं सचन्ते सेव्वते वर्षकामाः दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थात्, उपदस्यन्त्यस्मिन् रसाः, उपदासयति कर्माणि, तमग्निर्वैश्वानरो घ्नन्नवाधूनोदपः काष्ठाः, अभिनच्छम्बरं मेघम् ॥ २। २२ ॥

सो, वैश्वानर कौन है ? हमारे आचार्य (यास्क के आचार्य) निरुक्तकार कहते हैं कि वैश्वानर का अर्थ विद्युत् है, क्योंकि वेद वृष्टिकर्म से इस का वर्णन करता है, जैसे कि 'प्र नू महित्वं' मंत्र में है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(वृषभस्य महित्वं प्रवोचं) मैं उस वृष्टिकर्ता विद्युत् की महिमा को बतलाता हूं, (यं वृत्रहणं पूरवः सचन्ते) जिस मेघ-संहारक को वर्षकामा सभी मनुष्य सेवते हैं। (वैश्वानरः अग्निः दस्युं जघन्वान्) यह सर्वजनहितकारी विद्युत् अग्नि अनावृष्टि का नाश करती हुई (शम्बरं भेत्) मेघ को विदीर्ण करती है, (काष्ठाः अवाधूनोत्) और जल को बरसाती है।

वृषभस्य = वर्षितुः अपाम्। पूरु—मनुष्य, ये पालनीय, पूरणीय या वर्धनीय होते हैं। 'पृ' पालनपूरणयोः या 'पूरी' आप्यायने से 'उ' प्रत्यय (उणा० १. २३)। निघण्टु-व्याख्या में देवराजयज्वा ने लिखा है कि भोजदेव 'पूञ्' पवने से 'क्रु' प्रत्यय करके (उणा० ४. १०३) 'पूरु' की सिद्धि करता है। इस निर्वचन से 'पूरु' का अर्थ पवित्र होगा।

दस्यु—अनावृष्टि, इस में ओषध्यादिकों के रस सूख जाते हैं, और शुभ कर्मों का उच्छेद हो जाता है। इसी प्रकार जो दुष्ट लोग उत्तम कर्मों से हीन हैं, और उन शुभ कर्मों में विघ्न डालते हैं, वे भी दस्यु कहलावेंगे। 'दसु' उपक्षये+युच (उणा० ३. २०) ॥ २। २२ ॥

द्वितीय पूर्वपक्ष

अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिकाः। (१) एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः। रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः, तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते, सो ऽपि न स्तोत्रियमाद्रियेताग्नेयो हि भवति। तत आगच्छति मध्यस्थाना देवताः

रुद्रं च मरुतश्च, ततोऽग्निमिहस्थानम्, अत्र वै स्तोत्रियं शंसति।

पूर्व याज्ञिक कहते हैं कि वैश्वानर का अर्थ द्युलोकस्थानीय सूर्य है। इस की पुष्टि में वे ६ हेतु देते हैं—

(१) इन लोकों के आरोहण से सवनों का आरोहण पढ़ा हुआ है। अर्थात्, यज्ञकर्ता प्रातःसवन, मध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन से क्रमशः पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक को पाता है। पुनः, आरोहण से उलटा अवरोह अभिप्रेत है। अर्थात्, तीनों सवनों से अपने ध्यान द्वारा द्युलोक पर चढ़े हुए यज्ञकर्ता का द्युलोक से नीचे उतरना अभिप्रेत है। उस उतार के अनुकरण को, होता 'अग्निमारुत स्तोत्र' में वैश्वानरीय सूक्त से, प्रारम्भ करता है। परन्तु वह स्तोत्रिय—आग्नेय स्तोत्र—का आदर नहीं करता, यतः वह आग्नेय है। अतः, प्रत्यवरोह में वैश्वानरीय सूक्त से अनुकरण के प्रारम्भ करने से विदित होता है कि 'वैश्वानर' द्युस्थानी है, और वह निस्सन्देह सूर्य है।

प्रत्यवरोह इस से और भी अधिक स्पष्ट है कि तदनन्तर होता मध्यमस्थानीय 'रुद्र' और 'मरुत्' देवताओं की ओर आता है, अर्थात् तद्देवताक मंत्रों का गान करता है। और, फिर पृथिवीस्थानी की ओर आता है, और यहां ही स्तोत्रिय—आग्नेय स्तोत्र—को गाता है। अतः, इस प्रत्यवरोह-क्रम से स्पष्ट है कि 'वैश्वानर' आदित्यवाची है।

उपर्युक्त वर्णन 'अग्निष्टोम' यज्ञ का है। उस में अग्निमारुत-देवताक 'यज्ञायज्ञिय' सूक्त को प्रारम्भ न करके 'वैश्वानराय पृथुपाजसे' आदि वैश्वानरीय सूक्त (ऋ० ३. ३) प्रारम्भ किया जाता है। तत्पश्चात्, रुद्रमरुद्देवताक 'आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु' आदि सूक्त (ऋ० २. ३३) का गान किया जाता है। और फिर, 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' आदि यज्ञायज्ञीय सूक्त (ऋ० ६. ४८) गाया जाता है। अग्निष्टोम का विस्तृत वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में देखिए।

(२) अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति। एतस्य हि द्वादशविधं कर्म।

(३) अथापि ब्राह्मणं भवति—'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' इति।

(४) अथापि निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति—'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्' इति। एष हि द्यावापृथिव्यावाभासयति।

(५) अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति— 'दिवि पृष्ठो अरोचत' इति । एष हि दिवि पृष्ठो अरोचतेति ।

(६) अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति ।

(२) किञ्च, वैश्वानरीय पुरोडाश बारह कपालों वाला होता है, वैश्वानर देवता के लिए हवि १२ कपालों में पकायी जाती है। और, इस सूर्य का ही १२ प्रकार का कर्म है—यह ही १२ महीनों का निर्माता है। इस विधि के अनुकरण से पता लगता है कि 'वैश्वानर' आदित्यवाची है।

(३) किञ्च, ब्राह्मण कहता है कि वह आदित्य अग्नि 'वैश्वानर' है। अतः, असौ वा आदित्यो ऽग्निर्वैश्वानरः—इस ब्राह्मण-प्रमाण से भी 'वैश्वानर' आदित्य-वाचक है ।

(४) किञ्च, निवित् स्तोत्र 'वैश्वानर' को सूर्य प्रकट करने वाला है । उस स्तोत्र में आता है—आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्—जो वैश्वानर द्युलोक और पृथिवीलोक को प्रकाशित करता है। सो, यह सूर्य ही इन दोनों लोकों को आभासित करता है, अतः 'वैश्वानर' का अर्थ सूर्य है।

'निवित्' के ज्ञान के लिए 'सौर्या वा एता देवता यन्निविदः' इत्यादि ऐतरेय का प्रकरण (३.१.११) देखिए।

निवित् अध्याय सायणाचार्य ने ऋग्वेद-भाष्य के अष्टम अष्टक के प्रारम्भ में दिया हुआ है। इस अध्याय में सारे ११ स्तोत्र हैं। उन में से 'अग्निर्वैश्वानरः सोमस्य मत्सत्' इत्यादि आठवें स्तोत्र का उपर्युक्त वचन है।

(५) किञ्च, छान्दोमिक सूक्त 'वैश्वानर' को सूर्य प्रकट करने वाला है।

गायत्री आदि छन्दों से जो निर्मित किये जाते हैं, (छन्दोभिर्मीयन्त इति छन्दोमाः) वे त्रिवृत् आदि स्तोम 'छन्दोम' कहलाते हैं। उन से निष्पन्न होने वाले 'गवामयन' आदि यज्ञों को 'छन्दोम यज्ञ' कहा जाता है, जिनका विधान सामवेदीय ताण्ड्यब्राह्मण में उल्लिखित है। ये यज्ञ यद्यपि संवत्सर-साध्य हैं, तथापि दश रात्रियों में ही समाप्त किये जाते हैं, अतः इन्हें दाशरात्रिक भी कहा जाता है। उस छन्दोम यज्ञ में प्रयुक्त सूक्त 'वैश्वानर' को आदित्य दर्शाता है। जैसे—

दिवि पृष्ठो अरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहत् । क्ष्मया वृधान ओजसा चनोहितो ज्योतिषा बाधते तमांसि ॥ यजु० ३३.९२

अर्थात्, द्युलोक में स्थित महान् वैश्वानर अग्नि प्रकाशित होरहा है। वह अपने सामर्थ्य से पृथिवी पर बढ़ा हुआ—पृथिवी पर अपनी प्रखर किरणों को डालता हुआ–तथा अन्नादिक के लिये हितकारी वैश्वानर अपनी ज्योति से अन्धकार को दूर करता है।

सो, यह सूर्य ही द्युलोक में स्थित हुआ २ प्रकाशमान हो रहा है, अतः 'वैश्वानर' का अर्थ सूर्य है।

(६) किञ्च, हविष्पान्तीय सूक्त (ऋ० १०.८८) 'वैश्वानर' को सूर्य सिद्ध करने वाला है। जैसे—

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो ऽर्चिषा यन्॥१०.८७.१२

(देवाः विश्वस्मै भुवनाय) ईश्वरीय नियमों ने सब भूतों के लाभ के लिए (वैश्वानरं अग्निं अह्नां केतुं अकृण्वन्) वैश्वानर अग्नि को दिनों का प्रकाशक बनाया है, (यः विभातीः उषसः आततान), जो , चमकने वाली उषाओं को फैलाता है, (अपः ऊर्णोति) जल को आच्छादित करता है, (अर्चिषा तमः यन्) और ज्योति से अन्धकार को हटाता है।

सो, यह सूर्य ही दिनों का निर्माता है, अतः 'वैश्वानर' आदित्यवाची है।

उत्तरपक्ष
स्वपक्ष–स्थापन
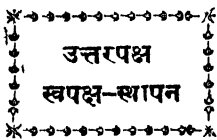
अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः—
(१) विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी, वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते।

कथंन्वयमेताभ्यां जायत इति? यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति। यावदनुपात्तो भवति, मध्यमधर्मैव तावद्भवति–उदकेन्धनः शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं सम्पद्यते–उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः।

अथादित्यात्—उदीचिप्रथमसमावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र गोमयमसंस्पर्शयन् धारयति, तत् प्रदीप्यते, सोऽयमेव सम्पद्यते।

यही आग वैश्वानर है, ऐसा शाकपूणि निरुक्तकार मानता है। वह स्वपक्ष-स्थापना में ६ हेतु देता है—

(१) ये उत्तर ज्योति-विद्युत् और सूर्य 'विश्वानर' भी हैं। और, 'वैश्वानर' यह अग्नि है जो कि उन दोनों से पैदा होती है। अर्थात्, विश्वानरस्यापत्यं वैश्वानरः—इस प्रकार यह 'वैश्वानर' तद्धित से व्यपदिष्ट है, अतः ज्ञात होता है कि 'वैश्वानर' विश्वानर से पैदा होता है। सो, यह अग्नि विद्युत् या सूर्य से पैदा की जा सकती है, अतः अग्नि ही 'वैश्वानर' हुई।

विद्युत्, और सूर्य से अग्नि की उत्पत्ति को हृदयङ्गम कराने के लिये वे लिखते हैं—

यह अग्नि इन दोनों से कैसे पैदा होती है, सो सुनो! जब वैद्युत अग्नि मेघ में रहती है, और जब तक वह उपात्त नहीं होती अर्थात् उस मेघ से पृथक् होकर नीचे पृथिवी पर नहीं गिरती, तब तक वह विद्युत्-स्वभाव वाली ही होती है—यह जल से प्रदीप्त होती है, और किसी पार्थिव वस्तु से छूने पर शान्त हो जाती है।

अर्थात्, यदि मेघ पहले की अपेक्षा और अधिक घने हो जावें तो विद्युत् और अधिक तेज हो जावेगी। और, यदि अशनि-पात हो जावे तो वह वृक्षादि किसी पार्थिव वस्तु के छूने मात्र से नष्ट हो जावेगी। परन्तु, यही विद्युत् जब नीचे गिर पड़ती है, और किसी शुष्क वृक्ष पर गिरती है, तो वह यही आग बन जाती है, जो कि जल से तो बुझ जाती है और काष्ठादि से प्रदीप्त होती है। अतः, पता लगा कि विद्युत् से आग पैदा होती है।

आदित्य से आग इस तरह पैदा होती है—जब आदित्य ऊपर की ओर पहले लौटता है, अर्थात् जब सूर्य का अभी उदय ही हुआ होता है, तब यदि कोई मनुष्य कंस या मणि (लैन्स) को भलीप्रकार साफ करके उसके सामने प्रतिताप में (फोकस में) उसे पकड़ रखता है, जहां कि सूखा गोबर उस कंस या मणि से बिना छुआए हुआ दूर पड़ा है, तब वह गोबर जल पड़ता है, सो यही अग्नि पैदा हो जाती है। अतः, स्पष्ट है कि सूर्य से भी आग पैदा होती है।

'प्रतिस्वर' प्रति पूर्वक 'स्वृ' उपतापे धातु से निष्पन्न हुआ है। प्रतिस्वर का ठीक अनुवाद अंग्रेज़ी में Focus है। मणि = आतशी शीशा या लेन्स, इसी का दूसरा प्रसिद्ध नाम 'सूर्यकान्त' है।

(२) अथाप्याह 'वैश्वानरो यतते सूर्येण' इति। न च पुनरात्मनात्मा संयतते, अन्येनैवान्यः संयतते। इत इममादधाति,

अमुतो ऽमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति, इतो ऽस्यार्चिषः, तयोर्भासोः संसक्तं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत् ।

(३,४) अथ यान्यौत्तमिकानि सूक्तानि, भागानि वा सावित्राणि वा सौर्याणि वा पौष्णानि वा वैष्णवानि वा वैश्वदेव्यानि वा, तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन् । आदित्यकर्मणा चैनमस्तोष्यन्निति—उदेषीति, अस्तमेषीति, विपर्येषीति ।

(५,६) आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्ति । अग्निकर्मणा चैनं स्तौतीति—वहसीति, पचसीति, दहसीति ॥३।२३॥

(२) किञ्च, 'वैश्वानरस्य सुमतौ' में कहा है 'वैश्वानरो यतते सूर्येण' वैश्वानर सूर्य के साथ संगत होता है। कोई अपने साथ आप संगत नहीं हुआ करता, अपितु किसी दूसरे के साथ ही मिला करता है। जब कोई मनुष्य यहां इन्धनादि के द्वारा इस अग्नि को स्थापित करता है तब, द्युलोक से आदित्य की किरणें प्रादुर्भूत होती हैं और यहां से आग की ज्वालायें, इन दोनों ज्योतिओं के समानभाव को देख कर—दोनों के समान ताप और प्रकाश को देख कर—वेद ने इस प्रकार कहा कि 'वैश्वानरो यतते सूर्येण'। अतः, एक ही वाक्य में सूर्य की विभक्ति से भिन्न विभक्ति में वैश्वानर के प्रयुक्त होने से पता लगता है कि 'वैश्वानर' सूर्य से भिन्न कोई वस्तु है, और वह आग ही होसकती है।

(३) और, यदि 'वैश्वानर' आदित्यवाची होता तो जो उत्तमस्थानीय आदित्य के सूक्त हैं, जैसे भग के, सविता के, सूर्य के, पूषा के, विष्णु के, और विश्वेदेवाः के, उन में वैश्वानरीय प्रवचन होते। अर्थात्, कहीं न कहीं भग आदि के विशेषण के तौर पर 'वैश्वानर' शब्द अवश्य प्रयुक्त होता। परन्तु ऐसा कहीं नहीं पाया गया, अतः स्पष्ट है कि 'वैश्वानर' आदित्यवाचक नहीं।

(४) और यदि 'वैश्वानर' आदित्यवाची होता तो वैश्वानर की स्तुति आदित्य-कर्म से अवश्य पायी जाती कि तू उदय होता है, तू अस्त होता है, तू लौट कर आता है इत्यादि। परन्तु ऐसा भी कहीं नहीं पाया गया। अतः, वैश्वानर आदित्यवाचक नहीं।

(५) परन्तु इस के विपरीत आग्नेय सूक्तों में ही, विशेषण रूप से वैश्वानरीय प्रवचन पाये जाते हैं। (६) और अग्नि-कर्म से ही वेद उसकी स्तुति करता

है कि तू ले जाता है, तू पकाता है, तू दग्ध करता है इत्यादि । अतः, स्पष्ट है कि वैश्वानर आदित्यवाची नहीं ।

एवं, शाकपूणि ने 'वैश्वानर' को अग्निवाचक सिद्ध करने के लिए ये ६ हेतु दिये हैं—(१) तद्धित निर्वचन का होना । (२) एक वाक्य में भिन्न विभक्ति से व्यपदिष्ट किया जाना । (३) औत्तमिक सूक्तों में वैश्वानर का न आना । (४) आदित्यकर्म से स्तुति का न पाया जाना । (५) आग्नेय सूक्तों में 'वैश्वानर' का प्रयुक्त होना । (६) और अग्निकर्म से स्तुति का पाया जाना ॥३।२३॥

* सप्तम पाद *

अब स्वपक्ष–स्थापना के पश्चात् यास्काचार्य दोनों पूर्वपक्षों का क्रमशः खण्डन करते हैं—

विद्युत्–पक्ष का खण्डन

यथो एतद्वर्षकर्मणा ह्येनं स्तौतीत्यस्मिन्नप्येतदुपपद्यते—

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः । भूमिं पर्जन्या
जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥ १.१६४.५१

इति सा निगदव्याख्याता ।

जो यह कहा कि वृष्टिकर्म से वेद इस की स्तुति करता है, अतः 'वैश्वानर' का अर्थ विद्युत् है, यह ठीक नहीं । क्योंकि वृष्टिकर्म इस अग्नि में भी उत्पन्न होता है, जैसे कि 'समानमेतदुदकं' आदि मंत्र में बतलाया गया है । मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(एतत् समानं उदकं) यह वही समान जल (अहोभिः उदेति अव च) कालान्तर से ऊपर जाता है, और नीचे आता है । (पर्जन्याः भूमिं जिन्वन्ति) उस जल से मेघ भूमि को सींचते हैं, (अग्नयः दिवं जिन्वन्ति) और अग्नियें अन्तरिक्ष को सींचती हैं ।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि अग्निहोत्र के द्वारा हम जिस प्रकार के मेघों का निर्माण करेंगे, उसी प्रकार का शुद्ध या अशुद्ध जल वृष्टि के

द्वारा हमें प्राप्त होगा। अतः, मेघों का निर्माण या वृष्टिकर्म अग्नि के आधीन है। इसी बात को 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिस्ततोऽन्नं ततः प्रजा' में मनु ने प्रमाणित किया है।

उपर्युक्त मंत्र का अर्थ बड़ा सुगम है, अतः यास्क ने नहीं किया।

अब यास्काचार्य वृष्टिकर्म आदित्य का है—इसे सिद्ध करने के लिए एक वेदमंत्र प्रस्तुत करते हैं—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥१.१६४.४७

कृष्णं निरयणं=रात्रिरादित्यस्य। हरयः सुपर्णा=हरणाः आदित्यरश्मयः, ते यदाऽमुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्त्तन्ते सहस्थानादुदकस्य, आदिद्=अथ, घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते। (घृतमित्युदकनाम, जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः)।

अथापि ब्राह्मणं भवति 'अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति धामच्छद् दिवि खलु भूत्वा वर्षति। मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति'। 'यदा खलु वासावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्त्तते ऽथ वर्षति' इति।

(हरयः सुपर्णाः) रसको हरने वाली सूर्य–रश्मियें (अपः वसानाः) जल को पहिन कर (दिवं उत्पतन्ति) उत्तरायण काल में अन्तरिक्ष में जाती हैं, (ते कृष्णं नियाणं) और फिर वे दक्षिणायन के समय (ऋतस्य सदनात्) जल के स्थान से—अन्तरिक्ष से (आववृत्रन्) लौट आती हैं, (आत् इत् घृतेन पृथिवी व्युद्यते) और तब जल से पृथिवी तर होजाती है।

सूर्य २३ जून से २२ दिसम्बर तक ६ मास दक्षिणायन रहता है, और २३ दिसम्बर से २२ जून तक ६ मास उत्तरायण। इस उत्तरायण काल में सूर्य अपनी रश्मिओं से जल का आकर्षण करके उन्हें अन्तरिक्ष में धारण करता रहता है, और जब वह दक्षिणायन की ओर जाने लगता है, तब ही वर्षा ऋतु प्रारम्भ होती है।

एवं, इस मंत्र में वृष्टिकर्म आदित्य का बतलाया गया है।

कृष्णनियान, कृष्णनिरयण, कृष्णमार्ग, दक्षिणायन, आदित्यरात्रि, ये

सब समानार्थक हैं। दक्षिणायन को कृष्णनियान या आदित्यरात्रि इस लिए कहा गया है कि इस काल में दिनों की अपेक्षा रातें बड़ी होती हैं। हरि=हरण=हर्ता। सुपर्णा=सूर्यरश्मि। ऋतस्य सदनात्=उदकस्य महस्थानात्=अन्तरिक्षात्। अतएव, निघण्टु में अन्तरिक्ष का एक नाम 'समुद्र' भी है। अन्तरिक्ष में सदा जल-राशि विद्यमान रहती है। घृत=जल, क्षिरणार्थक 'घृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय (उणा० ३. ८९)। जल सींचा जाता है।

वृष्टिकर्म अग्नि और आदित्य का है, इसकी सिद्धि में एक २ मंत्र तो दिया जा चुका, अब यास्काचार्य एक २ ब्राह्मणवचन भी उद्धृत करते हैं—

वृष्टिकर्म अग्नि का है, इसकी सिद्धि में 'अग्निर्वा इतो वृष्टि' आदि ब्राह्मण-वचन है। उसका अर्थ यह है कि अग्नि यहां से वृष्टिजल को प्रेरित करती है, और फिर वह मेघ अन्तरिक्ष में प्रकाशावरक होकर बरसता है। एवं, यज्ञकर्ता मनुष्य यज्ञों के द्वारा पैदा की गई वृष्टि को प्राप्त करते हैं।

'यदा खलु वासावादित्यः' आदि ब्राह्मणवचन वृष्टिकर्म आदित्य का बतलाता है। वह कहता है कि जब सूर्य अपनी रश्मियों के साथ नीचे की ओर लौटता है, दक्षिणायन की ओर आता है, तब वर्षा होती है।

इस प्रकार पता लगा कि वृष्टिकर्म अग्नि, आदित्य, विद्युत्-सभी का है। अतः, विद्युत् का वृष्टिकर्म होने के कारण विद्युत् ही 'वैश्वानर' है—यह हेतु अनैकान्तिक दोष वाला है।

आदित्यपक्ष-खण्डन

(१) यथो एतद्रु रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित इति, आम्नायवचनादेतद्भवति।

(२) यथो एतद्वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवतीति, अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति। अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च।

(३) यथो एतद्ब्राह्मणं भवतीति, बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। पृथिवी वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानर इति।

(४) यथो एतन्निवित्सौर्यवैश्वानरी भवति, अस्यैव सा भवति । 'यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत्' इति । एष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते ।

(५) यथो एतच्छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति, अस्यैव तद्भवति 'जमदग्निभिराहुतः' इति । जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति ॥ १ । २४ ॥

(६) यथो एतद्धविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवतीति, अस्यैव तद्भवति—

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधयापप्रथन्त ॥ १०.८८.१

हविर्यत् पानीयमजरं सूर्यविदि दिविस्पृश्यभिहुतं जुष्टमग्नौ तस्य भरणाय च भावनाय च धारणाय च—एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो देवा इममग्निमन्नेनापप्रथन्त ॥ २ । २५ ।

(१) जो यह कहा कि आरोहण के अनुसार प्रत्यवरोहण अभीष्ट है । सो, यह तो शास्त्र के वचन से होता है । अर्थात्, तृतीयसवन में जो वैश्वानरीय सूक्त से गान प्रारम्भ होता है, वह तो विधि-वचन के अनुकूल है, परन्तु लोकों का आरोहण अर्थवाद मात्र है, फलस्तुतिमात्र है, 'वैश्वानर' आदि से द्युस्थान आदि के किसी संबन्ध का ज्ञापक नहीं ।

(३) जो यह कहा कि सूर्यवाची 'वैश्वानर' के लिए ब्राह्मणवचन है । यह भी हेतु ठीक नहीं, क्योंकि ब्राह्मण बहुभक्तिवादी हैं । अर्थात्, वे विशेषण के तौर पर गौणभाव से अनेक अर्थों में 'वैश्वानर' को प्रयुक्त करते हैं, जैसे 'पृथिवी वैश्वानरः' आदि से पृथिवी, संवत्सर, और ब्राह्मण को भी वैश्वानर कहा गया है ।

(४) जो यह कहा कि निवित् स्तोत्र 'वैश्वानर' को सूर्यवाची दर्शाता है । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह निवित् स्तोत्र तो इसी अग्नि को 'वैश्वानर' कहता है, आदित्य को नहीं । जैसे, उसी आठवें निवित् में 'आयो द्यां' आदि से

पहले 'यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो अदीदेत्' यह वचन आता है। सो, निस्सन्देह यह अग्नि ही मानुषी प्रजा से प्रदीप्त की जाती है, आदित्य नहीं।

'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्' भी तदनुसार अग्निपरक ही है। अर्थात्, यह प्रज्वलित अग्नि अन्तरिक्ष और पृथिवी, दोनों को आभासित करती है।

(५) जो यह कहा कि छान्दोमिक सूक्त 'वैश्वानर' को सूर्यवाची दर्शाता है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह छान्दोमिक सूक्त तो इसी अग्नि को 'वैश्वानर' सिद्ध करने वाला है, आदित्य को नहीं। जैसे, उसी सूक्त में 'जमदग्निभिराहुतः'[1] वचन आया है, जिसका अर्थ है, यज्ञकर्ताओं से होमा हुआ वैश्वानर। सो, ऋत्विज् लोग अग्नि में ही आहुतियें डालते हैं, आदित्य में नहीं। अतः, यहां निस्सन्देह 'वैश्वानर' का अर्थ आग है, सूर्य नहीं।

एवं, 'दिविपृष्टो अरोचत' आदि मंत्र भी तदनुसार अग्निपरक ही है। अतः, उसका अर्थ इसप्रकार होगा—बड़ी ऊंची २ ज्वालाओं से अन्तरिक्ष को साथ छूती हुई प्रवृद्ध आग्न प्रकाशित हो रही है। यह अन्तरिक्ष के लिए हितकारी और अपने सामर्थ्य से पृथिवीलोक को बढ़ाती करती हुई, अपनी ज्योति से पापान्धकार को दूर करती है।

यज्ञ के द्वारा शुद्ध वायु और उत्तम मेघों की उत्पत्ति के होने से, मनुष्यों के खाद्य पदार्थ अच्छे पैदा होते हैं, जिन के सेवन से मनुष्य सात्त्विक वृत्ति वाले बनते हैं।

जमदग्नि = प्रभूत अग्नि वाला = यज्ञकर्ता। (क) जमित अग्नि—जमत् अग्नि—जमदग्नि। यहां 'जम' धातु गत्यर्थक है। (ख) प्रज्वलित अग्नि वाला। जमत् अग्नि—जमदग्नि, निघण्टु में 'जमत्' शब्द ज्वलत्—नामों में पढ़ा हुआ है॥ १। २४॥

(६) जो यह कहा कि हविष्पान्तीय सूक्त 'वैश्वानर' को सूर्यवाची सिद्ध करता है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह सूक्त तो इसी अग्नि का प्रतिपादन करता है। जैसे कि उस सूक्त का पहला ही मंत्र 'हविष्पान्तमजरं' आदि है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(स्वर्विदि दिविस्पृशि अग्नौ) सूर्य की तरह वर्तमान—अर्थात्, जैसे सूर्य प्रकाश और ताप देता है, तथा अपनी किरणों से रसों को फाड़ता है, एवं प्रकाश और ताप को देने वाली तथा हवि को फाड़ने वाली—और ऊंचो २ ज्वालाओं से अन्तरिक्ष को छूती हुई वैश्वानर अग्नि में (पान्तं, जुष्टं, अजरं हविः आहुतं) जिस दुग्ध घृत आदि रस, और प्रीत—स्वच्छ—प्रभूत हवि को डालते हैं, (देवाः तस्य भर्मणे) विद्वान् लोग उस हवि को जगत्पोषक बनाने के लिये (भुवनाय) सुगन्धिप्रद करने के लिये (धर्मणे) और जगद्धारक बनाने के लिये (स्वधया

अपप्रथन्त) अग्नि को हवि के साथ निरन्तर विस्तृत करते हैं—निरन्तर प्रज्वलित रखते हैं।

अर्थात्, देवलोग पुष्टि के लिये, भूमण्डल को सुगन्धि से वासित करने के लिये, और उत्तम वृष्टि तथा रोगनाश के द्वारा जगत् के धारण के लिये बहुत से स्वच्छ किए हुए दुग्ध घृतादि रसों और अन्नादि पदार्थों से निरन्तर यज्ञ करते रहते हैं।

पान्तम्=पानीयम्=रसपदार्थ। स्व्:=सूर्य। भुवन=भावन, यहां अन्तर्भावि 'णिच्' है। सुगन्धियुक्त द्रव्यों से किसी वस्तु को वासित करने का नाम 'भावित' प्रसिद्ध है।

एवं, उपर्युक्त मंत्र से स्पष्ट है कि यहां 'वैश्वानर' अग्निवाचक ही है, आदित्य वाचक नहीं।

इस के अनुसार 'विश्वस्मा अग्निं' आदि मंत्र का अर्थ भी अग्निपरक है, जो इस प्रकार है—विद्वान् लोग सब प्राणिओं के लाभ के लिये अग्नि को उत्तम दिनों का प्रकाशक बनाते हैं, जो कि चमकने वाली उषाओं को फैलाता है, जल को आच्छादित करता है, और ज्योति से पापान्धकार को हटाता है ॥ २। २५ ॥

अथाप्याह—

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम्।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥ ८

अपामुपस्थ उपस्थाने महत्यन्तरिक्षलोक आसीना महान्तः इति वा, अगृह्णा माध्यमिका देवगणाः। विश इव राजानम् उपतस्थुर्ऋग्मियम् ऋग्मन्तमिति वा, अर्चनीयमिति वा, पूजनीयमिति वा। अहरद् यं दूतो देवानां विवस्वत आदित्यात्। विवस्वान् विवासनवान्। प्रेरितवतः परागताद्वाऽस्याग्नेर्वैश्वानरस्य मातरिश्वानमाहर्तारमाह। मातरिश्वा वायुः, मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति, मातर्याशवनितीति वा ॥ ३। २६ ॥

एवं, दोनों पूर्वपक्षों का खण्डन करने के पश्चात्, अब यास्काचार्य वैश्वानर

को स्पष्टरूप से अग्निवाचक सिद्ध करने के लिये 'अपामुपस्थे' आदि एक अन्य मंत्र (६. ८. ४) उद्धृत करते हैं, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(अपां उपस्थे महिषाः अगृभ्णत) अन्तरिक्ष में वर्तमान महान् वायुएं विश्वानर आदित्य से उत्पन्न हुई वैश्वानर अग्नि को ग्रहण करती हैं, (ऋग्मियं राजानं विशः उपतस्थुः) और जिस प्रकार वेदज्ञाता अर्चनीय या पूजनीय राजा को प्रजायें अपने में धारण करती हैं, एवं उस अग्नि को अपने में धारण करती हैं। (दूतः मातरिश्वा) दूतकर्म कर्म करने वाला, अर्थात् स्थान से स्थानान्तर में वस्तु को ले जाने वाला वायु (परावतः विवस्वतः) सुदूरवर्ती आदित्य से (वैश्वानरं अग्निं आ अभरत्) उस वैश्वानर अग्नि का आहरण करता है।

सूर्य से प्रकाश तथा ताप के लाने का माध्यम वायु है, इस को २६० पृ० में प्रमाणित कर आये हैं। और, लैन्स आदि के प्रयोग से अग्नि सूर्य से लायी जाती है, इसे भी अभी दिखला आये हैं।

एवं, उपर्युक्त मंत्र में स्पष्ट तौर से आह्रियमाण, आहर्ता, और जहां से आहरण किया जाता है—ये तीन पदार्थ भिन्न २ बतलाये हैं। वैश्वानर अग्नि आह्रियमाण है, वायु आहर्ता है, और सूर्य से आहरण किया जाता है। अतः, निस्सन्देह 'वैश्वानर' सूर्य और वायु से भिन्न है, और वह अग्नि है।

अपाम् उपस्थे = अन्तरिक्षलोके। 'महिषाः, और महिषा—ये दो पदच्छेद करके यास्काचार्य 'महान्तः' और 'महति' ये दो अर्थ करते हैं। महिषा = महिषे = महति। 'विशः राजानम्' यहां लुप्तोपमा है। **ऋग्मिय**—(क) वेदज्ञाता, ऋच् से मतुप् अर्थ में 'मिय' प्रत्यय। (ख) स्तुत्य, 'ऋच्' स्तुतौ से 'तव्यत्' अर्थ में 'मिय' प्रत्यय। (ग) पूजनीय, 'अर्च' पूजायां के संप्रसारण रूप 'ऋच्' से 'मिय' प्रत्यय। अभरत् = अहरत्। **विवस्वत्** = अन्धकार को दूर करने वाला सूर्य। विवासनवत्—विवस्वत्—विवस्वत्।

परावत् = दूरवर्ती। (क) प्रेरितवत्—दूर किया हुआ। 'प्रेरित' अर्थ में विद्यमान 'परा' उपसर्ग से स्वार्थ में 'वति' प्रत्यय (पाणि० ५.१.११८)। (ख) परागत = दूर गया हुआ, 'परागत' अर्थ में विद्यमान 'परा' से 'वति' प्रत्यय। **मातरिश्वन्** = वायु। मातृ = अन्तरिक्ष। (क) मातरि श्वसिति गच्छतीति मातरिश्वा, मातरि श्वस्—मातरिश्वन्। (ख) मातरि आशु अनिति गच्छतीति मातरिश्वा, मातरि शु अन्—मातरिश्वन्। शु और आशु समानार्थक हैं (३७२ पृ०) ॥ ३ । २६ ॥

हविष्पान्तीय सूक्त पर विचार

अब यास्काचार्य उसी हविष्पान्तीय सूक्त के पाच और वेदमंत्र (६,१०,११,१७,१९) उद्धृत करके अपने पक्ष को परिपुष्ट करते हैं।

अथैनमेताभ्यां सर्वाणि स्थानान्यभ्यापादं स्तौति—

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥१०.८८.६

मूर्द्धा मूर्त्तमस्मिन्धीयते। मूर्द्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तमग्निः, ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् स एव। प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानान्देवानां यज्ञसम्पादिनाम्। अपो यत्कर्म चरति प्रजानन्, सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरते त्वरमाणः॥ ४। २७॥

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्।
तमू अकृण्वँस्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः॥१०॥

स्तोमेन हि यं दिवि देवा अग्निमजनयञ्छक्तिभिः कर्मभिर्द्यावा-पृथिव्योः पूरणं, तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। 'यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्यः' इति हि ब्राह्मणम्॥ ५।२८॥

(यत् तूर्णिः अग्निः अपः प्रजानन् चरति) जो वेगवती वैश्वानर अग्नि अपने कर्म को जानती हुई सी तीनों लोकों में संचरण करती है, वह अग्नि (नक्तं भुवः मूर्द्धा भवति) रात्रि के समय सब मनुष्यों की मूर्द्धा होती है, अर्थात् सिर की तरह पदार्थ-प्रकाशक होती है, (ततः प्रातः उद्यन् सूर्यः जायते) और फिर वही आग प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य के रूप में प्रकट होती है। (यज्ञियानां एतां मायां तु) यज्ञसंपादक अग्नि विद्युत् और सूर्य देवों के इस विज्ञान को तत्त्ववेत्ता लोग समझते हैं।

मूर्द्धन्—मूर्त+धा+कनिन् (उणा० १.१५९) मूर्तधन्—मूर्धन—मूर्द्धन्। शिर के होने पर ही मूर्त शरीर धारण किया जाता है, अन्यथा प्राणि मर जावे। भुवः = सर्वेषां भूतानाम्। माया = प्रज्ञा = विज्ञान। अपस् = कर्म। तूर्णिः = त्वरमाणः।

अग्नि के त्रिस्थानत्व की स्पष्ट सिद्धि के लिये 'स्तोमेन हि दिवि देवासः' आदि अगला मंत्र है, जिसका अर्थ शाकपूणि इस प्रकार करता है—

(देवासः स्तोमेन हि) पञ्चभूतों ने अपने समुदाय से (शक्तिभिः रोदसिप्रां अग्निं दिवि अजीजनन्) ताप प्रकाशादि कर्मों से द्यावापृथिवी के पालक जिस अग्नि को द्युलोक में पैदा किया, (तं उ त्रेधाभुवे अकृण्वन्) उस को त्रेधाभाव के लिये, तीन विभागों में बांटने के लिये पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक, इन तीन स्थानों में बनाया। (सः सर्वरूपाः ओषधीः पचति) वह तीन भागों में विभक्त वैश्वानर अग्नि सब प्रकार की ओषधियों को पकाती है।

शक्ति = कर्म। प्रा = पूरण। 'कम्' पदपूरक है।

इसीप्रकार 'यदस्य दिवि' आदि ब्राह्मणवचन भी है कि जो इस अग्नि का द्युलोक में तीसरा स्वरूप है, वह आदित्य है।

विद्युत् और सूर्य में भी पार्थिव अग्नि की तरह ताप और प्रकाश का समान धर्म पाया जाता है। अतः, वेद इसी अग्नि को 'वैश्वानर' मान कर उसका तीनों लोकों में वर्णन कर रहा है ॥ ५ । २८ ॥

तदग्नीकृत्य स्तौति। अथैनमेतयादित्यीकृत्य स्तौति—

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्। यदा चरिष्णू मिथूनावभूतामादित्प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा ॥ १०.८८.११

यदैदेनमदधुर्यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् अदितेः पुत्रम्, यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूतां सर्वदा सहचारिणौ उषाश्चादित्यश्च। मिथुनौ कस्मात्? मिनोतिः श्रयतिकर्मा, 'थु' इति नामकरणः, थकारो वा, नयतिः परः, वनिर्वा। समाश्रितावन्योऽन्यं नयतो वनुतो वा। मनुष्यमिथुनावप्येतस्मादेव। मेथन्तावन्योऽन्यं वनुत इति वा ॥ ६ । २९ ॥

एवं, हविष्पान्तीय सूक्त की इन पहली १० ऋचाओं में वेद इस 'वैश्वानर' को अग्निरूप में स्तुति करता है। अब, इसको 'यदेदेनमदधुः' इस ऋचा से आदित्यरूप में बखानता है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(यदा इत् यज्ञियासः देवाः) जब यज्ञसंपादक पञ्चभूत (आदितेयम् एनं सूर्यं) अविनाशी प्रकृति से उत्पन्न इस वैश्वानर सूर्य को (दिवि अदधुः) द्युलोक में स्थापित करते हैं, (यदा चरिष्णू मिथुनौ अभूताम्) और जब सहचारी उषा (प्रकाश) तथा आदित्य प्रादुर्भूत होते हैं, (आत् इत् विश्वा भुवनानि प्रापश्यन्) तब सब प्राणि भलीप्रकार देखते हैं।

आदितेय—अदिति का पुत्र। अभूताम्=प्रादुरभूताम्। चरिष्णू=सर्वदा सहचारिणौ। मिथुनौ=उषा और आदित्य। मिथुनौ किससे ? (क) 'मि' धातु आश्रयार्थक है, उससे 'थु' प्रत्यय, और इस से आगे 'णीञ्' धातु है। मिथू समाश्रितौ अन्योऽन्यं नयतः—उषा और सूर्य परस्पराश्रित होते हुए एक दूसरे को प्राप्त करते हैं। मिथुनय-मिथुन। (ख) अथवा, 'मि' धातु से 'थ' प्रत्यय, और उससे आगे 'वन' धातु है, ये परस्पराश्रित होते हुए एक दूसरे को सेवते हैं। मि+थ+वन्—मिथुन, 'व' को संप्रसारण 'उ'। मनुष्य-मिथुन अर्थात् स्त्रीपुरुष के जोड़े का वाचक 'मिथुन' शब्द भी उपर्युक्त दोनों निर्वचनों से निष्पन्न होता है। अथवा, 'मेथृ' मेधाहिंसनयोः, और 'वन' संभक्तौ—इन दो धातुओं के योग से भी स्त्रीपुरुष वाचक 'मिथुन' शब्द सिद्ध होता है। मेथन्तौ अन्योऽन्यं वनुतः, ये एक दूसरे को बुद्धि देते हुए और किसी बुरे कर्म के करने पर ताड़ना करते हुए एक दूसरे को सेवते हैं॥ ६।२९॥

अथैनमेतयाग्नीकृत्य स्तौति—

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद।
आशेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत्॥१०.८८.१७

यत्र विवदेते दैव्यौ होतारावयं चाग्निरसौ च मध्यमः, कतरो नौ यज्ञे भूयो वेदेति। आशक्नुवन्ति तत्सहमदनं समानख्याना ऋत्विजः। तेषां यज्ञं समश्नुवानानां को न इदं विवक्ष्यतीति॥ ७। ३०॥

अब, आगे इस वैश्वानर को वेद 'यत्रा वदेते' आदि ऋचा से अग्निरूप में बखानता है, जिस का अर्थ इस प्रकार है—

(यत्र अवरः परः च विवदेते) जब पार्थिव और आन्तरिक्ष—ये दोनों अग्नियें परस्पर में विवाद करती हैं (यज्ञन्योः नौ कः वेद) कि हमारे शिल्पादि यज्ञ की नेत्रिओं में से कौन अधिक यज्ञ को जानता है, अर्थात् हम में से कौन अधिक यज्ञोपयोगी हैं (सखायः सधमादं यज्ञं आशेकुः) कि जिस से समान प्रसिद्धि वाले ऋत्विज् लोग सब को आनन्द देने वाले यज्ञ को करने में समर्थ होते हैं। (नक्षन्त कः इदं विवोचत्) तब, यज्ञ को प्राप्त किए हुए हमारे ऋत्विजों में से कौन इसको विभक्त करके कह सकेगा कि अमुक अग्नि अधिक उपयोगी है ? अर्थात् , दोनों अग्नियें ही समानभाव से उपयोगी हैं, किसी को अधिक या कम उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

एवं, इस मंत्र में भी अवर अग्नि का वर्णन होने से हविष्पान्तीय सूक्त 'वैश्वानर' को अग्निवाची प्रतिपादित करता है।

आगे आप्रीसूक्त में 'दैव्या होतारा' आठवां देवता है। उन्हीं को यहां अवर और पर अग्नि के नाम से उल्लिखित किया गया है। सधमाद्=सहमदन। सखि=समानख्यान=समान ख्याति वाला=समानजातीय। एवं, यहां समान पेशे वालों को 'सखि' कहा गया है, अतः ऋत्विज् लोगों का भी एक सख्य है। नक्षन्त=समश्नुवानानाम् । 'पचत' की तरह (४१२ पृ०) नक्षन्त भी व्याप्त्यर्थक 'नक्ष' धातु से निष्पन्न हुआ नाम है, आख्यात नहीं। अब 'नक्षन्त' के षष्ठीबहुवचन का 'सुपां सुलुक्' से लुक् है ॥ ७। ३० ॥

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो वसते मातरिश्वः।
तावद्दधात्युपयज्ञमायन्ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन्॥ १०.८८.१९

यावन्मात्रमुषसः प्रत्यक्तं भवति प्रतिदर्शनमिति वा। अस्त्युपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः, इहेव निधेहीति यथा। सुपर्ण्यः सुपतना एता रात्रयो वसते, मातरिश्वन्। ज्योतिर्वर्णस्य, तावदुपदधाति यज्ञमागच्छन् ब्राह्मणो होताऽस्याग्नेर्होतुरवरो निषीदन्।

'वैश्वानर' को अग्निवाची सिद्ध करने के लिये 'यावन्मात्रं' आदि अगली ऋचा और अधिक स्पष्ट है। उसका अर्थ इसप्रकार है—

(यावन्मात्रं उषसः प्रतीकं) जब उषाकाल का प्रत्यागमन या पुनर्दर्शन होता है, (न सुपर्ण्यः वसते) और जब रात्रि उस प्रकाश की ज्योति को ढांप लेती है, (तावत्) तब उन दोनों कालों में (मातरिश्वः) हे प्राणधारी मनुष्य ! (ब्राह्मणः होतुः यज्ञं आयन् अवरः निषीदन्) वेदज्ञ द्विज यज्ञशाला में आकर, और जिस में होम किया जावे उस होत्र अग्नि के पश्चिम भाग में बैठकर, अर्थात् पूर्वाभिमुख होकर (उपदधाति) वैश्वानर अग्नि का आधान करता है।

एवं, इस मंत्र में सूर्योदय और सूर्यास्त, दोनों समयों में यज्ञवेदि के पश्चिम भाग में बैठकर प्रतिदिन यज्ञ करने की द्विजमात्र को आज्ञा दी गई है।

प्रतीक = प्रत्यक्त (प्रत्यागमन) प्रतिदर्शन (पुनर्दर्शन)। उपमावाची 'इव' का प्रयोग संप्रति अर्थ में पाया जाता है, जैसे 'इहेव निधेहि' (अब यहां रख दे) में 'इव' प्रयुक्त है। सुपर्णी = रात्रि, क्योंकि यह सुपतन है, अर्थात् इसका आगमन प्राणिओं के लिये सुखकारी है। ज्योतिर्वर्णस्य = प्रकाश की ज्योति। अवरः = अवरस्तात्।

एवं, 'यदेदेनमदधुः' इस एक मंत्र के सिवाय सारा हविष्पान्तीय सूक्त 'वैश्वानर' से अग्नि का ही प्रतिपादन कर रहा है, आदित्य या विद्युत् का नहीं। अतः, वैश्वानर का मुख्य अर्थ अग्नि ही है।

होतृजपस्त्वनग्निर्वैश्वानरीयो भवति—'देव सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण' इति। इममेवाग्निं सवितारमाह सर्वस्य प्रसवितारम्, मध्यमं वोत्तमं वा पितरम्।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥ ८। ३१॥

(प्रश्न) परन्तु 'देव सवितरेतं' आदि होता का जपवचन (ऐ० ब्रा० २.५.५) तो अग्निभिन्न वैश्वानर का है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—(सवितः देव! एतं त्वा अग्निं) हे सर्वैश्वर्य के उत्पादक और सुखदाता! इस तुझ अग्नि को (वैश्वानरेण पित्रा सह) शिल्पादि यज्ञों के कर्ता शिल्पीलोग वैश्वानर पिता के साथ, अर्थात् पितृस्थानीय विद्युत् या सूर्य के साथ (होत्राय वृणते) होत्रकर्म के लिये—शिल्पादि यज्ञों की सिद्धि के लिये—वरते हैं।

एवं, यहां 'वैश्वानर' को अग्नि का पिता कहा है। पिता और पुत्र एक नहीं होसकते, दोनों भिन्न २ ही होगें। विद्युत् या सूर्य से अग्नि की उत्पत्ति होती है, अतः अग्नि उन दोनों का पुत्र है। इन लिए यहां स्पष्टतया 'वैश्वानर' को अग्नि से भिन्न विद्युत् या सूर्य बतलाया गया है।

इस ब्राह्मणवचन में यज्ञों की निष्पत्ति विद्युत् और सूर्य से भी दर्शायी गई है। अतः, ज्ञात होता है कि उस समय के आर्य लोग इन दोनों से शिल्पयज्ञों को सिद्ध किया करते थे।

(उत्तर) यह ठीक है कि उपर्युक्त वचन में 'वैश्वानर' अग्निवाची नहीं। किन्तु 'आदूतो अग्निमभरत्' इस वचन से हम भी स्पष्टतया यह सिद्ध कर चुके हैं कि 'वैश्वानर' विद्युत् सूर्य से भिन्न कोई अग्नि है जो कि यही आग है। एवं, हम और तुम दोनों समानबल हैं। और फिर, हमारे पूर्वोक्त ६ हेतु विशेष हैं, जो कि बड़े प्रबल हैं। अतः, यद्यपि 'वैश्वानर' के उपर्युक्त अन्य अर्थ भी हैं, परन्तु जो 'वैश्वानर' सूक्त को भजता है और जिस के लिए हवि दी जाती है, अर्थात् जो मुख्यतया संपूर्ण सूक्त का देवता है और जो हविर्भाक् है, वह यही आग है। ये अन्तरिक्षस्थानीय और द्युलोकस्थानीय विद्युत् तथा सूर्य देवता औपचारिक अर्थ को ही इस 'वैश्वानर' नाम से सहते हैं॥ ८। ३१॥
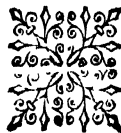
अष्टम अध्याय ।
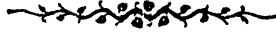
* प्रथम पाद *

४. द्रविणोदस्

द्रविणोदाः कस्मात् ? धनं द्रविणमुच्यते, यदेनदभिद्रवन्ति । बलं वा द्रविणं, यदेनेनाभिद्रवन्ति । तस्य दाता द्रविणोदाः । तस्यैषा भवति—

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे । यज्ञेषु देवमीळते ॥

द्रविणोदा यस्तम् । द्रविणसं इति द्रविणसादिन इति वा, द्रविणसानिन इति वा । द्रविणसस्तस्मात् पिबत्विति वा । यज्ञेषु देवमीळते याचन्ति स्तुवन्ति वर्द्धयन्ति पूजयन्तीति वा ॥ १ ॥

द्रविणोदस् कैसे ? धन को 'द्रविण' कहते हैं, यतः इस की ओर सब मनुष्य दौड़ते हैं । और, इसीप्रकार बल को भी 'द्रविण' कहते हैं, यतः इसके कारण प्राणि दूसरे का मुकाबला करते हैं । अतः, उस धन या बल के दाता को 'द्रविणोदस्' कहा जावेगा । 'द्रु' गतौ से कर्म या करण में 'इनन्' प्रत्यय (उणा० २.५०) द्रविण+'दास्' दाने+क्विप्—द्रविणदास् द्रविणोदस् । उस 'द्रविणोदस्' की 'द्रविणोदा द्रविणसो' ऋचा (१. १५. ७) है, जिस का अर्थ इस प्रकार है—

(क) (ग्रावहस्तासः द्रविणसः) अनेक प्रकार के पाषाणों और शिलाओं को हाथ में लिये हुए द्रव्यसंपादक शिल्पी लोग (अध्वरे यज्ञेषु) निर्विघ्न राष्ट्र तथा यज्ञों में, (द्रविणोदाः देवं ईळते) जो धन या बल को देने वाली अग्नि है, उस व्यवहारोपयोगी द्रविणोदा अग्नि की याचना करते हैं ।

(ख) (देवं ग्रावहस्तासः अध्वरे यज्ञेषु ईळते) जिस व्यवहारोपयोगी द्रविणोदा अग्नि को ग्रावहस्ता शिल्पीलोग निर्विघ्न राष्ट्र तथा यज्ञों में अधिकाधिक प्रयुक्त करते हैं, (द्रविणोदाः द्रविणसः पिबतु) वह द्रविणोदा अग्नि द्रव्यसंपादक शिल्पी से जलपान करे । अर्थात्, शिल्पी लोग अग्नि के साथ जल को संयुक्त करके अपने शिल्पकर्म सिद्ध करते हैं ।

'यः द्रविणोदास्तम्' इसप्रकार 'द्रविणोदस्' को द्वितीयान्त, अथवा यथापठित एकवचनान्त मानकर यास्क ने मंत्र का अर्थ किया है। तदनुसार उपर्युक्त दोनों अर्थ दिये गये हैं। प्रथम पक्ष में 'द्रविणोदसः' प्रथमाबहुवचनान्त है, और द्वितीयपक्ष में पञ्चमी का एकवचन। पञ्चम्यन्त मानने पर अर्थपूर्ति के लिए 'पिबतु' का अध्याहार किया गया है।

द्रविणस्—द्रविण+सद्—द्रविणस्, द्रविण+षणु—द्रविणस्। द्रव्य के लिये कर्म करने वाले या द्रव्य को पाने वाले शिल्पी को 'द्रविणस्' कहा जावेगा। 'ईड' धातु याचना, स्तुति, वृद्धि और पूजा—इन चार अर्थों में मानी गई है। ॥१॥

पूर्वपक्ष

तत् को द्रविणोदाः? इन्द्र इति क्रौष्टुकिः। (१) स बलधनयोर्दातृतमः, तस्य च सर्वा बलकृतिः। 'ओजसो जातमुत मन्य एनम्' इति चाह।

(२) अथाप्यग्निं द्राविणोदसमाह, एष पुनरेतस्माज्जायते। 'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान' इत्यपि निगमो भवति।

(३) अथाप्यृतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति। तेषां पुनः पात्रस्य 'इन्द्रपानम्' इति भवति।

(४) अथाप्येनं सोमपानेन स्तौति।

(५) अथाप्याह 'द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः' इति।

यहां 'द्रविणोदस्' कौन है? क्रौष्टुकि निरुक्तकार कहता है कि विद्युत् है। वह अपने पक्ष में निम्नलिखित ५ हेतु देता है—

(१) द्रविणोदस् का शब्दार्थ है धनदाता या बलदाता। सो, विद्युत् बल और धन, दोनों का श्रेष्ठ दाता है, और उसी का संपूर्ण बलकर्म है। ऐसा ही निम्नलिखित मंत्र से भी प्रतिपादित हो रहा है।

अश्वादियायेति यद्वदन्त्योजसो जातमुत मन्य एनम्।
मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ यतः प्रजज्ञ इन्द्रो अस्य वेद ॥ १०.७३.१०

देवता—इन्द्र। (अश्वात् इयाय इति यत् वदन्ति) विद्युत् सूर्य से पैदा होती है—ऐसा जो कहते हैं, (उत एनं ओजसः जातं मन्ये) उसे मैं बल से, अग्नि

से उत्पन्न हुई मानता हूं। (मन्योः इयाय) यह विद्युत् ताड़न से—संघर्षण से—पैदा होती है, (हर्म्येषु तस्थौ) और उष्णतायुक्त सब पदार्थों में स्थित रहती है। (यतः प्रजज्ञे, अस्य इन्द्रः वेद) एवं, यह विद्युत् जहां २ से अधिकतया पैदा होती है, इसे विद्युत्-विद्या का विद्वान् जानता है।

एवं, इस मंत्र में विद्युत् को शक्ति से पैदा होने वाली बतलाया है, जो कि अवश्य शक्तिमान् और बलवान् होगी। अतः, द्रविणोदस् का अर्थ विद्युत् है।

(२) किञ्च, 'द्राविणोदस' का अर्थ है 'द्रविणोदस् का अपत्य'। सो, यह अग्नि ही विद्युत् से पैदा होती है। और, 'यो अश्मनोरन्तः' आदि मंत्र भी इसकी पुष्टि करने वाला है। अतः, द्रविणोदस् विद्युद्वाचक हुआ। संपूर्ण मंत्र और अर्थ इस प्रकार है—

यो हत्वाहिमरिणात्सप्तसिन्धून् यो गा उदाजदपधा बलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः॥ २.१२.३

(यः अहिं हत्वा सप्तसिन्धून् अरिणात्) जो पाप को हनन करने वाले सात छन्दों से निर्मित वेद को प्राप्त कराता है, (यः बलस्य अपधा गाः उदाजत्) जो बल को धारण करने वाले भूगोलों को उत्तमतया चलाता है, (यः अश्मनोः अन्तः अग्निं जजान) जो धन तथा ऋण, इन दो विजुलियों में आग को पैदा करता है, (समत्सु संवृक्) और जो जीवन-युद्ध में नास्तिकों का संहारक है, (जनासः सः इन्द्रः) हे मनुष्यो! वह परमेश्वर है।

हत्वा = हननार्हान्, अर्हे कृत्यतृचश्च (पा० ३.३.१६९) से 'अर्ह' अर्थ में 'क्त्वा' प्रत्यय। 'सिन्धु' के प्रयोग के लिये 'सुदेवो असि' मंत्र ३६८ पृ० पर देखिये। अश्मन् और अशनि, ये दोनों समानार्थक हैं।

उपर्युक्त मंत्र में 'अश्मनोः' के प्रयोग से स्पष्टतया विदित होता है कि बिजुली दो तरह की है। सो, आजकल के वैज्ञानिक उसे 'धन' 'ऋण' नाम से पुकारते हैं।

(३) किञ्च, जिन मंत्रों से ऋतुओं में यज्ञ किया जाता है, उन ऋतुयाज मंत्रों में 'द्रविणोदस्' के प्रयोग आते हैं, और उन के पात्र का नाम 'इन्द्रपान' है। अतः, स्पष्ट है कि वह 'द्रविणोदस्' इन्द्र ही है, तभी उसके पात्र को 'इन्द्रपान' कहा गया है।

सायणाचार्य ने ऋग्वेद-भाष्य के आठवें अष्टक से पूर्व प्रैषाध्याय दिया है, उसका ५१वां मंत्र इसप्रकार है—**होता यक्षद् देवं द्रविणोदसमपाद्धो-**

आदपात्पोत्रादपान्नेष्ट्रात्तुरीयं पात्रममृक्तममर्त्यमिन्द्रपानम्—इत्यादि । इस की व्याख्या आगे इसी प्रकरण में आये 'अपाद्धोत्रात्' आदि मंत्र से मतार्थ होजावेगी ।

(४) किञ्च, वेद द्रविणोदस् की स्तुति सोमपान से करता है, और सोमपान इन्द्र का कर्म है । अतः, द्रविणोदस् इन्द्रवाचक है ।

ऋग्वेद के ऋतुयाज-प्रकरण के (२. ३७.१-४) पहले तीन मंत्रों के अन्त में 'सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः' आया है । और, इन्द्र के सोमपान को बतलाने वाले अनेक मंत्र हैं, जिन में से 'अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्राय' (यजु० ५.७) आदि एक है । इस सोमपान के संबन्ध से ज्ञात होता है कि 'द्रविणोदस्' का अर्थ इन्द्र है ।

(५) किञ्च, 'द्रविणोदा पिबतु द्राविणोदसः—ऐसा वेद कहता है । यहां एक ही मंत्र में 'द्रविणोदस्' और 'द्राविणोदस'—दोनों पद प्रयुक्त हैं । द्राविणोदस्' का अर्थ है 'द्रविणोदस् का अपत्य अग्नि, अतः 'द्रविणोदस्' विद्युत् होगा, यतः अग्नि विद्युत् से पैदा होती है ।

उत्तरपक्ष

अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः । आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति—'देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्' इत्यपि निगमो भवति ।

(१) यथो एतत्स बलधनयोर्दातृतम इति, सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं विद्यते । यथो एतद्ब 'ओजसो जातमुत मन्य एनम्' इति चाहेति, अयमप्यग्निरोजसा बलेन मथ्यमानो जायते । तस्मादेनम् आह—'सहसस्पुत्रं' 'सहसः सूनुं' 'सहसो यहुम्' ।

(२) यथो एतदग्निं द्राविणोदसमाहेति, ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते हविषो दातारस्ते चैनं जनयन्ति । 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः' इत्यपि निगमो भवति ।

(३) यथो एतत्तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति, भक्तिमात्रं तद्भवति, यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम् ।

(४) यथो एतत्सोमपानेनैनं स्तौतीति, अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते—'सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः' इत्यपि निगमो भवति ॥ २ ॥

(५) यथो एतद्द 'द्रविणोदा पिबतु द्राविणोदसः' इति, अस्यैव तद्द भवति—

मेद्यन्तु ते वह्नयो येभिरीयसेऽरिष्यन्वीळयस्वा वनस्पते ।
आयूया धृष्णो अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥

मेद्यन्तु ते वह्नयो वोढारो यैर्यास्यरिष्यन् । दृढीभव । आयूय धृष्णो, अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयाद्द धिष्ण्यात् । धिष्ण्यो धिषण्यो धिषणाभवः । धिषणा वाक्, धिषेर्दधात्यर्थे, धीसादिनीति वा, धीसानिनीति वा । वनस्पत इत्येनमाह, एष हि वनानां पाता वा, पालयिता वा । वनं वनोतेः । पिबर्तुभिः कालैः ॥ ३ ॥

शाकपूणि कहता है कि यही अग्नि 'द्रविणोदस्' है, क्योंकि आग्नेयसूक्तों में ही द्रविणोदस् के प्रयोग पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित मंत्र है—

स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि वळधत्त विश्वा ।
आपश्च मित्रं धिषणा च साधन्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥ १.९६.१

(धिषणा आपः च मित्र च साधन् देवाः) पदार्थविद्या के द्वारा जल और वायु को सिद्ध करते हुए विद्वान् लोग (द्रविणोदां अग्निं धारयन्) जिस धनदाता अग्नि को धारण करते हैं, (सः प्रत्नथा सहसा जायमानः) वह अग्नि पूर्वसमान संघर्षण शक्ति से पैदा की हुई (सद्यः विश्वा काव्यानि) शीघ्र अनेक विज्ञानों को (वट् अधत्त) यथार्थरूप से धारण करती है।

एवं, इस मंत्र में जल, वायु, और अग्नि के प्रयोग से अनेक विज्ञानों को सिद्ध करने का उपदेश दिया गया है।

अब अपने पक्ष की स्थापना के पश्चात् आचार्य पूर्वपक्ष का क्रमशः खण्डन करते हैं—

(१) जो यह कहा कि 'विद्युत्' बल और धन का श्रेष्ठ दाता है, अतः 'द्रविणोदस्' विद्युत् है—यह ठीक नहीं, क्योंकि यह ऐश्वर्य तो सभी देवताओं में है। सूर्य, अग्नि आदि देव भी बड़े शक्तिशाली और धनदाता हैं।

और, जो 'ओजसो जातमुत मन्य एनम्'—इस मंत्र का प्रमाण देते हुए प्रदर्शित किया है कि यह विद्युत् ही बल से पैदा होती है। सो, यह अग्नि भी बल से रगड़ने पर पैदा होती है। इसीलिये वेदमंत्रों में अग्नि को सहसस्पुत्र, सहसः सूनु, और सहसो यहु कहा है। जैसे-

द्रवन्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः। सहसस्पुत्रो अद्भुतः॥२.७.६

(द्रवन्नः) काष्ठ अग्नि का अन्न है, (सर्पिः आसुतिः) घृत रस है। (प्रत्नः होता) वह अग्नि पुरातन धर्म को धारण करने वाली, सुखप्रदात्री, (वरेण्यः , सहसःपुत्रः, अद्भुतः) वरणीय, संघर्षणशक्ति से पैदा होने वाली, और अद्भुत है।

त्वं ह यद्यविष्ठ्य सहसः सूनवाहुत। ऋतावा यज्ञियो भुवः॥ ८.७५.३

(यविष्ठ्य) पदार्थों को मिलाने और फाड़ने वाले (सहसः सूनो आहुत) तथा संघर्षणशक्ति से उत्पन्न होने वाले होम-साधन अग्ने ! (यत् ह ऋतावा त्वं यज्ञियः भुवः) यतः जलसहित तू शिल्पयज्ञ की संपादिका है, अतः तू हमारे संपूर्ण सुखों को पूर्ण कर।

यहां 'विश्वा वार्या कृधि'—इसकी अनुवृत्ति पिछले मंत्र से है।

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः॥ १. ७९. ४

(सहसः यहो अग्ने !) संघर्षणशक्ति से पैदा होने वाली अग्नि ! (गोमतः वाजस्य ईशानः) सोना चांदी आदि भूमिजन्य धन की तू मालिक है। अर्थात्, तेरे द्वारा ऐसे उत्तम धन मनुष्यों के उपयोग में आ रहे हैं। (जातवेदः ! अस्मे महि श्रवः धेहि।) अतः, हे धनदाता अग्नि! तू हमारे में प्रचुर धन को स्थापित कर।

(२) जो यह कहा कि 'द्रविणोदस्' का अपत्य अग्नि 'द्राविणोदस्' है, अतः 'द्रविणोदस्' विद्युत् है—यह भी ठीक नहीं। यहां 'द्रविणोदस्' का अर्थ ऋत्विज् लोग हैं, क्योंकि वे यज्ञों में हवि (द्रविण) को देते हैं, यज्ञाग्नि में हवि

की आहुतियें डालते हैं। और, वे इस अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, अतः ऋत्विज् (द्रविणोदस्) का अपत्य होने से अग्नि 'द्राविणोदस' है, विद्युत् का अपत्य होने से नहीं।

इस की पुष्टि में निम्नलिखित वेदमंत्र भी है, जिस में 'ऋषीणां पुत्रः' कहते हुए अग्नि को ऋत्विजों का पुत्र बतलाया है—

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः।
तस्मै विधेम हविषा घृतेन मा देवानां यूयुयाम भागधेयम् ॥ यजु० ५.४

देवता—अग्नि। (ऋषीणां पुत्रः एषः अधिराजः अग्निः) वेदज्ञ ऋत्विजों से प्रज्वलित किए जाने वाली यह देदीप्यमान अग्नि (अग्नौ चरति) अग्निकुण्ड में उच्च ज्वालाओं के साथ संचार कर रही है। (तस्मै हविषा घृतेन विधेम) हम उसे हवि और घृत से आहुतियें प्रदान करें, (देवानां भागधेयं मा यूयुयाम) और, ऋत्विज् आदि उपस्थित देवजनों के भाग को मत छीनें। अर्थात्, यज्ञ में उपस्थित सब देवजनों का अन्नादि से सत्कार करें।

विधतिर्दानकर्मा (निरु० १० अ० २३ खं०)।

(३) जो यह कहा कि उन ऋतुयाजों के सोमपात्र का नाम 'इन्द्रपान' है, अतः 'द्रविणोदस्' इन्द्रवाची है। यह हेतु भी अयुक्त है, क्योंकि वह 'इन्द्रपान' नाम गौणी कल्पना से प्रयुक्त है। जैसे कि सब देवताओं के सोमपात्रों का सामान्य नाम 'वायव्य' है। इस से यह परिणाम कभी नहीं निकाला जा सकता है कि वायव्य पात्र अकेले 'वायु' का ही है, अन्य देवताओं का नहीं। यहां 'वायव्य' नाम गुणभाव से प्रयुक्त है। जिन सोमपात्रों में वायु का संचार खुला हो, उन्हें वायव्य कहा गया है। इसीप्रकार ऐश्वर्यप्रद सोम का जिस पात्र से पान किया जावे, उसे 'इन्द्रपान' समझना चाहिये, इन्द्र देव का सोमपात्र नहीं। सोमपात्रों के लिये 'वायव्यानि' का प्रयोग यजुर्वेद १८. २१ में है।

(४) जो यह कहा कि 'द्रविणोदस्' की सोमपान से स्तुति करते हैं, और सोमपान इन्द्र का ही काम है, अतः 'द्रविणोदस्' इन्द्रवाची है। यह हेतु भी ठीक नहीं, क्यों कि सोमपान से अग्नि की स्तुति भी पायी जाती है। जैसे कि 'सोमं पिब मन्दसानो' आदि ऋचा में है। सारा मंत्र और अर्थ इस प्रकार है—

अग्ने मरुद्भिः शुभयद्भिर्ऋक्वभिः सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः।
पावकेभिर्विश्वमिन्वेभिरायुभिर्वैश्वानर प्रदिवा केतुना सजूः ॥ ५.६०.८

(वैश्वानर अग्ने !) हे सर्वजनहितकारी अग्नि ! (शुभयद्भिः, ऋक्वभिः) शोभायमान, प्रशस्त, (गणश्रिभिः) समूह रूप में आश्रित (पावकेभिः, विश्वं इन्वेभिः) पावक, वृष्टि आदि के द्वारा जगत् को तृप्त करने वाली, (आयुभिः मरुद्भिः) आयुष्यप्रद तथा परिमित चमकने वाली ज्वालाओं के साथ (प्रदिवा केतुना सजूः) अपने पुरातन कर्म से युक्त (मन्दसानः) और आनन्दित करने वाली तू (सोमं पिब) सोम दुग्ध आदि उत्तम रसों का आहुति के द्वारा पान कर ॥२॥

(५) जो 'द्राविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः' मंत्रवाक्य दिया है, वह भी इसी अग्नि का प्रतिपादन करता है, इन्द्र का नहीं। यदि 'द्रविणोदस्' का अर्थ इन्द्र, और द्राविणोदस का अर्थ अग्नि किया जावे, तो मंत्र का अर्थ ही संगत नहीं होता, क्योंकि ये दोनों शब्द एक ही वाक्य में विशेष्य-विशेषण भाव से पठित हैं। मंत्र और उसका अर्थ देखने से अभिप्राय स्पष्ट होजावेगा, अतः उनका उल्लेख किया जाता है—

अपाद्धोत्रादुत पोत्रादमत्तोत नेष्ट्रादजुषत प्रयो हितम्।
तुरीयं पात्रममृक्तममर्त्यं द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः ॥२.३७.४

(द्राविणोदसः द्रविणोदाः) ऋत्विजों से प्रज्वालित वृष्टि आदि की प्रदाता यज्ञाग्नि (हितं प्रयः होत्रात् अपात्) हितकारी हवि को वृष्टिप्रद याग से पान करे, (उत पोत्रात्) हितकारी हवि को सुगन्धिप्रद याग से पान करे, (उत नेष्ट्रात् अजुषत) और वह हितकारी हवि को पुष्टिप्रद याग से सेवन करे। (तुरीयं अमर्त्यं अमृक्तं पात्रं पिबतु) और चौथी, अकाल मृत्यु से बचाने वाली रोगनाशक औषध-हवि का पान करे। (अमत्त) एवं, यह यज्ञाग्नि हमें सुख प्रदान करे।

इस मंत्र में यज्ञ के लिये चार प्रकार की हविओं का विधान है—वृष्टि करने वाली, सुगन्धि फैलाने वाली, पुष्टि देने वाली, और आरोग्य-वृद्धि करने वाली। इन चारों प्रकार की हविओं को यथावसर उपयोग में लाकर मनुष्यों को सुख की प्राप्ति करनी चाहिए।

नेष्ट्र=पुष्टिप्रद याग, 'णिजिर' शौचपोषणयोः से 'त्रन्' प्रत्यय, (उणा० ४.१६८)। पोत्र=पवित्रताकर्ता याग=सुगन्धिकर्ता, 'पूङ्' पवने+'त्रन्'। वाचस्पत्यकोष में 'अमृत' का अर्थ औषध किया है। उसी का रूपान्तर अमृक्त है। अतएव सायण ने

१. ६. ४, ३. ११. ६ आदि स्थलों में 'अमृक' का अर्थ 'अहिंसित' किया है। परिशेष से 'हुोत्र' का अर्थ वृष्टिप्रद याग होगा। 'हु' दानादानयोः + त्रन्।

उन्हीं ऋतुयाजमंत्रों में से 'मेद्यन्तु ते वह्नयः' (२.३७.३) आदि एक और मंत्र पुष्टि के लिये दिया गया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(वनस्पते द्रविणोदः !) हे वृष्टिजल की रक्षा करने वाली यज्ञाग्नि ! (ते वह्नयः मेद्यन्तु) तेरी ज्वालायें घृताहुति से स्निग्ध हों (येभिः अरिष्यन् ईयसे) जिन से कि तू दुःख न देती हुई गति कर रही है—प्रज्वलित हो रही है। (वीडयस्व) हे यज्ञाग्नि! तू स्थिर हो, अर्थात् दीर्घ-सत्रों के द्वारा चिरकाल तक प्रदीप्त रह। (धृष्णो आगूय अभिगूर्य) हे रोग तथा अनावृष्टि आदि का पराभव करने वाली ! हवि को फाड़ कर और सर्वत्र ऊपर ले जा कर (त्वं नेष्ट्रात् ऋतुभिः सोमं पिब) तू पुष्टिप्रद याग के ऋत्वनुकूल सोम दुग्ध घृत आदि रस पदार्थों का पान कर।

वह्नि = वोढ़ा। अग्निज्वालायें हवि को आकाश में पहुंचाती हैं, अतः उन्हें 'वह्नि' कहा गया है। नेष्ट्रात् = नेष्ट्रीयात् धिष्ण्यात्। धिष्ण्य = वेदवाणी का ज्ञाता, धिषणाभवः धिषण्यः—धिष्ण्यः, धिषणा से भवार्थ में 'यत्' प्रत्यय। **धिषणा**— वाणी (क) धारणार्थक 'धिष' धातु से 'क्यु' प्रत्यय (उणा० २.८२) जो धारण की जावे। धातुपाठ में 'धिष' शब्दे धातु है, परन्तु यहां धारणार्थक मानी गयी है। (ख) धीसादिनी = जो ज्ञान को प्राप्त कराती है, धीसदना— धिषणा। (ग) जो ज्ञान को देने वाली है, धीसनना—धिषणा।

'वनस्पति' नाम से वेद अग्नि को कहता है, क्योंकि यह शुद्धि के द्वारा (वन) वृष्टिजल की रक्षा करता है। 'पति' शब्द रक्षणार्थ 'पा' या 'पाल' धातु से निष्पन्न हुआ है (पृ० २८४)। 'वन' शब्द जलवाची निघण्टुपठित है। जल का विशेषतया सेवन किया जाता है, अतः इसे 'वन' कहा गया। 'वन' संभक्तौ से 'घ' प्रत्यय (पाणि० ३. ३. ११८)। ऋतु = काल।

एवं, यहां ज्वालाओं के स्निग्ध होने तथा 'द्रविणोदस्' को 'वनस्पति' कहने से स्पष्टतया विदित होता है कि 'द्रविणोदस्' अग्नि ही है, क्योंकि इसी की ज्वालायें घृताहुति से स्निग्ध होती हैं, और यही शुद्धि के द्वारा वृष्टिजल की रक्षा करता है।

इस प्रकार पता लगा कि 'द्रविणोदस्' का मुख्य अर्थ तो अग्नि ही है, किन्तु प्रकरणवशात् कहीं २ गौणरूप से विद्युत् या सूर्य का वाचक है ॥ २ ॥

* द्वितीय पाद *

आप्री-देवता
५—१६

अथात आप्रियः। आप्रियः कस्मात्? आप्नोतेः, प्रीणातेर्वा। 'आप्रीभिराप्रीणाति' इति च ब्राह्मणम्॥ १। ४॥

अब यहां से आप्री देवताओं की व्याख्या की जाती है। आप्री कैसे? 'आप्लृ' या 'आङ्' पूर्वक 'प्रीञ्' प्रीणने से यह निष्पन्न होता है। आप्+रक् ङीष्, आ+प्रीञ्+ड+ङीष्। जिन ऋचाओं से मनुष्य सुखलाभ करता है, अथवा जो ऋचायें मनुष्य को प्रसन्न करती हैं, उन ऋचाओं को 'आप्री' कहा जाता है। और, उन ऋचाओं के प्रसङ्ग से उनके देवता भी 'आप्री' कहलाते हैं।

'आप्री' के दूसरे निर्वचन की पुष्टि में यास्काचार्य 'आप्रीभिः आप्रीणाति' (ऐ० ब्रा. २. १. ४) इस ब्राह्मणवचन को उद्धृत करते हैं। अर्थात्, आप्री ऋचाओं से मनुष्य समाज को प्रसन्न करता है। इन ऋचाओं में यज्ञ करने की विधि और यज्ञ के लाभ बतलाये गये हैं। तदनुसार यज्ञों के करने से समाज बड़ा समृद्ध होता है।

वे आप्री देवता १२ हैं, जो क्रमशः ये हैं—इध्म, तनूनपात्, नराशंस, इड, बर्हिष, द्वारः, उषासानक्ता, दैव्या होतारा, तिस्रो देवीः, त्वष्टृ, वनस्पति, और स्वाहाकृतयः।

यद्यपि आप्रीसूक्तों में समित्, समिद्ध, या सुसमिद्ध का प्रयोग है, परन्तु देवता का नाम नामरूप में 'इध्म' ही रखा जा सकता था, इसलिये उन ऋचाओं का देवता 'इध्म' माना गया है। इसीप्रकार ईड्य, ईडित, ईडेन्य और ईडते के प्रयोग पाये जाने पर भी देवता-नाम 'इड' है। केवल ऋ० ३. ४ सूक्त में 'इड' का प्रयोग है॥ १। ४॥

५. इध्म

तासामिध्मः प्रथमागामी भवति। इध्मः समिन्धनात्। तस्यैषा भवति—

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥ १०. ११०. १

समिद्धोऽद्य मनुष्यस्य मनुष्यस्य गृहे देवो देवान् यजसि जातवेदः । आ च वह मित्रमहश्चिकित्वाँश्चेतनावाँस्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः प्रवृद्धचेताः । यज्ञेध्म इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः ॥ २ । ५ ॥

उन आप्री देवताओं में 'इध्म' पहले आने वाला है । इध्म=प्रदीप्त होने वाला, इन्ध्+मक् (उणा० १.१४५) । उस 'इध्म' का 'समिद्धो अद्य' आदि मंत्र है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(जातवेदः देव) हे धनदाता और सुखप्रदाता अग्नि ! (अद्य मनुषः दुरोणे समिद्धः) तू आज प्रत्येक गृहस्थ मनुष्य के घर में प्रदीप्त किया हुआ (देवान् यजसि) देवभावों को देता है । (मित्रमहः) अतः, हे यज्ञकर्ता मित्रों से आदरणीय अग्नि ! (चिकित्वान्) तू जानदार बनकर (आवह च) हमें देवभावों को प्राप्त करा, (त्वं दूतः, कविः, प्रचेताः असि) क्योंकि तू दूत की तरह हितकारी, शिक्षाप्रदाता, और उत्तम चेताने वाला है ।

इस मंत्र से यज्ञविषयक ये उपदेश दिये गये हैं—(१) प्रत्येक गृहस्थ के घर में प्रतिदिन यज्ञ अवश्य होना चाहिए । (२) यज्ञ को बिना जानदार बनाये करने से कोई लाभ नहीं होता । (३) यज्ञ बड़ा उत्तम शिक्षक है, और मनुष्य को सावधान करता है । (४) और, यज्ञ के करने से देवभावों का आविर्भाव होता है ।

मनुष्=मनुष्य, मनुषः=मनुष्यस्य मनुष्यस्य । कात्थक्य 'इध्म' का अर्थ यज्ञ का इन्धन (यज्ञकाष्ठ) करता है, परन्तु शाकपूणि इसे अग्निवाची मानता है। यास्काचार्य शाकपूणि के पक्ष को ही अंगीकार करते हैं जैसा कि आप्री-प्रकरण के अन्त में आये 'आग्नेया इति तु स्थितिः' इस वचन से ज्ञात होगा । अतः, अग्निपक्ष में ही उपर्युक्त मंत्र का अर्थ किया गया है, और आगे भी ऐसा ही किया जावेगा ॥ २ । ५ ॥
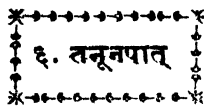
६. तनूनपात्

तनूनपादाज्यं भवति । नपादित्यननन्तरायाः प्रजाया नामधेयम् , निर्णततमा भवति । गौरत्र तनूरुच्यते, ततो अस्यां भोगाः । तस्याः पयो जायते, पयस आज्यं जायते । अग्निरिति शाकपूणिः । आपो-

ऽत्र तन्व उच्यन्ते, तता अन्तरिक्षे । ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते, ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते । तस्यैषा भवति—

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व ।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ १०.११०.२

तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् यज्ञस्य यानान् मधुना समञ्जन् स्वदय कल्याणजिह्व । मननानि च नो धीभिर्यज्ञं च समर्द्धय, देवान् नो यज्ञं गमय ॥ ३ । ६ ॥

'तनूनपात्' का अर्थ कात्यक्य के पक्ष में तो आज्य (घृत) है, परन्तु शाकपूणि इसे अग्निवाचक मानता है।

'नपात्' यह पोते का नाम है, क्योंकि यह तीसरी पीढ़ी नीचे होता है। पहली पीढ़ी पिता की, दूसरी पुत्र की, और तीसरी पौत्र की। निर्णततम = बहुत नीचे गया हुआ। नततम—नमत्—नपात्।

कात्यक्य के मत में 'तनू' का अर्थ गाय है, क्योंकि इस में दूध घी मक्खन दही आदि अनेक भोग पदार्थ विस्तृत हैं। 'तनु' विस्तारे+ऊ (उणा० १. ८०)। उस गाय से दूध उत्पन्न होता है, और दूध से घी। इसप्रकार घी गाय (तनू) का पोता (नपात्) है। परन्तु शाकपूणि के पक्ष में 'तनू' का अर्थ मेघजल है, क्यों कि वह अन्तरिक्ष में फैला हुआ है। उस जल से ओषधि वनस्पतियें पैदा होती हैं, और सूखी ओषधि वनस्पतियों से आग। एवं, अग्नि जल (तनू) का पोता (नपात्) होने से 'तनूनपात्' है।

स्वामी जी ने १.१३.२ में 'तनूनपात्' का अर्थ इस प्रकार किया है—तनूनां शरीरौषध्यादीनाम् ऊनानि न्यूनान्युपाङ्गानि पाति रक्षति सः। जो शरीर तथा ओषधि आदि पदार्थों के छोटे २ अंशों की भी रक्षा करने वाली है, ऐसी यज्ञाग्नि।

उस की 'तनूनपात्पथ ऋतस्य' आदि ऋचा है, जिसका अर्थ यह है—(सुजिह्व तनूनपात्) हे अच्छी ज्वालाओं वाली अग्नि! (ऋतस्य यानान् पथः) यज्ञ के फलप्रापक मार्गों, अर्थात् हवियों को (मध्वा समञ्जन् स्वदय) मधुर रस या घृत के साथ मिला कर आस्वादन कर। (धीभिः मन्मानि) और फिर अपने कर्मों के द्वारा हमारे मनों (उत यज्ञं ऋन्धन्) और गृहस्थ-यज्ञ को समृद्ध कर, उत्तम बना, (नः अध्वरं देवत्रा च कृणुहि) तथा हमारे हिंसारहित यज्ञ को अन्य देवजनों को पहुंचा। अर्थात्, हमारे शुभ यज्ञ से अन्य विद्वानों को भी लाभ पहुंचे।

मन्मन् = मनन । देवत्रा = देवाद् । मध्वा = मधुना । ऋन्धक् = समद्धुं य । ३ । ६ ॥
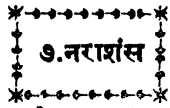
७. नराशंस

नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः, नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति । अग्निरिति शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति । तस्यैषा भवति—

नराशंसस्य महिमानमेषामुपस्तोषाम यजतस्य यज्ञैः ।
ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ ७.२.२

नराशंसस्य महिमानमेषामुपस्तुमो यज्ञियस्य यज्ञैः । ये सुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः, स्वदयन्तु देवा उभयानि हवींषि सोमं चेतराणि चेति वा, तान्त्राणि चावापिकानि चेति वा ॥ ४ । ७ ॥

'नराशंस' का अर्थ यज्ञ है, ऐसा कात्थक्य मानता है, क्योंकि इस में बैठे हुए मनुष्य स्तुतिपाठ करते हैं । नरशंस—नराशंस, अन्येषामपि दृश्यते (पा० ६. ३.१३७) से दीर्घ । परन्तु शाकपूणि इसका अर्थ अग्नि करता है, क्योंकि यह यज्ञाग्नि मनुष्यों से प्रशंसनीय होती है । नरशंस—नराशंस ।

नराशंस और नाराशंस देवताओं के भेद को ध्यान में रखना चाहिये । 'नाराशंस' देवता मध्यमस्थानीय है (निरु० ९ अ० ६ श०) ।

उस 'नराशंस' की 'नराशंसस्य महिमानं' आदि ऋचा है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—(ये सुक्रतवः) जो कल्याणकारी, (शुचयः) पावक, (धियन्धाः) और हमारे सब कर्मों के धर्ता हैं, अर्थात् जिन के द्वारा हमारे सब कर्म सिद्ध होते हैं, (देवाः) वे पृथिवी जल आदि पंचभूत देव (उभयानि हव्या स्वदन्ति) हमारी दोनों प्रकार की हवियों का आस्वादन करें । (एषां यज्ञैः यजतस्य) हम इन पंचभूत देवों में से यज्ञों के द्वारा यज्ञसंपादक (नराशंसस्य) अग्नि की (महिमानं उपस्तोषाम) महिमा को अधिक समझते हैं ।

उपस्तोषाम—उपस्तुमः । यजत = यज्ञिय ।

द्विविध हवि यह है—(क) एक सोम, अर्थात् सोम ओषधि, दूध, घृत, आदि रस पदार्थ । और दूसरी सोम से इतर, अर्थात् अन्नादि सामग्री । (ख) अथवा, एक सामान्य होम की हवि, और दूसरी प्रधान होम की हवि । 'तन्त्रम् उभयार्थकप्रयोगः, आवापः सामान्यहोमः'—ऐसा शब्दकल्पद्रुम में लिखा है ।

एवं, 'उभयानि हव्या' से पता लगा कि यज्ञों में रस और अन्नादि, दोनों प्रकार की हविओं का प्रयोग करना चाहिए। और, सामान्यहोम तथा विशेष यज्ञ, दोनों करने चाहियें ॥ ४।७ ॥

८. इड
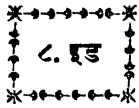
इळ इट्टेः स्तुतिकर्मणः, इन्धतेर्वा। तस्यैषा भवति—

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥१०.११०.३

आहूयमान ईडितव्यो वन्दितव्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सहजोषणः। त्वं देवानामसि यह्व होता। यह्व इति महतो नामधेयम्, यातश्च हूतश्च भवति। स एनान्यक्षीषितो यजीयान्। इषितः प्रेषित इति वा, अधीष्ट इति वा। यजीयान् यष्टृतरः ॥ ५।८॥

इड—स्तुत्यर्थक 'ईड' या दीप्त्यर्थक 'इन्ध्' से 'घञ्'। ईड—इड, इन्ध—इड। 'इड' की 'आजुह्वान ईड्यः' आदि ऋचा है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—(अग्ने) हे यज्ञाग्नि! (आजुह्वानः) तू हविओं से भलीप्रकार हूयमान है, (वसुभिः सजोषाः) और गृहस्थियों से एक साथ सेवनीय है। (ईड्यः वन्द्यः च आयाहि) अतः, प्रशस्य अथवा यज्ञशाला में संदीप्य और आदर के योग्य तू हमें प्राप्त हो। (यह्व त्वं देवानां होता असि) हे महान् गुणों वाले यज्ञाग्नि! तू उत्तम पदार्थों का दाता है। (स इषितः) वह तू हमसे प्रेरित होकर, अथवा हमसे आदरपूर्वक नियुक्त होकर (यजीयान् एनान् यक्षि) अधिक दाता होतो हुई उन उत्तम पदार्थों को प्राप्त करा।

गृहस्थी लोगों के आश्रय में ही अन्य तीनों आश्रमियों की स्थिति है, अतएव मनु ने (३.७८) कहा है—यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ इसलिये गृहस्थी वसुसंज्ञक हैं। और, मनु ने भी (३. २८४) "वसून्वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्। प्रपितामहाँस्तथादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी" में पितरों को 'वसु' कहा है।

उपर्युक्त मंत्र से यज्ञविषयक ये शिक्षायें मिलती हैं—(१) 'वसुभिः सजोषाः'

से पता लगता है कि स्त्री पुरुष आदि सब परिवार को इकट्ठे मिलकर यज्ञ करना चाहिए। (२) मनुष्य को यज्ञ सदा आदरपूर्वक, श्रद्धापूर्वक करना चाहिए, इनके बिना यज्ञ फलदायक नहीं होता। (३) यज्ञ से पवित्र वायु, शुद्ध जल, शुद्ध ओषधि वनस्पति आदि उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है ॥५।८॥

९. बर्हिष्

बर्हिः परिबर्हणात्। तस्यैषा भवति—

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्युप्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ १०.११०.४

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वसनायास्याः प्रवृज्यते अग्रे अह्नाम् बर्हिः पूर्वाह्णे। तद्विप्रथते वितरं विकीर्णतरमिति वा, विस्तीर्णतरमिति वा। वरीयो वरतरम्, उरुतरं वा। देवेभ्यश्चादितये च स्योनम्। स्योनमिति सुखनाम, स्यतेः, अवस्यन्त्येतत्, सेवितव्यं भवतीति वा ॥ ६ । ९ ॥

बर्हिष्—वृद्ध्यर्थक 'बृह' धातु से 'इसि' प्रत्यय (उणा० २.१०९) अग्नि पदार्थों को बढ़ाती है, फैलाती है। 'बर्हिष्' का मंत्र 'प्राचीनं बर्हिः' आदि है, जिस का अर्थ इस प्रकार है—

(बर्हिः) वस्तुओं को फैलाने वाली यज्ञाग्नि (प्राचीनं) गृह की प्राची दिशा में (प्रदिशा) वेदोपदिष्ट विधि के अनुसार (अस्याः पृथिव्याः वस्तोः) इस पृथिवी के निवास के लिये (अह्नाम् अग्रे) पूर्वाह्न में (वृज्यते) स्थापित की जाती है। (वरीयः वितरं विप्रथते) और वह अत्युत्तम या प्रभूत यज्ञाग्नि अधिक बिखर कर या अधिक विस्तृत होकर संपूर्ण वायुमण्डल में प्रख्यात होती है। (देवेभ्यः अदितये स्योनम्) तब वह यज्ञकर्ता देवलोगों के लिये और पृथिवी के लिये सुखकारी बनती है।

एवं, इस मंत्र में यज्ञविषयक ये शिक्षायें उपदिष्ट हैं—

(१) गृह की प्राची दिशा में यज्ञशाला होनी चाहिए। (२) वेदोपदिष्ट विधि के अनुसार यज्ञ करना चाहिए। अन्यथा, न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्—इस न्यायसूत्र (२. १. ५७) के अनुसार यज्ञ का विशेष लाभ नहीं होगा। (३) प्रातः

काल यज्ञ अवश्य करना चाहिए। (४) इस पृथिवी के निवास के लिये यज्ञों का करना अत्यावश्यक है। अन्यथा अनावृष्टि, रोगवृद्धि, अपवित्र वायु, अपवित्र औषधि वनस्पतियें, और निस्सार अन्न आदि के कारण पृथिवी का उच्छेद हो जाता है। (५) यज्ञ करने से यज्ञकर्ता और पृथिवीस्थ सब प्राणियों का बड़ा कल्याण होता है।

वस्तोः=वसनाय, 'वस' धातु से भावलक्षण में 'तोसुन्' प्रत्यय (पाणि० ३. ४. १६)। अग्रे अह्नाम्=पूर्वाह्णे। वि=विकीर्ण (बिखरा हुआ), विस्तीर्ण। वरीयस्=वरतर, उरुतर।

स्योन=सुख। (क) अवस्यन्ति नाशयन्ति पापिनस्तदिति स्योनम्, 'षो' अन्तकर्मणि से 'न' प्रत्यय और 'य्' का आगम। (ख) अथवा, यह सेवितव्य होने से 'स्योन' है। 'सिव' धातु से 'न' प्रत्यय और 'टि' को 'ऊट्' आदेश (उणा० ३. ८) स्यून–स्योन ॥ ६ । ९ ॥

१०. द्वारः

द्वारो जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, वारयतेर्वा तासामेषा भवति—

व्यचस्वतीरुर्विया विश्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः ।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥१०.११०.५

व्यञ्चनवत्य उरुत्वेन विश्रयन्तां पतिभ्य इव जाया (ऊरू मैथुने धर्मे) शुशोभिषमाणाः। वरतममङ्गम् ऊरू। देव्यो द्वारो बृहत्यो महत्यो, विश्वमिन्वा विश्वमाभिरेति। यज्ञगृहद्वार इति कात्थक्यः, अग्निरिति शाकपूणिः ॥ ७ । १० ॥

'द्वार्' नित्यबहुवचनान्त है। जव–दव–द् व् अ अ–द्वा–द्वार्, द्रव–द्वार्, वार्–द्वार्। द्वत के निर्वचन भी यही हैं (३०२ पृ०)। द्वारों की 'व्यचस्वतीरुर्विया' आदि ऋचा है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(पतिभ्यः शुम्भमानाः जनयः न) जिस प्रकार पतियों के लिये शोभायमान पत्नियें गर्भाधान–काल में पतियों की जांघों को सेवती हैं, (व्यचस्वतीः उर्विया विश्रयन्ताम्) उसी प्रकार अनेक प्रकार के यज्ञों में वर्तमान अग्नि अधिकतया हमें सेवन करे। (देवीः बृहतीः विश्वमिन्वाः द्वारः !) हे दिव्यपदार्थों की दाता,

अनेक गुणों वाली और सारे जगत् को चलाने वाली गतिशील या रोगादि निवारक यज्ञाग्नि ! (देवेभ्यः सुप्रायणाः भवत्) तू यज्ञकर्ता द्विजों के लिये सुगति वाली हो ।

व्यचस्वती = व्याप्तिमत्य., वि + अञ्चू + असि = व्यचस् । उर्विया = उरुत्वेन । अर्थ के स्पष्टीकरण के लिये 'ऊरू मैथुने धर्मे' इनका यास्क ने अध्याहार किया है । ऊरु—जांघें मनुष्य शरीर का एक बहुत अच्छा अंग है । 'प्रियस्थिर' आदि (६. ४. १५७) पाणिनिसूत्र से 'तमप्' अर्थ वाले 'इष्ठन्' के परे होने पर 'उरु' को 'वर' आदेश होता है । उस को लक्ष्य में रख कर यहां 'वर' को 'उरु' आदेश किया गया है, और 'इष्ठन्' का लोप तथा ऊकार दीर्घ है ।

विश्वमिन्वाः—विश्वमाभिरेति गच्छतीति विश्वमिन्वाः, विश्वम् + इवि । 'इवि' धातु निघण्टु में गत्यर्थक पढ़ी है ।

'द्वारः' का अर्थ कात्थक्य यज्ञशाला का द्वार करता है, परन्तु शाकपूणि इसे अग्निवाची बतलाता है ॥ ७ । १० ॥

११. उषासानक्ता

उषासानक्ता, उषाश्च नक्ता च । उषा व्याख्याता । नक्तेति रात्रिनाम, अनक्ति भूतान्यवश्यायेन, अपि वाऽनक्ताऽव्यक्तवर्णा । तयोरेषा भवति—

आसुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधिश्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ १०.११०.६

सेष्मीयमाणे इति वा. सुष्वापयन्त्याविति वा । सीदतामिति वा, न्यासीदतामिति वा । यज्ञिये, उपक्रान्ते, दिव्ये, योषणे, बृहत्यौ महत्यौ, सुरुक्मे सुरोचने, अधिदधाने शुक्रपेशसं श्रियम् । शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । पेश इति रूपनाम पिंशतेर्विपिंशितं भवति ॥ ८ । ११ ॥

उषाश्च नक्ता च उषासानक्ता–इसप्रकार इसका विग्रह है। उषासोषसः (पा० ६. ३. ३१) से 'उषस्' को 'उषासा' आदेश। उषा की व्याख्या हो चुकी है (१४५ पृ०)। 'नक्ता' यह रात्रि का नाम है। (क) यह पदार्थों को ओस से संयुक्त करती है, अंज्+क्त—ज् अज् त–नक्ता। (ख) अथवा, यह अव्यक्तवर्णा है। रात्रि के समय पदार्थों के रूप अभिव्यक्त नहीं होते। न अक्ता–नक्ता। उस 'उषासनक्ता' की 'आसुष्वयन्ती यजते' आदि ऋचा है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

इस मंत्र में परमात्मा यज्ञकर्ताओं को आशीर्वाद देता है कि हे यज्ञकर्ता मनुष्यो! (यजते उषासानक्ता उपाके) यज्ञ करने के योग्य ये प्रातः और सायं सेवित किए हुए (योनौ) तुम्हारे घर में (सुष्वयन्ती) मुस्कराते हुए या शयनावस्था की तरह सौमनस्य को देते हुए, (दिव्ये, योषणे) सब व्यवहारों के साधक, शुभकर्मों को संयुक्त करने वाले, (बृहती, सुरुक्मे) महान् सुख के देने वाले, रोचिष्णु, (शुक्रपिशं श्रियं अधिदधाने) और शुभ्रवर्णा लक्ष्मी को धारण करते हुए (न्यासीदताम्) निरन्तर प्राप्त हों।

इस मंत्र में प्रातः और सायं, दोनों कालों में यज्ञ करने का विधान है। और ऐसा करने से 'सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता' 'प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्य दाता (अथर्व० १९ ५५.३,४) के अनुसार उस यज्ञकर्ता के दिन और रात बड़े उज्ज्वल रहते हैं—इसका प्रतिपादन किया गया है।

सुष्वयन्ती = सेष्मीयमाणे (स्मिङ् ईषद्धसने) सुष्वापयन्त्यौ। 'नि' उपसर्ग को यास्काचार्य ने एक पक्ष में पदपूरणार्थक मान कर 'आसीदताम्' अर्थ किया है, और दूसरे पक्ष में 'न्यासीदताम्'। शुक्र = शुभ्र, शुद्ध, दीप्त्यर्थक 'शुच' धातु से 'रक्' प्रत्यय (उणा० २. २८)। पेशस = रूप, दीप्त्यर्थक 'पिश' धातु से 'असुन्'। उसी 'पेशस्' का रूपान्तर 'पिश्' है ॥ ८ । ११ ॥

१२. दैव्या होतारा

दैव्या होतारा दैव्यौ होतारौ, अयं चाग्निरसौ च मध्यमः। तयोरेषा भवति—

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै। प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥१०.११०.७

दैव्यौ होतारौ प्रथमौ, सुवाचौ, निर्मिमानौ यज्ञं मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय, प्रचोदयमानौ यज्ञेषु, कर्तारौ, पूर्वस्यान्दिशि यष्टव्यमिति प्रदिशन्तौ ॥ ६ । १२ ॥

दैव्या होतारा = यह अग्नि और वह अन्तरिक्षस्थानीय वायु। इसकी 'दैव्या होतारा प्रथमा' आदि ऋचा है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(प्रथमा) मनुष्य–जीवन के लिये मुख्य, (सुवाचा) वाणी आदि इन्द्रियों को उत्तम बनाने वाले, (मनुषः यजध्यै यज्ञं मिमाना) प्रत्येक मनुष्य के यज्ञ–कर्म के लिये यज्ञ के निर्माता (विदथेषु प्रचोदयन्ता) यज्ञों में शुभकर्मों की ओर प्रेरित करने वाले, (कारू) अनेक कर्मों के सिद्ध करने वाले (प्रदिशा प्राचीनं ज्योतिः दिशन्ता) और वेदोक्त विधि के अनुसार प्राचीन ज्योति हो, अर्थात् गृह की पूर्वदिशा में यज्ञ करना चाहिए–माना अपनी प्रगति से इसका निर्देश करते हुए (दैव्या होतारा) दिव्य–गुण–सम्पन्न सुखप्रदाता अग्नि और वायु हमारे इस यज्ञ को सम्पन्न करें।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि प्रत्येक गृहस्थ को यज्ञ अवश्य करना चाहिए, वेदोक्त विधि के अनुसार करना चाहिए, और पूर्व दिशा में करना चाहिए। यज्ञ के करने से मनुष्य की इन्द्रियें पवित्र होती हैं और शुभकर्मों की ओर रुचि बढ़ती है।

यजध्यै = यजनाय। कारू = कर्तारौ। मंत्र के अर्थ को पूर्ण करने के लिये 'नो यक्षताम् इमम्' इस का अध्याहार करना चाहिए, जैसे कि ऋ० १. १३ आप्रीसूक्त में ये शब्द मंत्रपठित है ॥ ९ । १२ ॥

१३. तिस्रो देवीः

तिस्रो देवीस्तिस्रो देव्यः। तासाम् एषा भवति—

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥ १०.११०.८

ऐतु नो यज्ञं भारती क्षिप्रम्। भरत आदित्यस्तस्य भाः। इडा च मनुष्वदिह चेतयमाना। तिस्रो देव्यो बर्हिरिदं सुखं सरस्वती च सुकर्माण आसीदन्तु ॥ १० । १३ ॥

तिस्रो देवीः=आदित्यज्योति, अग्नि, और विद्युत्—ये तीन प्रकाशमान अग्नियें। इन तीन देवियों में से एक अग्नि भी है, इस लिये 'तिस्रो देवीः' का पृथिवी स्थान में पाठ है। 'आ नो यज्ञं' आदि मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—

(नः यज्ञं भारती तूयं आ एतु) हमारे यज्ञ में आदित्यज्योति शीघ्र प्राप्त हो, (मनुष्वत् चेतयन्ती इडा इह) मनुष्य की तरह चेताने वाली पृथिवीस्थ अग्नि हमारे इस यज्ञ में शीघ्र प्राप्त हो, (सरस्वती) और इसीप्रकार जल में रहने वाली विद्युत् भी हमें शीघ्र प्राप्त हो। (स्वपसः तिस्रो देवीः) एवं, अनेक उत्तम कर्मों को सिद्ध करने वाली ये तीन देवियें (इदं स्योनं बर्हिः आसदन्तु) हमारे इस सुख-कारी शिल्पयज्ञ में आस्थित हों। अर्थात्, उपर्युक्त तीनों प्रकार की अग्नियों से मनुष्यों को अपने यज्ञ सिद्ध करने चाहियें।

'आ' उपसर्ग का संबन्ध 'एतु' और 'सदन्तु'—दोनों क्रियाओं के साथ है भारती—'भरत' का अर्थ है आदित्य, उस की दीप्ति 'भारती' कहलाती है। इडा' पृथिवीवाची निघण्टुपठित है। अतः, पृथिवीस्थानीय अग्नि को भी 'इडा' कहा गया। स्वपसः=सुकर्माणः ॥ १० । १३ ॥

१४. त्वष्टा　त्वष्टा तूर्णमश्नुते इति नैरुक्ताः। त्विषेर्वा स्याद्दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः।

तस्यैषा भवति—

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ १०.११०.९

य इमे द्यावापृथिव्यौ जनयित्र्यौ रूपैरकरोद् भूतानि च सर्वाणि, तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यज विद्वान् ॥ ११ । १४ ॥

माध्यमिकस्त्वष्टेत्याहुर्मध्यमे च स्थाने समाम्नातः। अग्नि-रिति शाकपूणिः। तस्यैषापरा भवति—

आविष्ट्यो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे। उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंहं प्रतिजोषयेते ॥१.९५.५

आविरावेदनात्, तत्त्यः। वर्द्धते चारुरासु, चारु चरतेः। जिह्मं जिहीतेः। ऊर्ध्वं उच्छ्रितो भवति। स्वयशा आत्मयशाः। उपस्थ उपस्थाने। उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्—द्यावापृथिव्याविति वा, अहोरात्रे इति वा, अरणी इति वा। प्रतीची सिंहं प्रतिजोषयेते—प्रत्यक्ते सिंहं सहनं प्रत्यासेवेते॥ १२। १५॥

त्वष्टृ—(क) त्वर्+अशूङ्+तृन्—त्वश् तृ—त्वष्टृ, शीघ्र फैलाने वाला। (ख) 'त्विष' दीप्तौ+तृन्—त्विष्टृ—त्वष्टृ, दीप्तिमान् (ग)। त्वक्ष+तृन्—त्वक्ष्+तृ—त्वष्टृ, शुद्धि आदि का कर्ता। यद्यपि धातुपाठ में 'त्वक्षू तनूकरणे' धातु पठित है, परन्तु यहां सामान्यतः करणार्थक मानी गई है। 'त्वष्टा' की 'य इमे द्यावापृथिवी' आदि ऋचा है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(यः जनित्री इमे द्यावापृथिवी) जो अग्नि ओषधि वनस्पति आदि को पैदा करने वाले इन अन्तरिक्ष और पृथिवी को, (विश्वा भुवनानि) और सब प्राणिओं को (रूपैः अपिंशत्) अनेक प्रकार के स्वरूपों से संयुक्त करती है, (होतः! इषितः यजीयान् विद्वान्) हे होता! परमेश्वर से प्रेरित किया हुआ तू उत्तम यज्ञकर्ता, और यज्ञ-विद्या को जानने वाला होकर (तं त्वष्टारं देवं अद्य इह यक्षि) उस शुद्धि आदि के कर्ता दिव्यगुण संपन्न अग्नि को आज इस गृहस्थाश्रम में यज्ञ के लिये प्राप्त कर।

जिस यज्ञाग्नि के द्वारा अन्तरिक्ष मेघमालाओं के कारण अनेक प्रकार के रूपों को धारण करता है, पृथिवी ओषधि वनस्पतिओं से भिन्न २ रूपों वाली होती है, और इसीप्रकार प्राणिओं को उत्तम और पुष्कल भोजन के मिलने से, वे सुरूपवान् बनते हैं, उस यज्ञाग्नि को प्राप्त करना, मनुष्यों का धर्म है। परन्तु यज्ञकर्ता को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि वह पहले अपने आप को शुद्धाचरण आदि के द्वारा उत्तम यज्ञकर्ता बनाले, और यज्ञ-विधि का ज्ञान पूर्णतया उपलब्ध करले। अपिंशत्=अकरोत्॥ ११।१४॥

कई निरुक्तकार कहते हैं कि यहां 'त्वष्टा' से मध्यमस्थानीय वायु का वर्णन है, और यह निघण्टु में मध्यमस्थानीय देवताओं में पठित भी है, पृथिवीस्थान में तो आप्री-देवताओं के प्रसङ्ग मे इसका पाठ आ गया है। परन्तु शाकपूणि इसे अग्निवाची मानता है, जिसकी पुष्टि के लिये 'आविष्ट्यो वर्धते' आदि मंत्र प्रस्तुत किया गया है। उसमें आये 'जिह्मानामूर्ध्वः' से स्पष्ट विदित होता है कि 'त्वष्टा' अग्निवाची भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि अग्नि

का ही स्वभाव ऊर्ध्वज्वलन का है, वायु का तो तिर्यक्पवन है, जैसे कि वैशेषिक दर्शनकार ने कहा है—'अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनम्' ।

अब मंत्र का अर्थ देखिए—

(आविष्ट्यः चारुः आसु वर्धते) प्रकाश-विस्तारक और सुमनोहर अग्नि इन यज्ञ-क्रियाओं में बढ़ती है। (जिह्मानां उपस्थे ऊर्ध्वः स्वयशाः) यह अग्नि कुटिल वस्तुओं के मध्य में भी ऊर्ध्वगामी है, यह इसका अपना स्वभाव है। (जायमानात् न्यृषुः उभे बिभ्यतुः) इस प्रज्वलित हुई अग्नि से अन्तरिक्ष और पृथिवी, दोनों में रहने वाले पक्षी पशु मनुष्यादि, अथवा दिवाचारी और निशाचारी, अथवा अरणियों से अग्नि को पैदा करने वाले स्वयं अरणी-सहचारी मनुष्य डरते हैं। (प्रतीची सिंहं प्रतिजोषयेते) परन्तु फिर भी प्रत्येक प्राणी, उस अग्नि की ओर जाता हुआ सिंहसमान सहन स्वभाव वाली, अर्थात् हानि पहुंचाने वाली अग्नि को सेवता है ।

आविष्ट्य—आवेदन से—ज्ञापन से—प्रकाशन से प्रकाश को 'आविस्' कहा गया है, आ+विद् । तस्य आविषः त्यो विस्तारक इति आविष्ट्यः, 'तनु' विस्तारे+ड्य=त्य । चारु=सुन्दर, चरति चित्ते इति चारुः, चर+ञुण् (उणा० १. ३) । जिह्म—जिहीते कुटिलत्वं गच्छतीति जिह्मम्, 'ओहाङ्' गतौ से 'मन्' प्रत्यय, सन्वद्भाव और आकार-लोप (उणा० १. १४१) । ऊर्ध्व—उत्+श्रि+वन् —उत् र् व—उर्त्व—ऊर्ध्व । उभे=द्यावापृथिव्यौ, अहोरात्रे, अरणी । यहां तात्स्थ्योपाधि तथा तत्सहचरितोपाधि अभिप्रेत है । प्रतीची=प्रत्यक्=प्रतिगते । सिंह=सहन । 'जोषयेते' यहां स्वार्थ में 'णिच्' है ॥ १२ । १५ ॥

* तृतीय पाद *

१५. वनस्पति

वनस्पतिर्व्याख्यातः । तस्यैषा भवति—

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि । वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥१०.११०.१०

उपावसृजात्मनात्मानं समञ्जन् देवानामन्नम् ऋतावृतौ हवींषि काले काले । वनस्पतिः, शमिता, देवो अग्निः—इत्येते

त्रयः स्वदन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च ॥ १ । १६ ॥

तत्को वनस्पतिः ? यूप इति कात्थक्यः, अग्निरिति *शाकपूणिः । तस्यैषापरा भवति—*

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन ।
यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे ॥ ३. ८.१

अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवान्कामयमाना वनस्पते ! मधुना दैव्येन घृतेन च, यदूर्ध्वः स्थास्यसि द्रविणानि च नो दास्यसि । यद्वा ते कृतः क्षयो मातुरस्या उपस्थ उपस्थाने । अग्निरिति शाकपूणिः ॥ २ । १७ ॥

'वनस्पति' की व्याख्या ५३६ पृ० पर की जा चुकी है । उसकी 'उपावसृज त्मन्या' आदि ऋचा है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(त्मन्या समञ्जन्) हे वनस्पति अग्नि ! तू अपने आप से अपने को अभि-व्यक्त करके (ऋतुथा) ऋत्वनुकूल (देवानां पाथः हवींषि) देवजनों के अन्न और मिष्टान्न आदि अन्य हवियों को (उपावसृज) बना । (वनस्पतिः) गार्हपत्याग्नि (शमिता) दक्षिणाग्नि (देवः अग्निः) और आहवनीयाग्नि, ये तीनों अग्नियें (मधुना घृतेन हव्यं स्वदन्तु) मिष्ट और घृत के साथ हवि का आस्वादन करावें ।

त्मन्या = आत्मना आत्मानं । त्मन्या को तृतीयान्त और द्वितीयान्त, दोनों रूपों में मान कर यास्काचार्य ने उपर्युक्त अर्थ किया है । 'आत्मन्' शब्द के तृतीया या द्वितीया के एकवचन को 'सुपां सुलुक्' से 'या' और 'मंत्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० ६. ४) से आकार-लोप । पाथस् = अन्न । ऋतुथा = ऋतौ ऋतौ = काले काले । स्वदन्तु = स्वदयन्तु ।

त्रिविध अग्नि ।

'वनस्पतिः, शमिता, देवो अग्निः, इत्येते त्रयः' इससे पता लगता है कि ये तीन प्रकार की अग्नियों के नाम हैं । सायण ने 'देवो दीप्यमानः आहवनीयाख्योऽग्निः' लिखते हुए 'देव' नाम आहवनीय अग्नि का बतलाया है । अवशिष्ट दो अग्नियें कौन सी हैं, उसके ज्ञान के लिये ज़रा श्रौतसूत्रों की ओर आइए ।

(क) इन सूक्तों में प्रत्येक गृहस्थी को त्रिविध अग्नि की परिचर्या का आदेश है। वे तीन अग्नियें गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, और आहवनीय, इन नामों से उल्लिखित की गई हैं। विवाहकाल में जिस अग्नि में यज्ञ किया जाता है, उसी अग्नि को गृहस्थ अपने घर में लाकर प्रदीप्त रखता है, और उसे सर्वथा बुझने नहीं देता। भोजन के लिए उसी अग्नि को प्रदीप्त करके, भोजन बनाया जाता है। इस अग्नि का नाम 'गार्हपत्य' है, क्योंकि गृहपतित्व का संबन्ध इसी अग्नि से है।

(ख) दूसरे अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है। इस अग्नि से यज्ञकाल में ऋत्विज् आदिकों को दक्षिणारूप में खाद्य पदार्थ देने के लिए तैयार किये जाते हैं, और यज्ञों में आहुतिओं के लिये स्थालीपाक भी इसी से बनते हे। इनका दूसरा नाम का०श्रौ० (२.५.२७) में 'अन्वाहार्य्यपचन' बतलाया है। ~~यज्ञस्य हीनमन्वाहरतीति अन्वाहार्यः दक्षिणा, तस्य पचनमत्र सो ऽन्वाहार्य्यपचनः~~। बिना दक्षिणा के यज्ञ अधूरा होता है, क्योंकि 'यज्ञ' में देवपूजा, संगतिकरण, और दान-ये तीनों भाव पाये जाते हैं। अतः, बिना दान के यज्ञ को अपूर्ण ही माना जाता है। यज्ञ के इस हीन अङ्ग को दक्षिणा पूर्ण कर देती है, अतः उसे अन्वाहार्य्य कहा गया।

आश्व० श्रौ० (२.२. १) में इस 'दक्षिणाग्नि' को प्राप्त करने की यथारुचि भिन्न २ चार विधियें बतलायी हैं। (१) 'गार्हपत्य' अग्नि में से अग्नि को लेकर इस कर्म के लिए दक्षिणाग्नि को पृथक् प्रदीप्त कर लिया जावे। (२) किसी दूसरे गृहस्थ के घर से 'दक्षिणाग्नि' में से आग लाकर पृथक् प्रदीप्त की जावे। (३) यदि अपने ही घर में 'दक्षिणाग्नि' भी रहती हो, तो उसी को प्रज्वलित करले। (४) और, या अरणीमन्थन से, अर्थात् दियासलाई आदि से अग्नि प्रदीप्त करले।

(ग) तीसरी 'आहवनीयाग्नि' वह है, जिस में अग्निहोत्रादि यज्ञ किये जाते हैं। आश्व० श्रौ० के २.२.१ में ही यह भी बतलाया है कि 'गार्हपत्य' में से ही अग्नि को लेकर पृथक् 'आहवनीयाग्नि' प्रज्वलित करली जावे।

इस उपर्युक्त वर्णन से पता लगा कि प्रत्येक गृहस्थी को त्रिविध अग्नि का सेवन तो करना ही चाहिये, परन्तु इन तीनों में से गार्हपत्य अग्नि की रक्षा सर्वदा करनी है, और उसे गृहस्थकाल में कभी भी बुझने नहीं देना चाहिए।

अब आप मंत्रोक्त वनस्पति, शमिता, और देव, इन तीन अग्नि-नामों की ओर आइये। 'देव' का निर्वचन सायण ने यद्यपि 'दीप्यमान' किया है, परन्तु मेरी सम्मति में यहां 'दा' धातु से इसकी सिद्धि करनी चाहिए, जैसे कि यास्क ने ५०० पृ० पर की है। तब देव और आहवनीय, ये दोनों ठीक समानार्थक होजाते हैं।

यज्ञस्य हीनं अन्वाहरतीति अन्वाहार्य्यः, और यज्ञस्य हीनं शमयतीति शमिता, ये भी दोनों समानार्थक हैं, अतः 'शमिता' दक्षिणाग्नि है।

वन्यते सेव्यते इति वनम्—इस निर्वचन से मेदिनीकोषकार ने 'वन' का अर्थ 'निवास' और 'आलय' भी दिया है। एवं, वनस्पति और गृहपति—ये दोनों समानार्थक हैं, अतः 'वनस्पति' गार्हपत्याग्नि है। इस प्रकार गृहस्थ के लिये त्रिविध अग्नि की परिचर्या और गार्हपत्याग्नि (वनस्पति) को कभी बुझने न देने का उपदेश (त्मन्या समञ्जन्=आत्मना आत्मानं प्रकाशयन्) उपर्युक्त मंत्र भी दे रहा है। एतद्विषयक श्रौतसूत्रादि ग्रन्थों का मूल यही वेदमंत्र है ॥ १ । १६ ॥

सो, वनस्पति कौन है ? कात्थक्य कहता है कि इसका अर्थ यज्ञस्तम्भ है, परन्तु शाकपूणि इसे अग्निवाची मानता है। अपने पक्ष की पुष्टि में वह 'अञ्जन्ति त्वामध्वरे' आदि एक अन्य ऋचा देता है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(वनस्पते देवयन्तः) हे गार्हपत्याग्नि ! अपने में देवभावों की कामना करते हुए गृहस्थ लोग (त्वा अध्वरे) तुझे हिंसारहित बलिवैश्वदेव यज्ञ में (मधुना दैव्येन अञ्जन्ति) मिष्टान्न और घृत के साथ प्रकाशित करते हैं। (यत् ऊर्ध्वः तिष्ठाः) क्योंकि यदि तू आहवनीय के रूप में ऊंची ज्वालाओं वाली होगी (यद्वा अस्याः मातुः उपस्थे क्षयः) और यदि इस भूमि पर तेरा निवास होगा, अर्थात् दक्षिणाग्नि के रूप में निम्न ज्वालाओं के साथ प्रदीप्त होगी, (इह द्रविणा धत्तात्) तो इन दोनों रूपों मे तू हमें धन प्रदान करेगो।

इस मंत्र में यज्ञविषयक ये शिक्षायें हैं—(१) बलिवैश्वदेव यज्ञ में मिष्टान्न और घृतान्न का ही प्रयोग करना चाहिये, नमकीन या खट्टे पदार्थों का नहीं। (२) गार्हपत्याग्नि से ही आहवनीय और दक्षिणाग्नि प्रज्वलित की जाती है। (३) और, उन्न ज्वालाओं के रूप में अग्नि के भलीप्रकार प्रज्वलित होजाने पर ही यज्ञ करना चाहिये।

यास्क ने 'मधुना दैव्येन' का अर्थ मधु और घृत किया है, ऐ० ब्रा० ने इसी मंत्र की व्याख्या करते हुए (**एतद्वै मधु दैव्यं यदाज्यम् ॥ २.२**) मधु दैव्य का अर्थ केवल घृत ही बतलाया है ॥ २ । १७ ॥

तस्यैषापरा भवति—

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम् ।
प्रदक्षिणिद्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभी रजिष्ठैः ॥

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण ऋतपर्ण, अपित्रोपमार्थे स्याद्धिरण्यवर्णपर्णेति। प्रदिवस्ते अर्थं पुराणस्ते सोऽर्थो यं ते प्रब्रूमः। यज्ञस्य वह पथिभी रजिष्ठै ऋजुतमैः, रजस्वलतमैः,तपिष्ठतमैरिति वा॥ ३। १८॥

तस्यैषापरा भवति—

वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्।
वह देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारममृतेषु वोचः॥

वनस्पते रशनया नियूय सुरूपतमया, वयुनानि विद्वान् प्रज्ञानानि प्रजानन्, वह देवान् यज्ञे दातुर्हवींषि, प्रब्रूहि च दातारम् अमृतेषु देवेषु॥ ४। १६॥

अपने पक्ष की पुष्टि में यास्काचार्य उपर्युक्त दो अन्य प्रमाण प्रस्तुत करता है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य के अष्टम अष्टक से पूर्व में दिये हुए प्रैषाध्याय में इन दोनों का उल्लेख किया है। ये उस अध्याय के १९ तथा २० मंत्र हैं। उन के अर्थ इस प्रकार हैं—

(हिरण्यपर्ण वनस्पते) पितृयज्ञ, और अतिथियज्ञ के पंखों वाले ! या सुवर्णसमान पंखों वाले गार्हपत्य अग्ने ! (प्रदक्षिणित् रशनया नियूय) अपने से प्रतिगृहीता को दाहिनी ओर रख कर दिये जाने वाली दक्षिणा-रज्जु से बांधकर (ऋतस्य रजिष्ठैः पथिभिः) यज्ञ के ऋजुतम मार्गों से, उत्तम दिनों के निर्माण करने वाले मार्गों से, अथवा तेजस्वितम मार्गों से (देवेभ्यः हवींषि वक्षि) माता पिता आदि और विद्वानों के लिये हविओं को प्राप्त करा (ते अर्थं प्रदिवः) हे गार्हपत्याग्नि ! तेरा यह प्रयोजन सनातन है, जिसे कि हम तुझे कह रहे हैं।

इस मंत्र में गार्हपत्याग्नि को एक सु[illegible] पक्षी दर्शाया है, जिसकी ज्वालायें सुवर्णसमान पंख हैं, या यज्ञ उसके पंख-स्थानीय हैं। वह पक्षी दक्षिणा-रज्जु से बांध कर उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थों को देवों के पास ले जाता है। उसके जाने का यज्ञरूपी मार्ग बड़ा ऋजु, उत्तम जीवन-दिनों का निर्माता, या तेजस्वितम है।

प्रदक्षिणित्=प्रदक्षिणिदा; प्रदक्षिणमेतीति प्रदक्षिणित्, सुपां सुलुक् से तृतीया का लुक्। प्रदक्षिणित् के आशय को समझने के लिये १९ पृ० देखिए।

हिरण्य = ऋत = यज्ञ । प्रदिवः = पुराण । रजिष्ठ—ऋजिष्ठ-रजिष्ठ । अथवा, 'रजस्' शब्द दिन और ज्योति के लिये भी प्रयुक्त होता है (२ ७७ पृ०) अतः, अत्युत्तम दिन और तेजस्वितम, ये अर्थ भी होंगे ॥ ३।१८ ॥

अब दूसरे प्रमाण का अर्थ देखिए—(वनस्पते ! वयुनानि विद्वान्) हे गार्हपत्याग्नि ! तू हमारे अभिप्रायों को जानती हुई (पिष्टतमया रशनया नियूय) सुमनोहर दक्षिणा-रज्जु से बांधकर (दिधिषोः हवींषि देवत्रा वह) मुझ दाता की हवियों को यज्ञ में विद्वानों के पास पहुंचा, (च दातारं अमृतेषु प्रवोचः) और इससे मुझ गृहस्थी दाता को उन विद्वानों में प्रख्यात कर ।

पिष्टतमा = ~~सुरूपतम~~, 'पिश्' का अर्थ रूप है (५४५ पृ०) अतः, 'पिष्ट' का अर्थ हुआ रूप वाला । दिधिषु = दाता, यहां 'धा' धातु दानार्थक मानी है । अमृत = देव ॥ ४ । १९ ॥

१६. स्वाहाकृति

स्वाहाकृतयः, स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वाग् आहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । तासामेषा भवति—

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः । अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ १०. ११०. ११

सद्यो जायमानो निरमिमीत यज्ञम् । अग्निर्देवानामभवत् पुरोगामी । अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाच्यास्ये स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः, इति यजन्ति ॥ ५ । २० ॥

स्वाहा—(क) प्रियवचन, मधुरवचन, कल्याणकर वचन । सु आह वक्ति अनेनेति स्वाहा, सु + आह् + घञ् = स्वाह, सुपां सुलुक् से सब विभक्तियों को 'आ' आदेश । अतः, प्रियवचन से, इत्यादि सब विभक्तियों के अर्थ इस 'स्वाहा' शब्द में पाये जावेंगे । यहां 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' (पा० ३. ४. ८४) से 'ब्रू' धातु को 'आह्' आदेश है । सु आह वक्ति स्वाहा, एवं कर्ता में प्रत्यय करने पर 'स्वाहा' का अर्थ प्रियवक्ता, कल्याणवक्ता भी होगा ।

(ख) सत्यभाषण, सत्यवक्ता। स्वा वाक् आह वक्ति अस्मिन्निति स्वाहा, स्वा+आह्+घञ्+सु=स्वाहा। सत्यभाषण या सत्यवक्ता में वागिन्द्रिय अपनी हृदयस्थ वाणी कहती है। अर्थात्, हृदय में जो वचन है, उसे ही वाणी द्वारा उच्चारण किया जाता है।

(ग) अपने पदार्थ को ही अपना समझना, दूसरे के पदार्थ को ग्रहण न करना, अर्थात् अपरिग्रह। अथवा, अपरिग्रह–धर्म को पालन करने वाला मनुष्य। स्वं पदार्थं प्राह वक्ति अनेन अयं वा सः स्वाहा, स्व+आह्+घञ्+सु=स्वाहा।

(घ) सुगृहीत हवि की आहुतियें देना, अर्थात् सामग्री आदि को भली प्रकार स्वच्छ करके विधिपूर्वक यज्ञ करना, और इसीप्रकार विधिपूर्वक यज्ञ करने वाला। फिर, सामान्यतः सत्क्रिया या सत्कर्त्ता मात्र के लिए 'स्वाहा' शब्द प्रयुक्त होता है। सु आहुतं हविः जुहोति अनेन कर्मणा अयं मनुष्यो वा इति स्वाहा, सु+आ+हु+ड+सु=स्वाहा। आ=आहुत=गृहीत।

स्वाहाकृतिओं के मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—(सद्यः जातः यज्ञं व्यमिमीत) उसीसमय प्रदीप्त की हुई अग्नि यज्ञ का निर्माण करती है। (अग्निः देवानां पुरोगाः अभवत्) यह यज्ञाग्नि संस्कारादि उत्तम कर्मों में पुरोगामी होती है। (ऋतस्य प्रदिशि) यज्ञ के योग्य उत्तम स्थान में (अस्य होतुः आचि) इस हवन-साधक अग्नि की ज्वालाओं में (देवाः स्वाहाकृतं हविः अदन्तु) विद्वान् द्विज लोग स्वाहाकार पूर्वक हवि को खिलावें, अर्थात् मंत्रान्त में 'स्वाहा' का उच्चारण करते हुए अग्निज्वाला में आहुतियें प्रदान करें।

एवं, इस मंत्र में यज्ञविषयक ये शिक्षायें दी गई हैं—

(१) सदा यज्ञकाल में ही आहवनीयाग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये। (२) उत्तम स्थान में यज्ञ करना चाहिए। (३) ज्वालारूप में अग्नि के प्रदीप्त होजाने पर ही सामग्री की आहुतियें देनी चाहियें। (४) और, प्रत्येक मंत्र के अन्त में 'स्वाहा' का उच्चारण करके आहुति डालनी चाहिए। इन सब विधिओं के प्रयोजन बड़े स्पष्ट हैं, उन्हें विज्ञ लोग स्वयं समझ सकते हैं।

मुण्डकोपनिषत् में अग्निज्वाला के लिये 'जिह्वा' का प्रयोग है। उसीतरह यहां 'वाक्' का प्रयोग किया गया है। 'इति यजन्ति' कहते हुए यास्काचार्य 'स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः' का अर्थ स्पष्ट करते हैं कि इसप्रकार स्वाहाकार पूर्वक देवलोग यज्ञ करते हैं॥ ५। २०॥

ऐतरेय ब्राह्मण ने आप्री देवताओं के जो अर्थ किये हैं, वे भी दर्शनीय हैं। वह लिखता है—

तनूनपातं यजति । प्राणो वै तनूनपात्, स हि तन्वः पाति, प्राणमेव तत् प्रीणति, प्राणं यजमाने दधाति ।

नराशंसं यजति । प्रजा वै नरो वाक् शंसः, प्रजां चैव तद् वाचं च प्रीणाति, प्रजां च वाचं च यजमाने दधाति ।

इडो यजति । अन्नं वा इडः, अन्नमेव तत्प्रीणाति, अन्नं यजमाने दधाति ।

बर्हिर्यजति । पशवो वै बर्हिः,पशूनेव तत्प्रीणाति, पशून् यजमाने दधाति ।

दुरो यजति । वृष्टिर्वै दुरो, वृष्टिमेव तत्प्रीणाति, वृष्टिमन्नाद्यं यजमाने दधाति ।

उषासानक्ता यजति । अहोरात्रे वा उषासानक्ता, अहोरात्रे एव तत् प्रीणाति, अहोरात्रे यजमाने दधाति ।

दैव्या होतारा यजति । प्राणापानौ वै दैव्या होतारा, प्राणापानावेव तत्प्रीणाति, प्राणापानौ यजमाने दधाति ।

तिस्रो देवीर्यजति । प्राणो वा अपानो व्यानस्तिस्रो देव्यः, ता एव प्रीणाति, ता यजमाने दधाति ।

त्वष्टारं यजति । वाग् वै त्वष्टा, वाग्घीदं सर्वं त्वाष्टीव, वाचमेव तत्प्रीणाति, वाचं यजमाने दधाति ।

वनस्पतिं यजति । प्राणो वै वनस्पतिः, प्राणमेव तत्प्रीणाति, प्राणं यजमाने दधाति ।

स्वाहाकृतीर्यजति । प्रतिष्ठा वै स्वाहाकृतयः, प्रतिष्ठायामेव तद् यज्ञमन्ततः प्रतिष्ठापयति ॥ ऐ० ब्रा० २.१.४

एवं, यहां ऐतरेय ब्राह्मण ने तनुनपात् आदि के ये अर्थ किये हैं—

तनूनपात्= प्राण । नराशंस=प्रजा और वाणी । इड=अन्न । बर्हिष्=पशु । दुर् (द्वार्)=वृष्टि । उषासानक्ता = अहोरात्र । दैव्या होतारा=प्राण, अपान । तिस्रोदेवीः=प्राण, अपान, व्यान । त्वष्टा=वाक् । वनस्पति=प्राण । स्वाहाकृति=प्रतिष्ठा ।

इतीमा आप्रीदेवता अनुक्रान्ताः। अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजाः। (१) आग्नेया इत्येके—

प्रयाजान्मे अनुयाजाँश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्।
घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः॥ १०.५१.८

तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः।
तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः॥१०.५१.९

'आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः' इति च ब्राह्मणम्।

(२) छन्दोदेवता इत्यपरम्। 'छन्दांसि वै प्रयाजाश्छन्दांस्यनुयाजाः' इति च ब्राह्मणम्।

(३) ऋतुदेवता इत्यपरम्। 'ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजाः' इति च ब्राह्मणम्।

(४) पशुदेवता इत्यपरम्। 'पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजाः' इति च ब्राह्मणम्।

(५) प्राणदेवता इत्यपरम्। 'प्राणा वै प्रयाजाः प्राणा वा अनुयाजाः' इति च ब्राह्मणम्।

(६) आत्मदेवता इत्यपरम्। 'आत्मा वै प्रयाजा आत्मा वा अनुयाजाः' इति च ब्राह्मणम्।

आग्नेया इति तु स्थितिः, भक्तिमात्रमितरत्।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते? 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्' (ऐ० ब्रा० ३. १. ८) इति ह विज्ञायते।

इसप्रकार ये आप्री देवता क्रम से वर्णित किए गए। अब इस पर विचार किया जाता है कि प्रयाज और अनुयाज देवता किस देवता के वाचक हैं।

ऐतरेयब्राह्मण २. १८ में ३३ देव असोमप बतलाये हैं, जो कि सोमरस का पान नहीं करते, प्रत्युत अन्य हवि का भक्षण करते हैं। उन में से ११ प्रयाज हैं, ११ अनुयाज हैं, और ११ उपयाज हैं। 'तनूनपात्' और 'नराशंस' का विकल्प मान कर ११ आप्रीदेवता प्रयाज हैं। और, देवीर्द्वारः, उषासानक्ता, देवीजोष्ट्री, देवीऊर्जाहुती, दैव्या होतारा, तिस्रोदेवीः, बर्हिः, नराशंसः, वनस्पतिः, बर्हिर्वारितीनाम्, और अग्निः स्विष्टकृत्—ये ११ अनुयाज हैं।

प्रयाज मंत्र यज्ञ के मुख्य भाग हैं, अनुयाज मंत्र उन प्रयाजों के पश्चात् पढ़े जाने वाले हैं, और उपयाज मंत्र प्रयाजों के सहयोगी हैं। इन सब मंत्रों का उच्चारण करके यज्ञ में सोमरस की आहुतियें नहीं दी जाती, प्रत्युत अन्य सामग्री की आहुतियें डाली जाती हैं।

अब इन प्रयाज और अनुयाज मंत्रों के देवताओं के बारे में विचार किया जाता है कि ये देवता ध्यान के समय किस देवता के वाचक हैं।

(१) कई कहते हैं कि ये देवता अग्निदेवता के वाचक हैं, जैसे कि 'प्रयाजान्मे' आदि दो मंत्र इस का प्रतिपादन कर रहे हैं, जिनका अर्थ इस प्रकार है—

इस सूक्त (ऋ० १०. ५१) में सौचीक अग्नि, अर्थात् सब लोक लोकान्तरों को पिरोने वाले अग्रणी परमेश्वर और यज्ञकर्ता देवों का परस्पर में संवाद है। 'प्रयाजान्मे' आदि मंत्र से सौचीक अग्नि कहता है-(मे केवलान् प्रयाजान् अनुयाजान् च दत्त) हे देवो ! तुम मुझे यज्ञ के विशेष प्रतिपादक प्रयाज और अनुयाज मंत्रों के द्वारा हविओं को दो। (हविषः ऊर्जस्वन्तं भागं दत्त) देवो ! पर इसका ध्यान रखो हवि के कि सारभूत भाग को देना, अर्थात् उत्तमोत्तम हवि से ही यज्ञ करना। (अपां घृतं च, ओषधीनां पुरुषं च) रसों में से घृत को, और ओषधियों में से पुरोडाश अन्न को दो। (अग्नेः च आयुः दीर्घं अस्तु) और ऐसे दीर्घसत्र करो कि अग्नि की आयु दीर्घ हो, अर्थात् यज्ञाग्नि देर तक प्रज्वलित रहे।

इसी मंत्र की व्याख्या में कौषीतकि ब्राह्मण ने लिखा है कि 'आग्नेयमाज्यम् आग्नेयः पुरोडाशः'। अतः, पुरुष का अर्थ 'पुरोडाश' है, मनुष्य–बलि की आज्ञा नहीं।

इस पर देवलोग कहते हैं—हे सौचीक अग्नि ! यज्ञ के विशेष प्रतिपादक प्रयाज और अनुयाज मंत्रों के द्वारा आप की ही हविर्यें हों। हवि के सारभूत भाग

आपके लिये हों। यह संपूर्ण यज्ञ आपकी आराधनापरक हो, और चारों दिशाओं में रहने वाले मनुष्य इन यज्ञों के द्वारा आपके आगे ही नतशिरस्क हों।

एवं, इन मंत्रों से ये शिक्षायें दी गई हैं--(१) क्रियाकाण्ड में एकमात्र पूज्य परमेश्वर है। (२) सदा घृत, अन्न आदि उत्तम हविओं से यज्ञ करना चाहिए, अपवित्र हविओं से नहीं। (३) दीर्घसत्र भी करने चाहियें (४) चारों दिशाओं में मनुष्य यज्ञ करने वाले बनें।

आगे भिन्न २ ब्राह्मण-प्रमाण दिये गये हैं, जिन में कि अग्नि, छन्द, ऋतु, पशु, प्राण, और आत्मा, इनको प्रयाज तथा अनुयाज देवताओं का ध्येय देवता माना है। परन्तु अग्नि देवता के लिये वेदप्रमाण भी है, जो कि स्वतःप्रमाण है, अतः इनका ध्येय देवता 'अग्नि' ही है-ऐसा निश्चय है, अन्य छन्द, ऋतु आदि वचन उसी अग्नि के विशेषणमात्र हैं।

यह उपर्युक्त विचार क्यों किया गया? (उत्तर) ब्राह्मण में यह बतलाया गया है कि जिस देवता के लिये हवि ग्रहण की गई हो, स्वाहाकार करते हुए उस देवता का मन से ध्यान करे। अतः, यह आवश्यक है कि उस ध्येय का निश्चय किया जावे। इसलिये यह सब विचार किया गया है।

तान्येतान्येकादशाप्रीसूक्तानि। तेषां वासिष्ठम्, आत्रेयं वाध्र्यश्वं, गार्त्समदम्—इति नाराशंसवन्ति। मैधातिथं, दैर्घतमसं, प्रैषिकम्—इत्युभयवन्ति। अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति॥ ११। २१॥

सो ये ११ आप्री सूक्त हैं। जिन में से वसिष्ठ (७. २) अत्रि (५. ५) वध्र्यश्व (१०.७०) और गृत्समद (२.३) ऋषि वाले सूक्त, नराशंस और तनूनपात् के विकल्प में से, नराशंस वाले हैं। मेधातिथि(१.१३) और दीर्घतमा (१.१४२) ऋषि वाले, तथा प्रैषाध्याय का सूक्त—ये तनूनपात् और नराशंस, दोनों देवताओं वाले हैं। और, इन से भिन्न ४ सूक्त तनूनपात् वाले हैं, जिन के ऋषि और पते ये हैं—अगस्त्य (१. १८८) विश्वामित्र (३. ४) काश्यप (९. ५) और जमदग्नि (१०. ११०)।

सायण ने ऋग्वेद-भाष्य के अष्टम अष्टक से पूर्व जो प्रैषाध्याय दिया है, उस में 'प्रयाजप्रैष' मंत्र आप्री देवता के हैं। इनको 'प्रैष' इस लिए कहा जाता है कि प्रत्येक मंत्र के अन्त में 'होतर्यज' कहते हुये यज्ञ के लिये प्रेरणा की गई है।

यास्काचार्यने ऋग्वेद के संबन्ध से ये ११ आप्री सूक्त दर्शाये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य वेदों में भी निम्न स्थलों पर पाये जाते हैं—

यजुर्वेद—२०.३६—४६, २०.५५—६६, २१. १२—२२, २७.११—२२, २८. १-११, २८. २४-३४, २९. १-११, २९. २५—३६।

अथर्ववेद—५. १२, ५.२७।

यास्काचार्य ने निरुक्त में जो आप्री देवताओं के मंत्र दिये हैं, उन में एक विलक्षणता है। आपने अभी देखा है कि ऋग्वेद में १०. ११० सूक्त, और यजुर्वेद में २९. २५—३६ मंत्र, आप्री देवताओं के बारे में अन्तिम हैं। दोनों वेदों के इस अन्तिम प्रकरण में वेदमंत्र भी एक से हैं। ऋग्वेद के १०. ११० सूक्त में 'नराशंस' देवता का मंत्र नहीं था, अतः आचार्य ने ऋ० ७. २ सूक्त का 'नराशंसस्य महिमानं' आदि मंत्र ऐसा चुना है, जो कि यजुर्वेद के २९. २५—३६ में विद्यमान है। उधर अथर्ववेद के ५. १२ सू० में भी वही मंत्र हैं (नराशंस वाला मंत्र इस में भी नहीं)। एवं, यास्काचार्य के चुनाव में तीनों वेदों का समन्वय भी होगया है॥ ११।२१॥

नवम अध्याय ।

* प्रथम पाद *

अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः ॥१॥

अब, अग्नि से भिन्न जिन पृथिवीस्थानीय पदार्थों का वेद में वर्णन है, उनको यहां से क्रमशः व्याख्या करेंगे ॥१॥

१. अश्व

तेषामश्वः प्रथमागामी भवति। अश्वो व्याख्यातः, तस्यैषा भवति—

(अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः। शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥९.११२.४

अश्वो वोळ्हा सुखं वोळ्हा रथं वोळ्हा सुखमिति कल्याण-नाम, कल्याणं पुण्यं, सुहितं भवति, सुहितं गम्यतीति वा हसैता वा पाता वा पालयिता वा। शेपमृच्छतीति, वारि वारयति। मानो व्याख्यातः, तस्यैषा भवति।)

मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्। यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि ॥१.१६२.१

यद्वाजिनो देवैर्जातस्य सप्तेः सरणस्य प्रवक्ष्यामो यज्ञे विदथे वीर्याणि, मा नस्त्वं मित्रश्च, वरुणश्च, अर्यमा च, आयुश्च

ायुरयनः, इन्द्रश्चोरुक्षयण ऋभूणां राजेति वा, मरुतश्च
परिख्यन् ॥२॥

उन पृथिव्याश्रित पदार्थों में अश्व पहले आने वाला है, क्योंकि राष्ट्र-
ंचालन के लिये अश्व प्राणी मुख्य है। अश्व की व्याख्या १५९ पृ० पर होचुकी
'। उस की 'मानो मित्रो' आदि ऋचा है।

'अश्वो वोढ़ा' से लेकर 'तस्यैषा भवति' तक कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रक्षिप्त
ान पड़ता है, जिस में ये हेतु हैं—(१) 'अश्वो वोढ़ा' मंत्र का देवता अश्व नहीं
रन्तु 'पवमान सोम' है। हां, नैघण्टुक रूप से अश्व देवता हो सकता है, परन्तु
ैघण्टुक देवता का उदाहरण देना उचित नहीं। इस मंत्र की व्याख्या ३८८ पृ० पर
ेखिये। (२) दुर्गाचार्य ने इस मंत्र की यहां व्याख्या नहीं की। (३) सायण
े उपर्युक्त पाठ का निर्देश भी नहीं किया, जब कि इसी सूक्त के 'कारुरहं' मंत्र
की व्याख्या में यास्क-पाठ दिया है। (४) देवराजयज्वा ने अपनी निघण्टु की
ीका में 'अश्व' का उदाहरण 'यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः' ही दिया है, 'अश्वो
वोढ़ा' नहीं। (५) मंत्र की व्याख्या भी कुछ असंगत है। (६) 'मानो व्या-
ख्यातः' यह भी असंगत है। 'मान' कोई देवता नहीं, और नाहीं यास्क ने इस
की पहले कोई व्याख्या की है। निघण्टु में 'अश्व' के आगे 'शकुनि' देवता दिया
है, 'मान' नहीं। 'मानो मित्रो' आदि मंत्र में 'अश्व' का ही वर्णन है
अन्य किसी का नहीं। इस मंत्र में 'मा, नः' पदच्छेद है, 'मानः' ऐसा एक पद
नहीं। इन्हीं हेतुओं से कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रक्षिप्त ही जान पड़ता है।

अब आप 'मा नो मित्रो' आदि मंत्र की ओर आइये। इस मंत्र में यद्यपि
'अश्व' शब्द पठित नहीं, परन्तु इस सूक्त के अन्य अनेक मंत्रों में 'अश्व' शब्द
विद्यमान है, और उसी 'अश्व' के प्रस्तुत मंत्र में वाजिनः, सप्तेः, ये विशेषण हैं।
मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(यत् विदथे) जब हम योद्धा लोग युद्ध-यज्ञ में (वाजिनः देवजातस्य
सप्तेः) अत्यन्त वेगवान्, विजिगीषु योद्धाओं के साथ रहने वाले और तंग
स्थान में भी सरक जाने वाले अश्व के (वीर्याणि प्रवक्ष्यामः) वीर्यों को कहें
अर्थात् प्रदर्शित करें, (मित्रः वरुणः अर्यमा आयुः ऋभुक्षाः इन्द्रः, मरुतः नः
मा परिख्यन्) तब हे राजन्! प्रजा का मित्र, श्रेष्ठ, न्यायकारी, वायुसमान
जीवनदाता, और सब प्रजा का आश्रयदाता या सत्यवादी प्रजा का राजा सूर्य-
समान प्रतापी तू, और प्रजाजन हमारा प्रत्याख्यान न करें, अर्थात् दिल तोड़ने
वाले वचनों से हमें अनुत्साहित न करें, प्रत्युत हमारा भलीप्रकार उत्साह बढ़ावें।

सप्ति, 'सृ' गतौ+ति—सर्ति—सप्ति। विदथ=यज्ञ, स्वामी जी ने
'विदथ' का अर्थ संग्राम करते हुए इसे एक यज्ञ माना है। आयु=वायु, इण्

गतौ+उण्—आयु—वायु, वकार का आगम। ऋभुक्षन्—(क) ऋभु+'क्षि' निवासे+कनि=ऋभुक्षन्। (ख) ऋभु+'क्षि' ऐश्वर्ये+कनि=ऋभुक्षन्। 'ऋभु' का अर्थ सत्यवादी, और उरु है (देखिये ११ अ० १० श०) ॥ २ ॥

२. शकुनि

शकुनिः शक्नोत्युन्नेतुमात्मानम्, शक्नोति नर्दितुमिति वा, शक्नोति तक्तितुमिति वा, सर्वतः शङ्करोऽस्त्विति वा, शक्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति—

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्त्ति वाचमरितेव नावम्। सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत् ॥ २.४२.१

न्यक्रन्दीज्जन्म प्रब्रुवाणः। यथाऽस्य शब्दस्तथा नामेरयति वाचम्, ईरयितेव नावम्। सुमङ्गलश्च शकुने भव कल्याणमङ्गलः। मङ्गलङ्गिरतेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा, अङ्गलम् अङ्गवत्। मज्जयति पापकमिति नैरुक्ताः, मां गच्छत्विति वा। मा च त्वा काचिदभिभूतिः सर्वतो विदत् ॥ ३ ॥

शकुनि=पक्षी। (क) यह अपने को ऊपर उड़ा ले जा सकता है, शक्लृ उत्+णीञ्—शकुत्नी—शकुनि (ख) यह अव्यक्त शब्द कर सकता है, शक्लृ+'णद' अव्यक्ते शब्दे+इञ् और डिद्भाव—शक्नि—शकुनि। (ग) यह चल सकता है, शक्+तक्+इञ्—शक्ति—शकुति—शकुनि। 'तक' धातु निघण्टु में गत्यर्थक पढ़ी है। (घ) पक्षी सर्वत्र सुखकारी होता है, शम्+कृ+उनिञ् और डिद्भाव—शंकुनि—शकुनि। (ङ) अथवा, यह शक्तिसम्पन्न होता है, शक्लृ+उनि=शकुनि, उणा० ३.४९ में 'शक्ल' धातु से उन, उन्त, उन्ति, और उनि—ये चार प्रत्यय करके शकुन, शकुन्त, शकुन्ति, और शकुनि—इन चार शब्दों की सिद्धि की है, जो कि समानार्थक हैं।

ऋग्वेदीय द्वितीय मण्डल के ४२ तथा ४३ सूक्त शकुनि देवता वाले हैं। इन सूक्तों में बड़े उत्तम शब्दों में उपदेशक [illegible] का वर्णन है। पक्षी की तरह सन्यासी का भी कोई निश्चित स्थान नहीं होता, अतः उसे पक्षी कहा जाता है, जैसे कि ३५४ पृ० पर प्रतिपादित है। यह सन्यासी सर्वत्र सुखकारी और शक्ति-

सम्पन्न होता है। देवतानुक्रमणिकाकार शौनक ने इन सूक्तों का देवता 'कपिञ्जल रूपी इन्द्र' माना है, परन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि इन सूक्तों में 'कपिञ्जल' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं। हां, इस से देवता का अभिप्राय स्पष्ट होजाता है कि इन दोनों सूक्तों में कपिञ्जल पक्षी की तरह सुन्दर वचनों को बोलने वाले आत्मदर्शी सन्यासी का वर्णन है। अब मंत्रार्थ देखिये—

(जनुषं प्रब्रुवाणः कनिक्रदत्) यह पक्षीसमान सन्यासी मनुष्य-जन्म के लाभ और कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करता हुआ बारबार गर्जना करता है। (अरिता नावं इव वाचं इयर्ति) जैसे नाविक अपने पूरे सामर्थ्य से नौका को पार पहुंचाने के लिये खेहता है, वैसे यह सन्यासी अपने पूर्ण घोष के साथ उपदेश-वाणी का उच्चारण करता है। और, जैसे नौका में बैठे हुए मनुष्य नदी या समुद्र के पार होजाते हैं, वैसे इस उपदेश-वाणी की नौका में बैठे हुए श्रोता लोग तृष्णा-नदी या दुःख-सागर से तर जाते हैं। (शकुने! सुमङ्गलः च भव) हे पक्षीतुल्य सन्यासी! इस उपदेश के द्वारा तू हमारे लिये साधु मङ्गलकारी हो, (त्वा काचित् विश्व्या अभिभा मा विदत्) और तुझे कोई भी किसी दिशा से तिरस्कार मत प्राप्त हो। अर्थात्, सर्वत्र सब लोग उपदेश से लाभ उठाते हुए तेरा सम्मान करें।

जनुष=जन्म। अरिता=ईरयिता। विश्वस्यां दिशि भवा विश्व्या। अभिभा=अभिभूति। मङ्गल-(क)स्तुत्य, 'गॄ'स्तुतौ+अच् और 'मम्' का आगम मङ्गर-मङ्गल। (ख) अनर्थों को निगलने वाला, 'गॄ' निगरणे+अच्। (ग) अङ्ग की तरह प्रिय, अङ्गल-मङ्गल, 'अङ्ग' से मतुप् अर्थ में 'र' प्रत्यय। (घ) पापशोधक, 'टुमस्जो' शुद्धौ से 'अलच्' प्रत्यय, मस्जल—मङ्गल। (ङ) मुझे प्राप्त हो, ऐसा सभी चाहते हैं। मां+गम्+डलच्, मांगल—मंगल। ये अन्तिम दो निर्वचन अन्य नैरुक्त करते हैं, पहले तीन यास्क ने किये हैं॥ ३॥

गृत्समदमर्थमभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे, तदभिवादिन्येषर्ग् भवति—

"भद्रं वद दक्षिणतो भद्रमुत्तरतो वद।
भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जल॥"

इति सा निगदव्याख्याता। गृत्समदो गृत्समदनः। गृत्स इति मेधाविनाम, गृणातेः स्तुतिकर्मणः॥ ४॥

किसी कार्यान्तर के लिए उद्यत हुए हंसमुख मेधावी गृहस्थ को तीतर के तुल्य मधुरभाषी सन्यासी ने उपदेश दिया, इस बात को जतलाने वाली 'भद्रं वद दक्षिणतः' आदि ऋचा है, जिस में कहा है कि हे तीतर पक्षी की तरह मधुरभाषी सन्यासी ! हम दक्षिण, उत्तर, पूर्व और पश्चिम, जहां कहीं कार्यवश जावें, सर्वत्र आप हमें कल्याणकारी उपदेश दीजिए।

एवं, इस ऋचा में बतलाया गया है कि सन्यासीलोग गृहस्थियों को प्रत्येक सांसारिक कार्यों के संबन्ध में सदा उपदेश देते रहें। इसी बात की पुष्टि करने वाला 'सर्वतो नः शकुने भद्रमावद विश्वतो नः शकुने पुण्यमावद' (२.४३.२) आदि मंत्र है।

ऋ० २.४२, ४३ सूक्तों के अनन्तर कई शाखाओं में व्याख्यारूप में पांच ऋचाओं का एक और सूक्त पढ़ा हुआ है, जिसका 'भद्रं वद दक्षिणतः' आदि पहला मंत्र है। क्योंकि इन सूक्तों का ऋषि, अर्थात् इन मंत्रों के द्वारा प्रार्थना करने वाला स्तोता 'गृत्समद' है, अतः 'गृत्समदमर्थम्' आदि यास्क ने कहा। सन्यासी से बारबार उपदेश लेने का सच्चा अधिकारी वही होसकता है जो कि हंसमुख रहता हो और मेधावी हो, जड़बुद्धि को उपदेश देना अतिदुष्कर है।

'भद्रं वद दक्षिणतः' आदि मंत्र बड़ा स्पष्ट है, अतः यास्क ने उसकी व्याख्या नहीं की। 'कपिञ्जल' का निर्वचन २२० पृ० पर देखिए। गृत्समद = गृत्समदन, गृत्स = मेधावी, 'गृ' स्तुतौ + सक्। मद = हर्षालु ॥ ४ ॥

३. मण्डूक
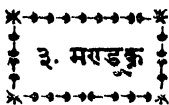
मण्डूका मज्जूका मज्जनात्, मदतेर्वा मोदतिकर्मणः, मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः। मण्डयतेरिति वैयाकरणाः, मण्ड एषामोक इति वा। मण्डो मदेर्वा, मुदेर्वा। तेषामेषा भवति—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं
पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ ७. १०३. १

संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणोऽब्रुवाणाः। अपि-
वोपमार्थे स्याद् ब्राह्मणा इव व्रतचारिण इति। वाचं पर्जन्यप्रीतां

प्रावादिषुर्मण्डूकाः ॥ ५ ॥

मण्डूक—(क) मण्डूक जल में निमग्न रहता है । मज्जूक—मण्डूक, मस्जु+ऊकञ् (उणा० ४. ४२) । (ख) यह प्रसन्न रहने वाला है । मदूक—मण्डूक, 'मदी' हर्षे+ऊकञ् । (ग) मण्डूक तृप्त रहता है । मन्दूक—मण्डूक, 'मंदी' तृप्तौ +ऊकञ् । (घ) 'मण्डि' भूषायां हर्षे च+ऊकञ्, मण्डयति वर्षाकालमिति मण्डूकः । यह निर्वचन वैयाकरण करते हैं । (ङ) अथवा, वर्षा–विभूषण में इनका निवास है । मण्डे विभूषणे यस्यौक इति मण्डूकः, मण्ड+ओकस्–मण्डौक–मण्डूक । दुर्गाचार्य ने 'मण्ड' का अर्थ जल किया है, जो कि किसी भी संस्कृतकोष में नहीं पाया जाता ।

'संवत्सरं शशयानाः' आदि संपूर्ण सूक्त में वर्षाकालीन मेंढकों का वर्णन करते हुए बड़े उत्तम शब्दों में वर्षा ऋतु का चित्र खींचा गया है । और इस प्राकृतिक–सौन्दर्य–चित्रण के साथ २ उपमाओं के द्वारा अनेक प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षायें भी दी गई हैं । अब आप 'संवत्सरं शशयानाः' आदि मंत्र का अर्थ देखिए—

(क) (संवत्सरं शशयानाः) वर्ष भर निरन्तर सोते हुए, अर्थात कहीं छुप कर पड़े हुए, (ब्राह्मणाः व्रतचारिणः) और बोलने वाले होकर भी मौनव्रतधारी (मण्डूकाः) मेंढक (पर्जन्यजिन्वितां वाचं प्रावादिषुः) मेघ से सन्तृप्त की हुई वाणी का बड़े उच्च स्वर से उच्चारण करते हैं ।

(ख) अथवा, (मण्डूकाः व्रतचारिणः ब्राह्मणाः) जैसे प्रसन्नवदन व्रतचारी ब्रह्मचारी (संवत्सरं शशयाना.) वर्ष भर निरन्तर आराम करते हुए (पर्जन्यजिन्वितां वाचं प्रावादिषुः) मेघ से तृप्त की हुई वेदवाणी का बड़े उच्च स्वर से उच्चारण करते हैं, उसीप्रकार ये बोलने वाले होकर भी मौनव्रतधारी मेंढक, साल भर निरन्तर सोने के बाद मेघ से संतृप्त की हुई वाणी का अत्युच्च स्वर से उच्चारण करते हैं ।

एवं, लुप्तोपमा मानकर (देखिए २०९ पृ०) मंत्र के दो अर्थ किए हैं । मेंढक वर्ष भर चुपचाप पड़े रहते हैं, और वर्षाकाल के आने पर अनेक प्रकार के गानों से गान करते हैं । उसीप्रकार ब्रह्मचारी लोग भी वर्ष भर तो वेद वेदाङ्ग का अध्ययन करते हैं, और वर्षा ऋतु के आने पर वेदों का सुस्वर गान करते हैं ।

मनुस्मृति (४.९५–१०१) में बतलाया है कि ब्रह्मचारी श्रावण या भाद्रपद की पूर्णिमा को वेद का अध्ययन प्रारम्भ करके साढ़े चार मास के बाद पौष

या माघ की पहली शुक्ला को समाप्त करें। और फिर, प्रत्येक शुक्लपक्ष में वेद पढ़ा करें, और कृष्णपक्ष में वेदाङ्ग। एवं, इन दो सत्रों के विभाग को दर्शाकर १०१ श्लोक में दर्शाया है कि गुरु तथा शिष्य को किस २ दिन अनध्याय रखना चाहिये।

एवं, वेदाध्ययन के प्रथम सत्र का प्रतिपादन उपर्युक्त वेदमंत्र कर रहा है। स्मृत्यादि ग्रन्थों के उक्त विधान का मूल यही वेदमंत्र है।

उपर्युक्त वेदमंत्र के प्रथम अर्थ की छायारूप में ही, किष्किन्धाकाण्ड में वर्षा का वर्णन करते हुए, आदि कवि वाल्मीकि लिखते हैं—

स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा विहाय निद्रां चिरसन्निरुद्धाम्।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा नवाम्बुधाराभिहता वदन्ति॥ २८. ३८

और, द्वितीय अर्थ की छाया में उसी काण्ड में गोसाईं तुलसीदास ने कहा है—दादुरधुनि चहुँ दिशा सुहाई, वेद पढ़हिं जनु बटुसमुदाई।

शशयानाः = शिश्याना: = निरन्तर सोते हुए। ब्राह्मणाः = अब्रुवाणाः। ब्राह्मण = ब्रह्मचारी, बोलने वाला। 'बृहि' शब्दे + मनिन्, और 'ऋ' को 'अ' (उणा० ४. १४६) बृअह् मन्—ब्रह्मन्, स्वार्थ में 'अण्' ॥ ५ ॥

वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव, तं मण्डूका अन्वमोदन्त। स मण्डूकाननुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव। तदभिवादिन्येषर्ग् भवति—

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमावद तादुरि। मध्ये
ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥ ४. १५.१४

इति सा निगदव्याख्याता॥ ६ ॥

वृष्टि की कामना वाले वसिष्ठ (श्रेष्ठ मनुष्य) ने मेघ का वर्णन किया। उसका मण्डूकों ने अनुमोदन किया। तब उस वसिष्ठ ने अनुमोदन करते हुए मण्डूकों को देख कर, उनका इसप्रकार वर्णन किया, जिसे कि 'उपप्रवद मण्डूकि' आदि ऋचा कह रही है।

अथर्ववेद का ४. १५ सूक्त वर्षा ऋतु का वर्णन कर रहा है। यह सूक्त भी उपर्युक्त ऋग्वेदीय सूक्त की तरह बड़ा ही उत्तम है। इस सूक्त का स्तोता ऋषि

वसिष्ठ है। वह इस सूक्त में वर्षा ऋतु का वर्णन कर रहा है। अनेक स्वरों में उच्चस्वर से बोलते हुए मण्डूकों ने मानो कि उस वसिष्ठ का अनुमोदन किया। तब वह, वर्षाकाल की शोभा को बढ़ाने वाले उन मण्डूकों का इसप्रकार वर्णन करता है—

हे तैरने वाली मण्डूक जाति! जैसे ज्ञान-ह्रद में तैरने वाली प्रफुल्लवदना प्रज्ञा सर्वाङ्ग रूप में (वर्षम् = वर्ष को) उत्तम काल को बतलाने वाली होती है, उसी प्रकार तू वर्षा का बोधन कराती है। और, जिसप्रकार वह प्रज्ञा, धर्म अर्थ काम और मोक्ष, इन चारों पदों को प्राप्त करके वेद-ह्रद में तैरती है, उसीप्रकार तू अपने चारों पदों के साथ तालाब में तैरती है।

'वेद-ह्रद' के प्रमाण के लिए ४६ पृ० पर 'ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे' इस मंत्रवचन को देखिये।

अथर्ववेद में भी 'संवत्सरं शशयानाः' आदि मंत्र आया है, और वह उपर्युक्त मंत्र से पढ़ना ही है। एवं, ऋग्वेद का यह संपूर्ण सूक्त भी वर्षाऋतु के प्रसङ्ग से ही मण्डूकों का वर्णन कर रहा है॥६॥

४. अक्षाः अक्षा अश्नुवत एनानिति वा, अभ्यश्नुवते एभिरिति वा। तेषामेषा भवति—

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥१०.३४.१

प्रवेपिणो मा महतो विभीदकस्य फलानि मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्तमानाः। इरिणं निर्ऋणम्, ऋणातेरपार्णं भवति, अपरता अस्मादोषधय इति वा। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः। मौजवतो मूजवति जातः। मूजवान् पर्वतः, मुञ्जवान्। मुञ्जो विमुच्यत इषीकया। इषीका ईषतेर्गतिकर्मणः। इयमपीतरेषीकैतस्मादेव। विभीदको विभेदनात्। जागृविर्जागरणात्। मह्यमचच्छदत्।

प्रशंसत्येनान्प्रथमया, निन्दत्युत्तराभिः। ऋषेरक्षपरिद्यून-

स्यैतदार्षं वेदयन्ते ॥ ७ ॥

'अक्ष' शब्द बहुवचनान्त और एकवचनान्त, दोनों रूपों में जूए के लिये प्रयुक्त होता है। जुआरी लोग इसे प्राप्त करते हैं, या इस से दुर्गति को पाते हैं, अतः इसे 'अक्ष' कहा गया है। 'अशूङ्' व्याप्तौ से कर्ता या करण में 'स' प्रत्यय (उणा० ३. ६५)। उस 'अक्ष' के मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—

(प्रावेपाः) अन्त में कम्पायमान करने वाले (प्रवातेजाः) चतुष्पथ में कुत्सित कर्म कराने वाले, (इरिणे वर्वृतानाः) और शून्य रूप में सदा वर्तमान रहने वाले, या ऊषर भूमि में डाले गये बीज की तरह लाभरहित (बृहतः) महाशक्तिशाली जुए के फल (मौजवतस्य सोमस्य भक्षः इव) मुञ्ज वाले पर्वत में पैदा होने वाले सोम के भक्षण की तरह (मा मादयन्ति) मुझे बड़ा आनन्दित करते हैं। (जागृविः विभीदकः मह्यं अच्छान्) और फिर यह जुआ रात दिन जागरण कराता हुआ मुझे पूर्णतया अपने वश में कर लेता है।

इस सूक्त (१०. ३४) में जूए का बड़ा रोमाञ्चकारी चित्र खेंचा गया है। (अक्षपरिद्यूनस्य ऋषेः एतत् आर्षं वेदयन्ते) यह सूक्त जूए से संतप्त हृदय वाले जुआरी स्तोता का है—ऐसा वेदज्ञ जतलाते हैं। अर्थात्, इस सूक्त में जुआरी के मुख से ही उसकी दुर्दशा का वर्णन कराते हुए अन्त में द्यूत-त्याग और कृषि-कर्म की शिक्षा दी गई है (देखिए ४७० पृ०)। द्यूत की इस प्रथम ऋचा से तो जुआरी प्रशंसा करता है, और फिर अन्य सब ऋचाओं से उसकी निन्दा करता है। वह कहता है कि जूआ खेलने पर जब मुझे संपत्ति का लाभ होता है, तब मेरे आनन्द का पारावार नहीं रहता। वह जूआ मुझे उसीप्रकार आनन्दित करता है, जैसे कि मुंजवाले पहाड़ में पैदा हुआ सोम, भक्षण करने पर, अत्यन्त प्रसन्नताप्रद हुआ करता है। पर यह क्षणिक लाभ अन्त में जुआरी को कंपाने वाला ही होता है। यह लाभ अन्त में नष्ट होजाता है, और जिसप्रकार ऊषर भूमि में डाला हुआ बीज फलदायक नहीं होता, उसी प्रकार यह लाभ जुआरी को कोई आराम नहीं देता। और, जूए का यह स्वभाव है कि जहां एक बार कुछ लाभ हुआ कि फिर वह मनुष्य उस के फन्दे में फंस जाता है, और फिर उस द्यूत-व्यसन का छूटना दुष्कर हो जाता है।

प्रावेप = प्रवेपिन्। 'बृहतः' के भाव को यास्काचार्य ने 'विभीदकस्य फलानि' का अध्याहार करके स्पष्ट किया है। प्रवातेज = प्रवणेज, कोषों में 'प्रवण' शब्द 'चतुष्पथ' के लिये प्रयुक्त है, प्रवण + 'ईज्' गतिकुत्सनयोः + घ। वर्वृतानाः = वर्तमानाः। 'इरिण' शब्द कोषों में शून्य और ऊषर भूमि के लिये प्रयुक्त है।

उन दोनों अर्थों में यास्क इसका निर्वचन 'निर्ऋण' करते हैं। निर्ऋण = अपार्ण (अप+'अर्द' गतौ+क्त) = अपगत, निर्+ऋ+क्त = इरिण, उपसर्ग के नकार का लोप, जैसे कि महाभाष्य (६. १.९) में 'इष्कर्तारम्' का अर्थ 'निष्कर्तारम्' दिया है। ऊषर भूमि से ओषधियें हट जाती हैं।

मूजवान् = मुञ्जवान् पर्वत। मौजवत सोम बड़ा उत्तम होता है, ऐसा इस मंत्र से विदित होता है। मुञ्ज, यह सींक (इषीका) से छुड़ायी जाती है, मुञ्च—मुञ्ज। इषीका, यह मुञ्ज से निकाली जाती है, 'ईष' गतौ+ईकन् (उणा० ४. २)। 'इषीका' का दूसरा अर्थ 'बाण' भी है, यह चलाया जाता है। विभीदक = जूआ, क्योंकि इसके कारण जुआरी अपने बन्धुओं से विभिन्न होजाता है, जैसे कि इसी द्यूत-सूक्त के 'पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्' आदि वचनों में दर्शाया है। अच्छान् = अचच्छदत् ॥ ७ ॥
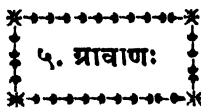
५. ग्रावाणः

ग्रावाणो हन्तेर्वा, गृणातेर्वा, गृह्णातेर्वा। तेषामेषा भवति—

प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः। यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥ १०.९४.१

प्रवदन्त्वेते, प्रवदाम वयम्। ग्रावभ्यो वाचं वदत वदद्भ्यः यदद्रयः पर्वता आदरणीयाः सहसोममाशवः क्षिप्रकारिणः। श्लोकः शृणोतेः, घोषो घुष्यतेः। सोमिनो यूयं स्थेति वा, सोमिनो गृहेष्विति वा ॥ ८ ॥

ग्रावन् = शिला। (क) यह लगने पर चोट पहुंचाती है, हन्+क्वनिप्, पृषोदरादीनि (पा० ६. ३.१०९) से 'हन्' को 'ग्र' आदेश। (ख) शिलाओं से पीसने आदि पर शब्द निकलता है, 'गॄ' शब्दे+क्वनिप्। (ग) इनका ग्रहण किया जाता है, ग्रह्+क्वनिप्। शिलाओं के प्रसङ्ग से ही दृढ़, मधुरभाषी, और ग्राह्य सज्जन को 'ग्रावन्' कहा जाता है। 'ग्रावन्' का अर्थ कठोर प्रसिद्ध है, और विवाहकाल में वधू को शिलारोहण कराते समय 'अश्मेव त्वं स्थिरा भव' का उच्चारण किया जाता है।

ग्राव-सूक्त में यज्ञ-शिला के मिष से स्थिर मनुष्यों का वर्णन है। इस सूक्त के एक मंत्र का अर्थ ४८२ पृ० पर दिया गया है, तथा 'ते सोमादो' और

'दशावनिभ्य.' आदि अन्य दो मंत्र ११४ और १८४ पृ० पर व्याख्यात हैं। अब, यहां 'प्रैते वदन्तु' का अर्थ दिया जाता है, जो कि इसप्रकार है—

(अद्रयः पर्वताः) हे आदरणीय, तेजस्वी, (साकं आशवः) और इकट्ठे मिल कर भाग करने वाले अथवा इकट्ठे मिल कर शीघ्र कार्य करने वाले प्रजाजनो ! (इन्द्राय श्लोकं घोषं भरथ) यदि तुम राजा के लिये प्रशस्त वचनों वाले शब्द को धारण करोगे, अर्थात् प्रशस्तवाणी का उच्चारण करोगे, (सोमिनः) तब, तुम ऐश्वर्यसम्पन्न होगे, अथवा समृद्ध राजा के राष्ट्र में रहोगे। (एते प्रवदन्तु) इसलिये, वे आप उत्कृष्ट वचन बोलिए, (वयं प्रवदामः) हम राजपुरुष भी भद्रवचन बोलते हैं। (वाचं वदद्भ्यः ग्रावभ्यः वदत) हे राजपुरुषो ! तुम लोग, प्रियवचन बोलते हुए शिलासमान स्थिर प्रजाजनों के लिए प्रिय वचन ही बोलो। एवं, परस्पर के मधुरभाषण से राष्ट्र बड़ा समृद्ध होता है।

अद्रि = आदरणीय, आ + 'दृङ' आदरे + इ—आद्रि—अद्रि । पर्वत = भास्वान् (११७ पृ०)। आशु = भोक्ता, आशुकारी। श्लोक = प्रशस्तवचन 'श्रु' + वन्—श्रोक—श्लोक, श्रूयते प्रशस्यते इति श्लोकः। घोष = शब्द, 'घुषिर् अविशब्दने + घञ्। 'सोमिनः' को प्रथमा-बहुवचनान्त और षष्ठ्यन्त मानकर दो अर्थ किये गये हैं, और षष्ठीपक्ष में 'गृहेषु' का अध्याहार है॥ ८॥

९. नाराशंस

येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मंत्रः। तस्यैषा भवति—

अमन्दान् स्तोमान्प्रभरे मनीषा सिन्धावधिक्षियतो भाव्यस्य।
यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रवइच्छमानः॥१.१२६.१

अमन्दान् स्तोमान् अबालिशान् अनल्पान् वा। बालो बलवर्ती, भर्तव्यो भवति, अम्बास्मा अलं भवतीति वा, अम्बास्मै बलं भवतीति वा, बलो वा प्रतिषेधव्यवहितः। प्रभरे मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा। सिन्धावधिनिवसतो भावयव्यस्य राज्ञः, यो मे सहस्रं निरमिमीत सवान्, अतूर्तो राजा ऽतूर्ण इति वाऽत्वरमाण इति वा, प्रशंसामिच्छमानः॥ ९॥

नराः प्रशस्यन्ते अत्र स नराशंसः, नराशंस एव नाराशंसः। अर्थात्, मनुष्य-प्रशंसापरक मंत्र 'नाराशंस' कहलाते हैं। एवं, ऋग्वेद १.१२६ सूक्त का देवता नाराशंस (मनुष्य-प्रशंसा) है। अब मंत्रार्थ देखिये—

उपर्युक्त मंत्र का ऋषि 'कक्षीवान्' है, जिसका अर्थ मेखलावान् ब्रह्मचारी है। इस की पुष्टि के लिये दैवत-काण्ड के अन्त में दिये हुये यमयमी सूक्त के १३ वें मंत्र में प्रयुक्त 'कक्ष्या' के अर्थ को देखिये। एवं, इस मंत्र में ब्रह्मचारी कहता है—(सिन्धौ अधिक्षियतः) नदीतट पर निवास करने वाले (भाव्यस्य) आत्मतत्व के इच्छुक राजा की कृपा से (अमन्दान् स्तोमान्) मैं उत्कृष्ट या अनेक विद्याओं से युक्त वेदों को (मनीषा प्रभरे) श्रद्धापूर्वक या बुद्धिपूर्वक भलीप्रकार धारण करूं, (यः अतूर्तः राजा) कि जिस गम्भीर और जल्दबाजी न करने वाले राजा ने (श्रवः इच्छमानः) प्रशंसा की इच्छा रखते हुए (मे) मेरे जैसे ब्रह्मचारियों के लिये (सहस्रं सवान् अमिमीत) हजारों शिक्षणालयों का निर्माण किया है।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि राजधानी सदा नदीतट पर बनानी चाहिए, और राजा का धर्म है कि वह अपने राज्य में स्थान २ पर उत्तम कोटि के शिक्षणालय खुलवाये, जहां कि ब्रह्मचारी लोग वेदों का स्वाध्याय करें। और, इस शिक्षा-दान से लाभ उठाने के लिए प्रत्येक ब्रह्मचारी को गुरुकुल अवश्य जाना चाहिए। और, वहां श्रद्धा तथा बुद्धिपूर्वक वेदों का अध्ययन करना चाहिए।

अमन्द=अबालिश, अनल्प। बाल—(क) बालक किसी बलवान् की रक्षा में वर्तमान रहता है। बलेन बलवता सह वर्तते इति बालः, पा० ४. ४. २७ से, 'वर्तते' अर्थ में 'ठक्' विहित है, यहां 'अण' किया गया है। (ख) यह भर्तव्य होता है, भार्य—बाल। (ग) इस की रक्षा के लिये माता पर्याप्त होती है, अम्बा+अलम्—बाल। (घ) माता इस के लिये वश होती है, अम्बा+बल—बाल। (ङ) अथवा, यह निर्बल होता है। अबल—बअल=बाल, यहां निषेधार्थक 'अ' बल के मध्य में आगया है। मनीषा—मनस्+ईषा, मनोयोग पूर्वक स्तुति, (आदर, श्रद्धा) अथवा मनोयोगपूर्वक प्रज्ञान। ईषा=स्तुति, प्रज्ञा।

भाव्य=भावयव्य। भाव आत्मा, तमिच्छति भावयुः, भावयुरेव भावयव्यः, भावयु+यत्=भावयव्य, वान्तो यि प्रत्यये (पा० ६.१.७९) से 'उ' को 'अव्' आदेश। उसी भावयव्य का संक्षिप्त रूप 'भाव्य' है। 'सवन' शब्द यज्ञवाची निघण्टु-पठित है, और 'ब्रह्मयज्ञ' से वेदाध्ययन को भी एक यज्ञ बतलाया है। अतः, 'सव' का अर्थ शिक्षणालय है। अतूर्त=अतूर्ण, (अचपल, गम्भीर) अत्वरमाण (जल्दबाजी न करने वाला) ॥ ९ ॥

* द्वितीय पाद *

७-१८ युद्धोपकरण

यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभेत। राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि॥१।१०॥

शिक्षा-यज्ञ के संबन्ध से राजा स्तुति को प्राप्त करता है, और राजा के संबन्ध से युद्धोपकरण स्तुतिलाभ करते हैं। अर्थात्, जैसे राजा की स्थिति इसी में है कि वह राष्ट्र में स्थान २ पर गुरुकुल खोल कर शिक्षा का प्रचार करे, वैसे ही युद्धोपकरणों की स्थिति राजा के साथ है। इतने उपक्रम के पश्चात्, यास्काचार्य युद्धोपकरण-देवताओं की व्याख्या करते हैं॥ १। १०॥

७. रथ।

तेषां रथः प्रथमागामी भवति। रथो रंहतेः गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा, रसतेर्वा। तस्यैषा भवति—

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि॥ ६. ४७. २६

वनस्पते! दृढाङ्गो हि भवास्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः कल्याणवीरः। गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्वेति संस्तम्भस्व। आस्थाता ते जयतु जेतव्यानि॥ २। ११॥

उन युद्धोपकरणों में रथ पहले आने वाला है। रथ—(क) गत्यर्थक 'रंह' धातु से 'क्थन्' प्रत्यय (उणा० २.२)। रंहति गच्छति येन स रथः। (ख) स्था+कि च्=स्थिर, 'स्थिर' के विपरीत 'रस्थि' को नामधातु मान कर उस से 'ड' प्रत्यय, रस्थि+ड—रस्थ—रथ। रथ में मनुष्य स्थिरता पूर्वक बैठ सकता है, तिष्ठति अत्र सः रथः। (ग) आराम से उस में बैठता है, रम्+स्था+ड—रथ। (घ) अथवा, शब्दार्थक 'रप' या 'रस' धातु से 'क्थन्' प्रत्यय, चलता हुआ रथ शब्द करता है। अब मंत्रार्थ देखिए—

(वनस्पते ! वीड्वङ्गः, अस्मत्सखा) काष्ठनिर्मित रथ ! तू दृढ़ अवयवों वाला, हमारे अनुकूल, (प्रतरणः) टीलों, गड्ढों या रेतीले प्रदेशादिकों को कूदने फांदने वाला, (सुवीरः हि भूयाः) और सुवीर योद्धा से युक्त हो। (गोभिः सन्नद्धः असि) तू चर्म और सरेश से मजबूत बंधा हुआ है, (वीडयस्व) इसलिए युद्ध में वीरता दिखा, (ते आस्थाता जेत्वानि जयतु) जिस से तेरा अधिष्ठाता योद्धा जेतव्य शत्रुसैन्यों को जीते।

वीडु=दृढ़। जेत्व=जेतव्य। 'गोभिः' के लिए ११५ पृ० देखिए ॥ २।११॥
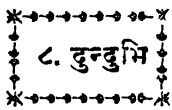
८. दुन्दुभि

दुन्दुभिरिति शब्दानुकरणम्, द्रुमो भिन्न इति वा, दुन्दुभ्यतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः। तस्यैषा भवति—

उपश्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अपसेध शत्रून्॥ ६.४७.२९

उपश्वासय पृथिवीं च दिवं च। बहुधा ते घोषं मन्यतां विष्ठितं स्थावरं जङ्गमं च यत्। स दुन्दुभे! सहजोषण इन्द्रेण च देवैश्च दूराद् दूरतरमपसेध शत्रून्॥ ३।१२॥

दुन्दुभि—भेरि वाद्य। (क) दुन्दुम् दुन्दुम् इति शब्देन भातीति दुन्दुभि, इसके बजाने पर दुन्दुम् दुन्दुम्—ऐसा शब्द निकलता है, दुन्दुम्+भा+कि। (ख) यह फटा वृक्ष सा होता है। वृक्ष के मोटे तने के एक ओर चर्म चढ़ा कर यह बनाया जाता है। द्रुम भिद्—दुम् दुभि—दुन्दुभि। (ग) अथवा, शब्दार्थक 'दुन्दुभ्य' धातु से यह निष्पन्न होता है, भेरि-नाद बड़ा प्रसिद्ध है। पर, देवराजयज्वा ने 'दुन्दुभ्य' धातु वधार्थक मानी है, और सायण ने भी 'उपश्वासय पृथिवी' मंत्र की व्याख्या में यास्क-पाठ देते हुये 'दुन्दुभ्यतेर्वा स्याद् वधकर्मणः' ऐसा ही पाठ दिया है। दुन्दुभि का ताड़न किया जाता है। अब मंत्रार्थ देखिए—

(पृथिवीं उत द्यां उपश्वासय) हे भेरि! तू अपने नाद से युद्ध में भूमि और अन्तरिक्ष को गुंजा, (पुरुत्रा विष्ठितं जगत् ते मनुतां) जिस से कि सब दिशाओं में स्थावर और जंगम, सब तेरे नाद का सिक्का मानें। अर्थात्, भेरि-

बाद इतना उग्र हो कि पृथिवीस्थ वृक्ष वनस्पति पशु मनुष्य तथा पर्वत आदि, और अन्तरिक्षस्थ मेघ, सब काप जावें। (सः इन्द्रेण देवै. सजूः) हे दुन्दुभि! वह तू सेनापति और सैनिकों के साथ मिलकर (दूरात् दवीयः) दूर से दूर (शत्रून् अपसेध) शत्रुओं को खदेड़।

पुरुत्रा = बहुधा = अनेक दिशाओं में। जगत् = जङ्गम। विष्ठित = स्थावर। देव = विजिगीषु, 'दिवु' क्रीड़ा विजिगीषा०॥ ३। १२॥
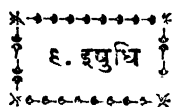
६. इषुधि　　इषुधिरिषूणां निधानम्। तस्यैषा भवति-

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चाकृणोति समनावगत्य। इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः॥ ६.४७.२६

बहूनां पिता बहुरस्य पुत्रः, इतीषूनभिप्रेत्य। प्रस्मयत इवापाव्रियमाणः, शब्दानुकरणं वा। सङ्काः सचतेः, सम्पूर्वाद्वा किरतेः। पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः, इति व्याख्यातम्॥ ४। १३॥

इषुधि = तूणीर, इस में बाण रखे जाते हैं। इषवो धीयन्ते अत्र, इषु + धा + कि (पा० ३. ३. ९३)। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(बह्वीनां पिता) यह तूणीर बहुत से बाणों का पिता है, (अस्य बहुः पुत्रः) और बाण इसके बहुत से पुत्र हैं। (समना अवगत्य चिश्चाकृणोति) यह युद्ध को जान कर खोलने पर मानो दन्त-प्रदीप्ति से हंसता है, या चीचीं शब्द करता है। (पृष्ठे निनद्धः) और, पीठ पर बंधा हुआ (प्रसूतः) बाणों को छोड़ता हुआ (सङ्काः, सर्वाः पृतनाः च जयति) युद्धों, और सब शत्रु-सेनाओं को जीतता है।

'इषु' शब्द स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिंग, दोनों में प्रयुक्त होता है, अतः 'बह्वीनां' और 'बहुः' दोनों का प्रयोग है। चिश्चा—(क) 'चिश्चा' धातु हसनार्थक मानी गई है। (ख) अथवा, चीचीं शब्द का अनुकरण 'चिश्च' है। सङ्क = युद्ध। (क) 'षच' समवाये + घञ् —सम्-सच् अ—सङ्क, यहां दल इकट्ठे होते हैं। (ख) संकीर्यन्ते योद्धारो पदार्थाश्चात्र, यहां योद्धा और पदार्थ बिखरे रहते हैं, सम् + 'कॄ' विक्षेपे + ड—सङ्क। 'पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः' यह स्पष्ट होने से स्वयं

व्याख्यात है। 'पृष्ठ' का निर्वचन २४४ पृ० पर देखिए। प्रसूतः—प्रसुवद्, यहां कर्ता में 'क्त' प्रत्यय है ॥ ४ । १३ ॥

१०. हस्तघ्न

हस्तघ्नो हस्ते हन्यते। तस्यैषा भवति—

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः। हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान्पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वत ॥ ६.७५.१४

अहिरिव भोगैः परिवेष्टयति बाहुं, ज्याया वधात्परित्रायमाणो हस्तघ्नः सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रजानन्। पुमान् पुरुमना भवति, पुंसतेर्वा ॥ ५ । १४ ॥

१ हस्तघ्न = दस्ताना। हस्ते हन्यते प्राप्यते धार्यते इति हस्तघ्नः। 'हस्तघ्न' के प्रसङ्ग मे 'गोघ्न' शब्द पर भी यहां विचार कर लेना अनुचित न होगा। पाणिनि ने 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' (३. ४. ७३) मे संप्रदान अर्थ में 'गोघ्न' की सिद्धि की है, और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में यह अतिथि के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसे देख कर प्राच्य और पाश्चात्य विद्वान् यह परिणाम निकालते हैं कि प्राचीन काल में अतिथि को गोमांस खाने के लिये दिया जाता था। परन्तु, वे विद्वान् 'हस्तघ्न' शब्द को भूल गये। जैसे 'हस्तघ्न' में 'हन्' धातु गत्यर्थक है, उसीप्रकार यहां भी समझनी चाहिये। तब 'गोघ्न' का अर्थ यह हुआ—गां घ्नन्ति प्राप्नुवन्ति धारयन्ति अस्मै इति गोघ्नः। जिस के लिये गृहस्थ लोग गाय को प्राप्त करते हैं, और उसकी रक्षा करते हैं, उस गोरक्षक को अतिथि कहा गया है, गोभक्षक को नहीं। विवाह--संस्कार में गोदान किया जाता है। उसकी ओर निर्देश करके कहा गया है कि प्रत्येक गृहस्थ के लिये गोसंरक्षण आतिथ्य-सत्कार के लिये अत्यावश्यक है। देखिए, कहां तो गोपालन का यह उच्च आदर्श, और कहां हमारे भ्रान्त विचारकों के विचार। अस्तु, अब मंत्रार्थ देखिये—

(ज्यायाः हेतिं परिबाधमानः हस्तघ्नः) ज्या के प्रहार को रोकने वाला दस्ताना, (अहिः इव भोगैः पर्येति) जिसप्रकार फणिधर सांप अपने फण से वृक्षादि को लपेट लेता है, एवं, अपने लपेटों से बाहु को लपेटता है। (विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान्) और, जिसप्रकार सब कर्त्तव्याकर्त्तव्यों को जानता हुआ एक मनुष्य (पुमांसं परिपातु) दूसरे मनुष्य की रक्षा करता है, एवं यह दस्ताना युद्ध में हमारी रक्षा करे।

पर्येति=परिवेष्टयति। हेति=बध। पुमान्=मनुष्य (क) यह उदार मन वाला होता है, पुरुमनस्—पुमस्। वैयाकरणों ने 'पुंस्' शब्द मानकर 'पुंसोऽसुङ्' (पा० ७. १.८९) से सु, औ, जस्, अम्, औट्, इन स्थलों में 'असुङ्' करके 'पुमस्' शब्द बनाया है। परन्तु, यास्काचार्य 'पुमस्' शब्द मानकर उपर्युक्त स्थलों के बिना अन्यत्र सर्वत्र 'म' के अकार का लोप करते हैं। (ख) अथवा, 'पुंस' अभिवर्द्धने धातु से बना है। मनुष्य उन्नतिशील है। (ग) उणादिकोष में 'पा' रक्षणे से 'डुमसुन्' करके (४. १७८) 'पुंस्' की सिद्धि की है, मनुष्य सर्वरक्षक है॥ ५।१४॥

११. अभीशवः

अभीशवो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति—

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः। अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥ ६.७५.६

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरस्तात्सतः, यत्र यत्र कामयते सुषारथिः कल्याणसारथिः। अभीशूनां महिमानं पूजयत, मनः पश्चात् सन्तोऽनुयच्छन्ति रश्मयः॥ ६।१५॥

'अभीशु' की व्याख्या १८४ पृ० पर हो चुकी है। अभ्यश्नुवते अश्वग्रीवामिति अभीशवः। अब मंत्रार्थ देखिये—

(सुषारथिः रथे तिष्ठन्) अच्छा सारथि रथ में बैठा हुआ (पुरः वाजिनः) आगे जुड़े हुए घोड़ों को, (यत्र यत्र कामयते, नयति) जहां जहां चाहता है, ले जाता है। (अभीशूनां महिमानं पनायत) पर, इस महिमा को लगामों की महिमा समझो, सारथि की नहीं, (रश्मयः मनः पश्चात् अनुयच्छन्ति) क्योंकि ये लगामें ही सारथि के मन के पीछे २ तदनुकूल घोड़ों का नियमन करती हैं॥६।१५॥

१२. धनुष्

धनुर्धन्वतेर्गतिकर्मणः वधकर्मणो वा, धन्वन्त्यस्मादिषवः। तस्यैषा भवति—

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम। धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम॥६.७५.२

इति सा निगदव्याख्याता । समदः समदो वाऽत्तेः, सम्मदो वा मदतेः ॥ ७ । १६ ॥

धनुष्—(क) धन्वन्ति गच्छन्ति अस्मादिषव इति धनुः, इस से बाण चलते हैं । (ख) धन्वन्ति हन्ति अनेनेति धनुः, इस के द्वारा शत्रुओं को मारते हैं । गत्यर्थक 'धवि' धातु से कर्ता में, और बधार्थक 'धवि' से करण में 'उस्' प्रत्यय (उणा० २.११७) । धन्व्+उस्— धनुष् । अब मंत्रार्थ देखिये—

(धन्वना गाः) हम धनुष से गाय आदि धन और भूमिओं को जीतें, (धन्वना आजिं) धनुष से युद्ध को जीतें, (धन्वना तीव्राः समदः जयेम) और धनुष से उग्र शत्रुसेनाओं को जीतें । (धनुः शत्रोः अपकामं कृणोति) हमारा धनुष शत्रु की कामना को उलटा करे । (धन्वना सर्वाः प्रदिशः जयेम) एवं, हम धनुष के प्रताप से सब दिशाओं और उपदिशाओं को जीतें ।

इस मंत्र का अर्थ सुगम है, अतः यास्क ने नहीं किया । 'समद्' शब्द नित्यबहुवचनान्त है । (क) नाशक शत्रुसेना, सम्+'अद्' भक्षणे । (ख) अभिमानी शत्रुसेना, सम्+मद्—समद् ॥ ७ । १६ ॥

१३. ज्या

ज्या जयतेर्वा, जिनातेर्वा, प्रजावयतीषूनिति वा । तस्या एषा भवति—

वक्ष्यन्तीवेदागनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना ।
योषेव शिङ्क्ते वितताधिधन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती ॥६.७५.३

वक्ष्यन्तीवागच्छति कर्णं प्रियमिव सखायमिषुं परिष्वजमाना । योषेव शिङ्क्ते शब्दं करोति, वितताधिधनुषि ज्येयं समने संग्रामे पारयन्ती पारं नयन्ती ॥ ८ । १७ ॥

ज्या—(क) 'जि' जये+आ—ज्या, यह जिताने वाली है । (ख) 'ज्या' वयोहानौ, यह जीवन को हरने वाली है । (ग) यह बाणों को चलाती है, 'जु' गतौ+णिच्+क्विप्—जावि—ज्या । मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(इयं ज्या धन्वन् अधि वितता) यह ज्या जो कि धनुष पर चढ़ाई हुई है, (समने पारयन्ती) और युद्ध में धनुर्धारी को जिताने वाली है, (प्रियं सखायं परिषस्वजाना) वह, जैसे कोई पत्नी अपने प्रिय सखा पति को आलिङ्गन करती है, एवं, वाण को आलिङ्गन करती है। (वक्ष्यन्ती इव इत् कर्णं आगनीगन्ति) और, जैसे किसी रहस्यमय संदेश को कहने की इच्छा से कोई स्त्री दूसरे के कान के समीप आती है, एवं, मानो कि यह ज्या युद्धविषयक कुछ रहस्य–वार्ता कहने की इच्छा से ही धनुर्धारी के कान तक आती है। (योषा इव शिङ्क्ते) और, जैसे वह स्त्री कान के समीप आकर कुछ अव्यक्त शब्द करती है, एवं वाण के छोड़ने पर जो शब्द होता है, मानो कि वह ज्या कुछ अव्यक्त शब्द कर रही है।

एवं, इस मंत्र से आलङ्कारिक भाषा में बतलाया है कि वाण को चिल्ले पर चढ़ा कर कान तक खींचना चाहिए।

आगनीगन्ति = आगच्छति। समन = संग्राम। शिङ्क्ते = शब्दं करोति ॥८।१७॥
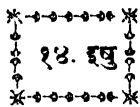
१४. इषु

इषुरीषतेर्गतिकर्मणः, बधकर्मणो वा। तस्यैषा भवति—

सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता। यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥६.७५.११

'सुपर्णं वस्ते' इति वाजानभिप्रेत्य। मृगमयोऽस्या दन्तः, मृगयतेर्वा। 'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' इति व्याख्यातम्। यत्र नराः सन्द्रवन्ति च विद्रवन्ति च, तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यच्छन्तु, शरणं संग्रामेषु ॥ ६ ।१८॥

इषु = वाण, गत्यर्थक या बधार्थक 'ईष' धातु से 'उ' प्रत्यय (उणा० १. १३) यह चलाया जाता है, और दूसरे का बध करता है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(सुपर्णं वस्ते) इषु पंख को धारण करता है। (अस्याः दन्तः मृगः) इस का दान्त, अर्थात् छेदने वाला नोकीला अग्रभाग पशु की हड्डी से बना होता है, अथवा, यह शत्रु को ढूंढ कर ठीक उसी पर पड़ता है। (गोभिः सन्नद्धा प्रसूता पतति) यह स्नायु और सरेश से भलीप्रकार दृढ़ बंधा हुआ, चलाए जाने पर शत्रु

पर गिरता है । (यत्र नरः संद्रवन्ति च विद्रवन्ति च) एवं, जहां योद्धा लोग कभी समीप आते हैं और कभी बिखर जाते हैं, (तत्र)उस युद्ध में (इषवः अस्मभ्यं शर्म यंसन्)बाण हमें सहारा प्रदान करें।

एवं, इस मंत्र में बतलाया है कि (१) इषु के पीछे पंख लगा हो, जोकि इषु की गति को तेज करता है । (२) बाण का अग्रभाग बड़ा नोकीला हो, जो कि किसी पशु की हड्डी से बना हो । (३) बाण इसप्रकार चलाया जावे कि निशाना ठीक लगे, चूके नहीं । (४) बाण में तांत और सरेश लगी हो, जिस से कि चलाने में सुगमता रहती है । (५) युद्ध उसे कहते हैं, जहां कि विरोधी दल कभी तो पास २ आजाते हैं, और कभी दूर २ हट जाते हैं ।

सुपर्ण = वाज = पंख । **मृग** — मृगमय, मार्गणकर्ता । 'गो' की व्याख्या ११४ पृ० पर कर चुके हैं । शर्म—शरण—सहारा ॥ ९।१८ ॥

१९. अश्वाजनी

अश्वाजनीं कशेत्याहुः। कशा प्रकाशयति भयमश्वाय, कृश्यतेर्वाऽणूभावात् । वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान् , खशया, क्रोशतेर्वा । अश्वकशाया एषा भवति—

आजङ्घन्ति सान्वेषां जघनाँ उपजिघ्नते । अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय ॥ ६.७५.१३

आघ्नन्ति सानून्येषां सरणानि सक्थीनि । सक्थिः सचतेः, आसक्तोऽस्मिन्कायः । जघनानि चोपघ्नन्ति । जघनं जङ्घन्यते । अश्वाजनि ! प्रचेतसः प्रवृद्धचेतसोऽश्वान् समत्सु समरणेषु संग्रामेषु चोदय ॥ १० । १९ ॥

अश्वाजनी = कशा = चाबुक । अजन + ङीप्, अश्वस्याजनी अश्वाजनी । अजन—प्रेरक, 'अज' क्षेपणे । **कशा**—(१) चाबुकवाची 'कशा' के दो निर्वचन हैं । (क) प्रकाशयति भयम् अश्वाय, यह अश्व को भय दिखलाती है, काशृ + अच् + टाप्—काशा—कशा । (ख) यह बड़ी पतली होती है, कृश् + अच् + टाप्—कशा—कशा ।

निरुक्तों में 'कृष्यतेः' ऐसा पाठ है, जो कि अशुद्ध जान पड़ता है। धातुपाठ में अणूभावार्थक 'कृश' तनूकरणे धातु दिवादिगणी पठित है। 'कृष' धातु विलेखन अर्थ में है, और भ्वादिगणी या तुदादिगणी है, अतः, 'कृश्यतेः' ऐसा पाठ चाहिए।

(२) 'कृशा' का दूसरा अर्थ वाणी भी होता है, जिसके ३ निर्वचन हैं। (क) प्रकाशयति अर्थान्, यह पदार्थों को प्रकाशित करती है। (ख) शब्द का स्थान आकाश है, खे शेते इति खशया—कशा। (ग) क्रोशति शब्दं करोतीति कशा, क्रोशा—कशा। अब, चाबुकवाची कशा के मंत्र का अर्थ देखिये—

(अश्वाजनि ! एषां सानु आजङ्घन्ति) हे चाबुक ! तेरे द्वारा सारथि लोग इन घोड़ों के उन्नत प्रदेशों पर प्रहार करते हैं। (जघनान् उपजिघ्नते) और पश्चाद्वर्ती जघनस्थानों को दबाते हैं। (प्रचेतसः अश्वान् समत्सु चोदय) सो, तू सारथि के इशारे को समझने वाले घोड़ों को युद्ध में प्रेरित कर।

आजङ्घन्ति=आघ्नन्ति। सानु=सानूनि=सक्थीनि, हड्डियों के कारण प्राणी चलता है, सारु सानु। 'सक्थि' इसलिये कहते हैं कि इन्हीं में सारा शरीर संबद्ध है, इनके बिना बड़े शरीर नहीं बन सकते। षच+क्थिन् (उणा० २१.५४) उपजिघ्नते=उपघ्नन्ति। जघन—जङ्घन्यते यत् यत् जघनम्, इसे बारबार ताड़ित किया जाता है, हन्+टन् और द्वित्व। प्रचेतसः=प्रबुद्धचेतसः। समत्सु=समरणेषु=संग्रामेषु, युद्ध में अनेक दल और अनेक योद्धा इकट्ठे होते हैं, सम्+अत+क्विप्—समत्।

'समरण' शब्द भी निघण्टु में युद्धवाची पठित है। एवं, 'समत्सु समरणेषु संग्रामेषु' से यास्क ने समत् और समरण, दोनों के निर्वचनों का निर्देश कर दिया कि ये समानार्थक भिन्न २ धातुओं से निष्पन्न हैं, एक स्थान पर 'अत' धातु है, और दूसरी जगह 'ऋ' गतौ ॥ १०।१९ ॥

१६. उलूखल

उलूखलम् उरुकरं वा, ऊर्ध्वखं वा, ऊर्क्करं वा, "उरु मे कुर्वित्यब्रवीत्तदुलूखलमभवत्। उरुकरं चैतत्तद् उलूखलमित्याचक्षते परोक्षेण" इति च ब्राह्मणम्। तस्यैषा भवति—

यच्चिद्धि त्वं गृहे गृह उलूखल युज्यसे ।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः॥ १

इति सा निगदव्याख्याता ॥ ११।२०॥

उलूखल—(क) उरुकर—उलूखल । इस निर्वचन की पुष्टि में आचार्य 'उरु मे कुरु' इत्यादि ब्राह्मणवचन देते हैं कि मनुष्य ने यह कहा कि (उरु मे कुरु) तू मेरे लिये बहुत अन्न संस्कृत कर, अतः वह उलूखल हुआ । एवं, इस 'उरुकर' को ही परोक्षवृत्ति से उलूखल कहते हैं । (ख) इसका मुख-छिद्र ऊंचा होता है, ऊर्ध्वख—व् ध् ऊ ख र् अ—उधूखर—उलूखल । (ग) यह अन्न को संस्कृत करता है, ऊर्क् कर—उलूखल । अब मंत्रार्थ देखिए—

(उलूखल यत् चित् हि) हे उलूखल ! जो तू निश्चयपूर्वक (गृहे गृहे युज्यसे) प्रत्येक गृहस्थ के घर में उपयुक्त होता है, (जयतां दुन्दुभिः इव) वह तू विजयिओं के दुन्दुभि-नाद की तरह (इह द्युमत्तमं वद) इस युद्ध में उत्तम शब्द कर ।

युद्ध में योद्धाओं के लिये सोमरस के पान का विधान है । और, उस रस की तय्यारी के लिये उलूखल का होना अत्यावश्यक है, अतः इसे भी एक युद्धोपकरण माना है । ऋ० १.२८ सूक्त को देखने से इसकी पुष्टि होती है । साथ ही यह भी बतला दिया कि प्रत्येक गृहस्थी को अपने घर में उलूखल का रखना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना सुसंस्कृत अन्न की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

मंत्रार्थ बड़ा सरल है, अतः यास्काचार्य इसकी व्याख्या नहीं करते ॥११।२०॥

* तृतीय पाद *

१७. वृषभ

वृषभः प्रजा वर्षतीति वा, अतिबृहति रेत इति वा, तद्वृषकर्मा, वर्षणाद् वृषभः ।

तस्यैषा भवति-

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन्वृषभं मध्य आजेः। तेन सूभर्वं शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ॥१०.१०२.५

न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनमिति व्याख्यातम् । अमेहयन् वृषभं मध्य आजेः, आजयनस्य, आजवनस्येति वा । तेन तं सूभर्वं राजानं, भर्वतिरत्तिकर्मा तद्वा सूभर्वम्, सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय । प्रधन इति संग्रामनाम, प्रकीर्णान्यस्मिन् धनानि भवन्ति ॥ १ ।२ १ ॥

वृषभ—सांड । (क) यह प्रजा को बरसाता है, प्रजा को पैदा करने वाले वीर्य को सींचता है । वृष्+अभच् (उणा० ३. १२३) (ख) अथवा, 'वृह' धातु वर्षणार्थक है, उससे 'अभच्' प्रत्यय, वृहभ—वृषभ । यहां यास्क ने 'वृह' धातु वर्षणार्थक मानी है, धातुपाठ में नहीं है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(आजेः मध्ये उपयन्तः) संग्राम में गये हुए सैनिक लोग (एनं वृषभं न्यक्रन्दयन्) इस सांड को उच्चरव के साथ शब्दायमान करते हैं, (अमेहयन्) और फिर शत्रुओं के ऊपर उसे बरसवाते हैं, अर्थात् उन पर आक्रमण करवाते हैं । (तेन मुद्गलः) एवं, उस सांड के द्वारा सात्विकान्नभोजी जितेन्द्रिय निरभिमान या हर्ष शोक में समचित्त राजा (प्रधने) युद्ध में (सूभर्वं) धनापहारक या प्रजा-भक्षक शत्रु-राजा को, (गवां शतवत् सहस्रं) और गाय आदि अनेक उत्तमोत्तम पदार्थों को (जिगाय) जीतता है ।

एवं, इस मंत्र में सांढों के द्वारा शत्रुओं को कुचलने का आदेश है । सांढों को यदि युद्ध के लिये भलीप्रकार सुशिक्षित किया जावे, तो ये बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं ।

'न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनम्' यह स्पष्ट होने से स्वयमेव व्याख्यात है । जिस प्रकार भाषा में कोड़े बरसाने का प्रयोग है, उसी तरह यहां पर सांड के बरसाने से अभिप्राय है । आजि=युद्ध । (क) यह विजय दिलाने वाला है, आ+'जि' जये । (ख) अथवा, इस में गति बहुत होती है । युद्ध हलचल का समुद्र है । आ+'जु' गतौ+ड़ि—आजि । सूभर्व, सु+हृञ्+वन् । अथवा, सु+भर्व+घ—सूभर्व । यहां 'भर्व' धातु अदनार्थक निघण्टुपठित है । गवां शतवत् सहस्रं=गौओं का सैंकड़ों गुणा वाला हजार, अर्थात् बहुत अधिक गायें । प्रधन=संग्राम, इसमें बहुत सी सम्पत्ति बिखरी रहती है, प्र=प्रकीर्ण ॥ १ ।२१ ॥

१८. द्रुघण
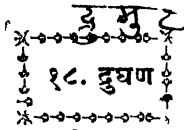
द्रुघणो द्रुममयो घनः। तत्रेतिहासमाचक्षते। मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर्वृषभञ्च द्रुघणञ्च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय। तदभिवादिन्येषर्ग् भवति—

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्। येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ॥ १०. १०२.६

इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्, येन जिगाय शतवत्सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु। पृतनाज्यमिति संग्रामनाम, पृतनानाम् अजनाद्वा, जयनाद्वा। मुद्गलो मुद्गवान्, मुद्गगिलो वा, मदनङ्गिलतीति वा, मदङ्गिलो वा, मुदङ्गिलो वा। भार्म्यश्वो भृम्यश्वस्य पुत्रः। भृम्यश्वो भृमयोऽस्याश्वाः, अश्वभरणाद्वा ॥ ९.२२ ॥

द्रुघण = गदा, यह काष्ठनिर्मित घन होता है। इसकी रचना, और क्रियायें वैशम्पायनोक्त धनुर्वेद में इसप्रकार दिखलाई गई है —

द्रुघणस्त्वायसाङ्गः स्यात् चक्रग्रीवो बृहच्छिराः।
पञ्चाशदंगुलोत्सेधो मुष्टिस्सम्मतमण्डलः ॥
उन्नामनं प्रपातश्च स्फोटनं दारणं तथा।
चत्वार्य्येतानि द्रुघणे वल्गितानि श्रितानि वै ॥

अब मंत्रार्थ देखिये—(काष्ठायाः मध्ये शयानं) हे योद्धा! संग्राम में पड़े हुए (वृषभस्य युञ्जं) सांढ के सहयोगी (तम् इमं द्रुघणं पश्य) इस द्रुघण को देख, (येन मुद्गलः) जिस से कि सात्विकान्नसेवी जितेन्द्रिय निरभिमान या हर्ष शोक में समचित्त राजा (पृतनाज्येषु) युद्धों में (गवां शतवत् सहस्रं जिगाय) गाय आदि अनेक उत्तमोत्तम पदार्थों को जीतता है।

मंत्र के इस अर्थ को सामने रखते हुए, विद्वान् लोग इस का इतिहास बतलाते है कि (भार्म्यश्वः) अनेक घोड़ों को धारण करने वाले राजा के पुत्र (मुद्गलः) जितेन्द्रियतादि गुणों से संपन्न वेदज्ञ राजकुमार ने सांढ और गदा को

सहयोगी बनाकर तथा संग्राम में उन्हें उपयुक्त करके युद्ध को जीता । इतिहास का विवेचन १२८ पृ० पर किया गया है, वहां देखलें ।

काष्ठा—संग्राम (१४० पृ०)। पूतनाज्य = संग्राम। (क) इस में सेनाओं को प्रेरित किया जाता है, पृतना + 'अज' गतिक्षेपणयोः + यक् (उणा० ४. ११२)। (ख) अथवा, इस में सेनाओं का विजय किया जाता है, पृतनाजय—पृतनाज्य। मुद्गल—(क) सात्विकान्नभोजी, यह मूंग वाला या मूंग खाने वाला होता है। 'मुद्ग' से 'मतुप्' अर्थ में 'र' प्रत्यय, मुद्गर—मुद्गल । अथवा, मुद्गगर-मुद्गल। (ख) जितेन्द्रिय, क्योंकि यह मदन अर्थात् काम का नाश करता है । मदनगर-मुद्गर। (ग) निरभिमान, यह मद अर्थात् अभिमान को निगलता है, मदगर-मुद्गल । (घ) हर्ष शोक में समचित्त, यह मुद अर्थात् हर्ष को निगलता है, मुद्गर—मुद्गल । भार्म्यश्व = भृम्यश्व का पुत्र। भृम्यश्व—जिसके अश्व (भृमयः) सदा चलने फिरने वाले हों, अथवा जो अनेक अश्वों को (भृमि) धारण करने वाला हो, उस राजा को भृम्यश्व कहा जावेगा ॥ २ । २२ ॥

१६. पितु

पितुरित्यन्ननाम, पातेर्वा, पिबतेर्वा, प्यायतेर्वा । तस्यैषा भवति-

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् ।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ १. १८७. १

तं पितुं स्तौमि महतो धारयितारं बलस्य । तविषीति बलनाम, तवतेर्वृद्धिकर्मणः । यस्य त्रित ओजसा बलेन, त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः, वृत्रं विपर्वाणं व्यर्दयति ॥ ३ । २३ ॥

पितु = अन्न। (क) यह शरीर और मन की रक्षा करता है। सात्विक अन्न के सेवन के बिना मन शिवसंकल्प वाला नहीं बन सकता—ऐसा यजुर्वेद के शिवसंकल्प-प्रकरण में (३४.७) बतलाया है । 'पा' रक्षणे + तुन् (उणा० १. ६९)। (ख) इसका भक्षण किया जाता है। यहां 'पा' धातु भक्षणार्थक मानी गई है, पानार्थक नहीं (देखिए ३१४ पृ०)। (ग) यह वृद्धिप्रद होता है, अवनति कराने वाला नहीं। 'प्यायी' वृद्धौ + तुन्—प्याय् तु—पितु । अब, मंत्रार्थ देखिए—

(महः तविषीं धर्माणं) मैं महान् बल को धारण कराने वाले (पितुं नु स्तोषम्) अन्न का आदर करता हूं, (यस्य ओजसा) कि जिसके बल से (त्रितः) जल स्थल और अन्तरिक्ष, तीनों स्थानों में रमण करने वाला राजा, या शरीर मन और आत्मा, इन तीनों स्थानों में बलसम्पन्न ऐश्वर्यशाली मनुष्य (वृत्रं) आन्तरिक और बाह्यशत्रु को, (विपर्वं व्यर्दयत्) अस्थिसन्धियें तोड़ २ कर विशेषतया मारता है।

इस मंत्र में सात्विक अन्न के सेवन और 'अन्नं न निन्द्यात्, तत् व्रतम्' इस तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार अन्न की निन्दा न करने का व्रत निर्दिष्ट किया गया है। अनुक्रमणिकाकार शौनक ने पितुसूक्त का विनियोग नित्यम्प्रति भोजनवेला में किया है, जो कि इसप्रकार है—

पितुं न्वित्युपतिष्ठेत नित्यमन्नमुपस्थितम्।
पूजयेदशनं नित्यं भुञ्जीयादविकुत्सयन्॥ १॥
नास्य स्यादन्नजो व्याधिर्विषमप्यमृतं भवेत्।
विषं च पीत्वैतत्सूक्तं जपेद्विषनाशनम्॥ २॥
नावाग्यतस्तु भुञ्जीत नाशुचिर्न जुगुप्सितम्।
दद्याच्च पूजयेच्चैव जुहुयाच्च हविः सदा॥ ३॥
क्षुद्भयं नास्य किञ्चित्स्यान्नान्नजं व्याधिमाप्नुयात्॥ ४॥

महः तविषीं=महतः बलस्य। धर्माणम्=धारयितारम्। तविषी—बल, वृद्ध्यर्थक 'तु' धातु से 'इषन्' और ङीप्। त्रित=त्रिस्थान, त्रिषु स्थानेषु तनोतीति त्रितः (देखिये २५० पृ०)॥ ३। २३॥

२०. नद्यः
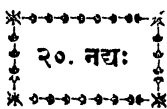
नद्यो व्याख्याताः। तासामेषा भवति—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ १०.७५.५

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि परुष्णि! स्तोममासेवध्वम्। असिक्न्या च सह मरुद्वृधे, वितस्तया चार्जीकीये। आ-

शृणुहि सुषोमया च—इति समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम्—गंगा गमनात् । यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा, प्रवियुतं गच्छतीति वा । सरस्वती, सर इत्युदकनाम सर्तेः, तद्वती । शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविणी, आशु तुन्नेव द्रवतीति वा । इरावतीं परुष्णीत्याहुः, पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी । असिक्न्यशुक्लाऽसिता, सितमिति वर्णनाम, तत्प्रतिषेधोऽसितम् । मरुद्वृधाः सर्वा नद्यः, मरुत एना वर्द्धयन्ति । वितस्ताऽविदग्धा, विवृद्धा महाकूला । आर्जीकीयां विपाडित्याहुः, ऋजीकप्रभवा वा, ऋजुगामिनी वा । विपाड् विपाटनाद्वा, विपाशनाद्वा, विप्रापणाद्वा । पाशा अस्यां व्यपाशयन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद्विपाडुच्यते । पूर्वमासीदुरुञ्जिरा । सुषोमा सिन्धुः, यदेनामभिप्रसुवन्ति नद्यः । सिन्धुः स्यन्दनात् ॥ ४ । २४ ॥

'नदी' की व्याख्या १५३ पृ० पर कर आये हैं । 'इमं मे गङ्गे' मंत्र में नाड़िओं का वर्णन है । आचार्य ने ३४० पृ० पर 'इमशा' का निर्वचन करते हुए, उस के नदी और नाड़ी, दोनों ही अर्थ किये हैं । एवं, वेद में प्रायः सर्वत्र आध्यात्मिक पक्ष में, नदी नामों से नाड़िओं का वर्णन पाया जाता है । इन्हें नदी इसलिए कहा जाता है कि इन्हीं से स्वर (शब्द) की उत्पत्ति होती है । योगशास्त्र में, नाड़िओं में से श्वास लेने की क्रिया को, स्वर कहा है । इतनी भूमिका के पश्चात्, अब आप पहले मंत्रार्थ देखिए—

(गंगे यमुने) हे इड़ा ! हे पिङ्गला ! (शुतुद्रि परुष्णि सरस्वति !) और हे शुतुद्री तथा परुष्णी नामों वाली सुषुम्ना नाड़ी ! (मे इमं स्तोमं आसचत) तुम मेरे इस परमेश्वर-स्तवन का सेवन करो । (मरुद्वृधे असिक्न्या) हे सुषुम्णा ! तू पिङ्गला के साथ (आर्जीकीये ! वितस्तया सुषोमया) और हे इडा ! तू वितस्ता नामवाली सुषुम्णा के साथ मिली हुई (आशृणुहि) मेरे इस परमेश्वर-स्तवन का श्रवण कर ।

मंत्र के आशय को भलीप्रकार हृदयङ्गम कराने के लिये 'शिवस्वरोदय' का

कुछ प्रकरण यहाँ दिया जाता है, जो कि इसप्रकार है—

नाभिस्थानगकन्दोर्ध्वमंकुरादेव निर्गताः ।
द्विसप्ततिसहस्राणि देहमध्ये व्यवस्थिताः ॥ ३२ ॥

तासां मध्ये दश श्रेष्ठा दशानां तिस्र उत्तमाः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ॥ ३६ ॥

गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी तथा ॥ ३७ ॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्मृता ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गांधारी वामचक्षुषि ॥ ३८ ॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलम्बुषा ॥ ३६ ॥
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शंखिनी ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाड़िकाः ॥ ४० ॥
इड़ा पिङ्गला सुषुम्णा च प्राणमार्गव्यवस्थिताः ॥ ४१ ॥
इडायां तु स्थितश्चन्द्रः पिङ्गलायां च भास्करः ।
सुषुम्णा शंभुरूपेण शंभुर्हंसस्वरूपतः ॥ ५० ॥
आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करो हि सितेतरे ॥ ६२ ॥
परे सूक्ष्मे विलीयेत सा संध्या सद्भिरुच्यते ॥ १३६ ॥
चन्द्रसूर्यसमभ्यासं ये कुर्वन्ति सदा नराः ।
अतीतानागतज्ञानं तेषां हस्तगतं भवेत् ॥ ५६ ॥
कुम्भयेत्सहजं वायुं यथाशक्ति प्रकल्पयेत् ।
रेचयेच्चन्द्रमार्गेण सूर्येणापूरयेत्सुधीः ॥ ३७६ ॥
इडा गंगेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी ।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात्प्रयागादिसमस्तथा ॥ ३७४ ॥

नाभिस्थानगत कन्द से ऊपर अंकुर समान ७२ हजार नाड़ियें निकली हुई हैं, जो कि संपूर्ण शरीर में अवस्थित हैं ॥ ३२ ॥

उन सब नाड़िओं में से १० नाड़ियें सर्वोत्तम हैं। और फिर उन दसों में सेभी इडा, पिंगला और सुषुम्णा, ये तीन नाड़ियें उत्कृष्ट हैं ॥ ३६ ॥

शेष सात नाड़िओं के नाम, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, और शंखिनी हैं ॥ ३७ ॥

इडा शरीर के वामभाग में, पिंगला दक्षिण भाग में, और सुषुम्णा मध्यभाग में, गांधारी वाम नेत्र में, हस्तिजिह्वा दक्षिण नेत्र में, पूषा दक्षिण कान में, यशस्विनी वाम कान में, अलम्बुषा मुख में, कुहू उपस्थेन्द्रिय में, और शंखिनी गुदा में, एवं शरीर के द्वारों में ये दसों नाड़िये अवस्थित हैं। इन में इडा, पिङ्गला, और सुषुम्णा, ये तीन नाड़ियें प्राणसंचार के लिये मुख्य है ॥ ३४-४१ ॥

इडा नाड़ी चन्द्र रूप से, पिंगला सूर्य रूप से, और सुषुम्णा शंभु या हंस रूप से, अवस्थित है। अर्थात्, इडा का दूसरा नाम चन्द्र, पिंगला का सूर्य, और सुषुम्णा का शंभु या हंस है ॥ ५० ॥

इन नाड़ियों के ये नाम क्यों हैं, इसका रहस्य ६२ और १३६ श्लोकों से विदित होता है। वहां कहा है कि प्राण शुक्लपक्ष में पहले इडा (चन्द्र) नाड़ी में संचार करते हैं, और कृष्णपक्ष में पिङ्गला (भास्कर) में, फिर अन्यत्र इनका संचार होता है। और, यतः सुषुम्णा में प्राणों के एकरसतया वर्तमान रहने से योगी परमसूक्ष्म ब्रह्म में लीन होजाता है, अतः विद्वान् लोग उस नाड़ी को 'संध्या' कहते हैं।

जो योगी लोग निरन्तर इडा और पिंगला के स्वरों का भलीप्रकार अभ्यास करते है, उनको भूत और भविष्यत् का ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

इस अभ्यास से क्या अभिप्राय है, इसे ३७९ श्लोक में इसप्रकार दर्शाया गया है कि स्वाभाविक वायु को पहले यथाशक्ति कुम्भक प्राणायाम से रोके, फिर इडा मार्ग से रेचक प्राणायाम के द्वारा निकाले, और फिर पिंगला नाड़ी के मार्ग से पूरक प्राणायाम के द्वारा उसे अन्दर की ओर खींचे।

इडा को गंगा नदी (नाड़ी) पिंगला को यमुना नदी, और देह के मध्य में स्थित सुषम्णा को सरस्वती नदी समझना चाहिये। इन तीनों नाड़िओं के संगमस्थल का नाम 'प्रयाग' है। और, ये भारतीय गंगा, यमुना और सरस्वती नदियें, तथा इन तीनों नदियों का संगम-स्थान प्रयाग, इन्हीं नाड़िओं की समानता को देखकर प्रसिद्ध है ॥ ३७४ ॥

उपर्युक्त वर्णन से अब स्पष्टतया विदित होगया होगा कि यह मंत्र 'सूर्यचन्द्र-समभ्यास' और सच्चे प्रयाग तीर्थ में स्नान करते हुए परमेश्वर-प्राप्ति की शिक्षा दे रहा है।

इस मंत्र में गंगा और आर्जीकीया 'इड़ा' के लिये, यमुना और असिक्नी

'पिंगला' के लिये, तथा सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, मरुद्वृधा वितस्ता और सुषोमा, ये ६ नाम 'सुषम्णा' के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अब, निरुक्त-व्याख्या की ओर आइए। (इति समस्तार्थः। अथैकपद-निरुक्तम्) यह संक्षिप्त अर्थ है। अब, प्रत्येक पद का निर्वचन किया जाता है, जो कि इसप्रकार है—

(१) गंगा—उत्तमां गतिं गच्छन्त्यनयेति गंगा, गम्+गम्+ड+टाप्। इस नाड़ी में प्राणों को वश में करने से योगी उत्तम गति को पाता है।

(२) यमुना—यह पूरक प्राणायाम के द्वारा अपने में प्राण को संमिश्रित करती हुई शरीर में गति करती है। अथवा, इस नाड़ी के अभ्यास से योगी (प्रवियुतं) वियुक्तत्व को अर्थात् चित्त की स्थिरता को पाता है। एवं, मिश्रण तथा अमिश्रण, इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त 'यु' धातु से 'यमुना' की सिद्धि की गई है। यवना—यमुना।

(३) सरस्वती—'सरस्' शब्द जलवाची है, यतः यह गति करता है, बहता है, सृ+असुन्। एवं, प्रशस्त रस वाली होने से सुषुम्णा नाड़ी को 'सरस्वती' कहा गया है।

(४) शुतुद्री—(क) सुषुम्णा में ध्यान करने से योगी (शु) शीघ्र ब्रह्मलोक को जाता है, अतः शीघ्र ले जाने वाली होने से यह शुतुद्री है। शु+द्रु+ड+ङीप् और द्वित्व—शुद्रुद्री—शुतुद्री।

ऋग्वेद के इसी 'इमं मे गङ्गे' आदि वाले सूक्त (१०.७५) के अन्त में व्याख्या रूप से कई शाखाओं में यह मंत्र मिलता है—

सितासिते सरिते यत्र संगथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते॥

अर्थात्, जो ध्यानी लोग, जहां (सित) इडा (असित) और पिंगला, ये दोनों नाड़ियें मिलती हैं, उस संगमस्थान सुषुम्णा में स्नान करते हैं, वे ब्रह्मलोक में जाते हैं। अर्थात्, वे योगी शरीर को छोड़ने के पश्चात् अमृतत्व को भजते हैं। एवं, यह वचन स्पष्टतया 'शुतुद्री' के आशय को प्रदर्शित कर रहा है।

(ख) अथवा, इस नाड़ी की गति बड़ी तेज है, अतः मानो कि यह किसी से ताड़ित होकर बड़ी शीघ्रता से दौड़ रही है। शु+'तुद्' व्यथने+द्रु+ड+ङीप्—शुतुद्री।

(५) **परुष्णी**—'परुष् और 'पर्वन्' ये दोनों समानार्थक हैं। 'पर्व' धातु से 'उसि' प्रत्यय और वकार-लोप (उणा० २. ११७)। उस 'परुष्' से मतुप् अर्थ में 'न'। परुष्णी = पर्ववती = भास्वती, कुटिलगामिनी (देखिये ११७ पृ०)। सुषुम्णा नाड़ी ब्रह्मप्राप्ति की साधिका होने से भास्वती है, और इस की गति वक्र है। इस परुष्णी को '**इरावती**' भी कहते है।

(६) **असिक्नी**—पिंगला को 'असिता' या कृष्णा' कहा जाता है, यह पहले बतला चुके हैं। 'अशुक्ला—अशुक्नी—असिक्नी, 'टाप्' की जगह ङीबन्त का प्रयोग है। 'सित' श्वेत का वाचक ह, उसका निषेध असित है।

(७) **मरुद्वृधा**—यह नाम सामान्यतया सब नाड़िओं का वाचक है, अतः वायुएँ इन्हें बढ़ाती ह, फैलाती हैं। परन्तु यहां, मुख्य नाड़ी सुषुम्णा के लिये प्रयुक्त है।

(८) **वितस्ता**—(क) सुषुम्णा के द्वारा सब आन्तरिक मल विशेषतया दग्ध किये जाते हैं, अतः विदग्धा होने से, इसे वितस्ता कहा गया है। वि + 'तसु' उपक्षये + क्त—वितस्ता। (ख) अथवा, यह नाड़ी बड़ी होती है, अर्थात् इसके किनारे अधिक ऊंचे होते हैं। यहां 'वि' का अर्थ विगत है। एवं, वितस्ता का शब्दार्थ 'क्षयरहित' यह है।

(९) **आर्जीकीया**—(क) ऋजीकप्रभवा आर्जीका, आर्जीका एव आर्जीकीया। ऋजीक = उत्पत्तिस्थान (३८३ पृ०)। सब नाड़िओं का उत्पत्ति-स्थान नाभि-कन्द है, अतः यहां 'ऋजीक' का अर्थ नाभि-कन्द है। उस नाभि-कन्द से 'इडा' की उत्पत्ति होने, उसे 'आर्जीकीया' कहा गया है। (ख) अथवा, यह इडा नाड़ी पिङ्गला की तरह वक्र नहीं, प्रत्युत ऋजुगामिनी है। ऋजु गच्छतीति आर्जिकः—आर्जीकः, गच्छतौ परदारादिभ्यः (वा० ४. ४. १) से 'ठक्' प्रत्यय।

ऋ० ८. ७. २९ में 'आर्जीक' सुषोम (सुषुम्णा) का विशेषण है, और ऋ० ८. ६४. ११ में 'आर्जीकीया' सुषोमा (सुषुम्णा) का विशेषण है। तथा, ऋ० ९. ६५.२३ में 'आर्जीक' बहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ है, जो कि सब नाड़िओं के लिये है।

इस 'इडा' को 'विपाट्' या 'विपाश्' भी कहते हैं। इस नाड़ी में अभ्यास करने से योगी का अज्ञान नष्ट हो जाता है, अज्ञान-पाश कट जाते हैं, और विज्ञान की प्राप्ति होती है। विपाटयतीति विपाट्' विगताः पाशोऽनया सा विपाश्, विशेषेण प्राप्नोति ज्ञानमनयेति विप्राप्—विपाश्।

'विपाश्' के दूसरे निर्वचन की पुष्टि में आचार्य कोई ऐतिहासिक घटना देते हैं कि अत्यन्त दुःख के कारण मुमूर्षु वसिष्ठ के दुःख-पाश, इस नाड़ी में ध्यान

करने से, टूट गये, अतः यह नाड़ी उपर्युक्त निर्वचन के अनुसार 'विपाट्' कहलाती है। पहले इस 'इडा' का प्रसिद्ध नाम 'उरुञ्जिरा' था, जो कि अब (यास्क के समय) प्रसिद्ध नहीं रहा।

(१०) **सुषोमा**—इस सुषोमा (सुषुम्णा) का दूसरा नाम '**सिन्धु**' है, यतः इसकी ओर अन्य कई इडा पिंगला आदि नाड़ियें जाती हैं। सुषुम्णा नाड़ी कई अन्य नाड़िओं का संगमस्थान है। '**पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्रोतसः**' (यजु० ३४. ११) से विदित होता है कि इस सरस्वती (सुषुम्णा) नाड़ी में पांच अन्य नाडियें आकर मिलती हैं, जिन सब का समान स्रोत नाभिकन्द है। 'सु' उपसर्ग पूर्वक 'षु' धातु से 'मक्' प्रत्यय। 'सुषोमा' का ही रूपान्तर 'सुषुम्णा' है। **सिन्धु**—स्यन्दन्ते नद्य एनमिति सिन्धुः, 'स्यन्द' के संप्रसारण रूप' सिन्दू' से 'उ' प्रत्यय (उणा० १. ११) इसकी ओर कई नाड़िये बहती हैं, अतः यह सिन्धु कहलाती है।

एवं, आपने नदिओं के इस रहस्य को देख लिया। पौराणिक काल में जो गंगादि तीर्थों का अन्यथाभाव से बड़ा माहात्म्य समझा जाने लगा, उसका मूल कारण यही था कि उस समय के विचारकों ने इन मंत्रों के गूढ़ आशय को नहीं समझा ॥ ४। २४ ॥
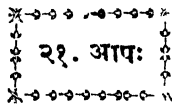
२१. आपः आप आप्नोतेः। तासामेषा भवति-

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे॥ १०. ९. १

आपो हि स्थ सुखभुवास्ता नोऽन्नाय धत्त, महते च नो रणाय रमणीयाय दर्शनाय ॥ ५। २५ ॥

आपः=जल, 'आप्' शब्द नित्यबहुवचनान्त है। आप्यते प्राप्यते सर्वत्रेति आपः, 'आप्लृ' व्याप्तौ+क्विप्। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(आपः हि मयोभुवः स्थ) हे जल! तु निश्चय करके सुखकारी है। (ताः ऊर्जे) वह तू बलप्रद अन्न के लिये (महे रणाय चक्षसे) और तीव्र तथा सुन्दर नेत्र-ज्योति के लिये (नः दधातन) हमें धारण कर। एवं, इस मंत्र में दर्शाया गया है कि जल-चिकित्सा से नेत्र-ज्योति तीव्र और सुन्दर होती है।

महे=महते, 'अत्' का लोप। रण=रमणीय। मयस्=सुख ॥ ५। २५ ॥

२२. ओषधि

ओषधय ओषद्ध धयन्तीति वा, ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति वा। तासामेषा भवति—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥ १०. ९७. १

या ओषधयः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रीणि युगानि पुरा, मन्ये नु तद्ध बभ्रूणामहं बभ्रुवर्णानां, हरणानां, भरणानामिति वा। शतं धामानि सप्त च। धामानि त्रयाणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानीति। जन्मान्यत्राभिप्रेतानि। सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणां तेष्वेना दधतीति वा ॥ ६ । २६ ॥

ओषधि—(क) ओषत् दहत् रोगजातं धयन्ति पिबन्तीति ओषधयः, ये दाहजनक रोगों का नाश करती हैं। (ख) ओषति दाहे सति रोगिण एनाः धयन्ति पिबन्तीति ओषधयः, 'ओषत्+धा' से कर्ता या कर्म में 'कि' प्रत्यय (पा० ३. ३. ९३, ११३)। (ग) दोषं वातपित्तादिकं धयन्तीति दोषधयः—ओषधयः।

(याः ओषधीः) जो ओषधियें (देवेभ्यः त्रियुगं पुरा) ऋतुओं से वसन्त वर्षा और शरत्, इन तीन ऋतुओं में (पूर्वाः जाताः) परिपक्व पैदा होती हैं, (अहं बभ्रूणां नु) मैं उन पिङ्गलवर्ण, पुष्टिकर्ता और रोगापहारक ओषधिओं के कारण ही (शतं धामानि सप्त च मनै) मानुषिक सौ वर्ष के जीवन, और सातों ज्ञानेन्द्रियों के जीवन को समझता हूं। अथवा, मैं उन ओषधिओं के १०७ स्थान मानता हूं, जिन में कि ये स्थापित की जाती हैं।

'धामन्' के तीन अर्थ होते हैं, स्थान नाम और जन्म। उन में से यहां स्थान और जन्म, ये दो अर्थ अभिप्रेत हैं। अतएव उपर्युक्त प्रकार से दो अर्थ दिये गये हैं। 'जन्म' के आशय को समझने के लिये वाजसनेयक ब्राह्मण का निम्नलिखित मंत्रार्थ देखिए—

"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेत्यृतवो वै देवास्तेभ्य एतास्त्रिः पुरा जायन्ते, वसन्ते प्रावृषि शरदि, मनै नु बभ्रूणा-

मह्मिति सोमो वै बभ्रुः, सोम्या ओषधयः, औषधः पुरुषः। शतं धामानीति, यदिदं शतायुः शतार्घः शतवीर्य एतानि ह्यस्य शतं धामानि। सप्त चेति, य इमे सप्त शीर्षन् प्राणास्तानेतदाह॥ ७.२.४.२६

एवं, इन ओषधियों के सेवन से ही मनुष्य बहुमूल्यवान् बहुवीर्यवान् और शतायु होता है। और, शिर में रहने वाली जो दो आंख, दो कान, दो नाक, और एक जिह्वा, ये सात ज्ञानेन्द्रियें हैं, उन की जीवनाधार भी यही ओषधियें हैं, अतः यहां 'धामन्' का अर्थ जन्म है। सप्त शीर्षण्य प्राणों की विस्तृत व्याख्या १२ अ० २५ ख० में देखिये।

मनुष्य-शरीर में १०७ मर्मस्थल हैं। उन्हीं में सदा रोग उत्पन्न हुआ करते हैं। और, रोग-निवारण के लिए उन्हीं में ओषधियें पहुंचायी जाती हैं, अतः दूसरे पक्ष में 'धामन्' स्थानवाची है। इस पक्ष की पुष्टि के लिये सुश्रुत के शरीरस्थानवर्ती छठे अध्याय का निम्नलिखित वचन देखिये—

सप्तोत्तरं मर्मशतम्। तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि। तद्यथा मांसमर्माणि, शिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, संधिमर्माणि चेति। तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत् शिरामर्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि, अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः सन्धिमर्माणि। तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम्।

देव, युग = ऋतु। बभ्रू = पिङ्गलवर्ण वाली, भरण करने वाली, हरण करने वाली। एवं, यहां 'भृञ्' या 'हृञ्' धातु से 'बभ्रू' की सिद्धि की है। पूर्व = परिपक्व, 'पुर्व' पूरणे॥ ६। २६॥
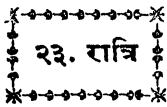
२३. रात्रि रात्रिर्व्याख्याता। तस्या एषा भवति-

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः। दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठस आ त्वेषं वर्त्तते तमः॥ अथ० १९. ४७. १

आपूपुरस्त्वं रात्रि पार्थिवं रजः स्थानैर्मध्यमस्य। दिवः सदांसि बृहती महती वितिष्ठसे। आवर्त्तते त्वेषं तमो रजः॥ ७। २७॥

'रात्रि' की व्याख्या १४४ पृ० पर कर आए हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(रात्रि ! पितुः धामभिः) हे रात्रि ! तू अन्तरिक्षलोक के सहित (पार्थिवं रजः) पृथिवी लोक को (आ अप्रायि) पूर्ण करती है । (बृहती दिवः सदांसि वितिष्ठसे) एवं, महाशक्तिशाली तू सूर्यलोक के आश्रित पृथिवी चन्द्र आदि सब लोकों में स्थित होती है । (त्वेषं तमः आवर्त्तते) तेरा यह सुन्दर अन्धकार पृथिवी लोकों में चक्रवत् घूम २ कर आता है ।

रजस्=लोक (२७७ पृ०) । पितृ=मध्यम=अन्तरिक्ष । तमो रजः=अन्धकार पृथिवीलोक के प्रति ॥ ७ । २७ ॥
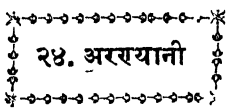
२४. अरण्यानी

अरण्यानी, अरण्यस्य पत्नी । अरण्यमपार्णं ग्रामात्, अरमणं भवतीति वा । तस्या एषा भवति—

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि । कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती३ ॥ १०. १४६. १

अरण्यानि ! इत्येनामामन्त्रयते । यासावरण्यानि वनानि पराचीव नश्यसि, कथं ग्रामं न पृच्छसि । न त्वा भीर्विन्दतीव ? इतीवः परिभयार्थे वा ॥ ८ । २८ ॥

अरण्यानी=वनस्थ पुरुष की पत्नी या वन की सहचारिणी वनस्था स्त्री, और वन । 'इन्द्रवरुणभव' आदि पाणिनि सूत्र (४. १. ४९) की व्याख्या करते हुए कात्यायन ने 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे' वार्तिक से बड़े वन को 'अरण्यानी' बतलाया है। परन्तु यास्काचार्य इस से सहमत नहीं, वे पत्नी अर्थ में ही 'अरण्य' से 'ङीप्' और 'आनुक्' करते हैं । फिर, अरण्यानी स्त्री के प्रसङ्ग से उस 'अरण्य' को भी 'अरण्यानी' कहा गया । वन के लिये अरण्यानी का प्रयोग इसी अरण्यानी–सूक्त के अन्य मंत्रों में है।
अरण्य—(क) यह ग्राम या नगर से अपगत होता है, दूर होता है, 'ऋ' गतौ+अन्यत् (उणा० ३. १० २) । (ख) अथवा, यह ग्रामादिक की तरह आराम का स्थान नहीं होता, अरम्य—अरण्य । फिर, इस अरण्य के प्रसङ्ग से 'वनी' को भी अरण्य कहा गया ।

इस अरण्यानी–सूक्त का ऋषि 'ऐरम्मद देवमुनि' है, जिसका अर्थ 'स्वाभाविकतया इड़ाजन्य (भूमिजन्य) अन्न पर संतुष्ट रहने वाला वनस्थ'–यह है । इसका

माद्यति इरम्मदः, इरम्मद एव ऐरम्मदः। 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' यहां पर बृहदारण्यक उपनिषद् (४. ४. २२) ने 'मुनि' शब्द का प्रयोग वनस्थ के लिये किया है। इस सूक्त में वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वाले पुरुष और उसकी पत्नी का परस्पर में संवाद है। पहला मंत्र पति की उक्ति है, जिस में वह अपने साथ वन में जाने की अभिलाषिणी पत्नी को, जाने से निषेध करता है। और, अगले पांच मंत्रों में वह पत्नी, कानन की शोभा का वर्णन करती हुई, वन में ही जाने के प्रस्ताव को परिपुष्ट करती है। एवं, इस सूक्त में यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि वनस्थ की पत्नी यथाभिरुचि अपने पुत्र के पास नगर में, या पति के साथ वन में, कहीं भी रह सकती है। इसी की पुष्टि **'पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा'** यह मनुवचन (६. ३) कर रहा है।

अब, इतनी भूमिका के पश्चात् मंत्रार्थ देखिये—(अरण्यानि !) हे वनस्थ-पत्नी ! (असौ या प्र) वह जो तू ग्राम से पराङ्मुख होती हुई (अरण्यानि नश्यसि) वनों की ओर जाती है, (ग्रामं कथा न पृच्छसि) सो, ग्राम को क्यों नहीं पूछती, अर्थात् ग्राम में ही रहने के लिये मेरे से अनुमति क्यों नहीं लेती ? (त्वा भीः इव न विन्दति) क्या तुझे वहां जाने से भय नहीं लगता ? अथवा, क्या तुझे वहां जाने में कुछ भी भय नहीं लगता ?

इस का उत्तर अगले मंत्रों में पत्नी इसप्रकार देती है कि स्वामिन् ! उस जंगल में जब भिन्न२ प्रकार के पक्षी परस्पर में स्वरों को मिलाकर बोलते हैं, तब ऐसा अनुभव होता है कि कोई वाद्यकला में निपुण मनुष्य बड़ी प्रवीणता से सप्त स्वरों को शुद्ध करके बाजे बजा रहे हैं। तब, उस जंगल की शोभा देखने योग्य होती है। स्वामिन् ! वहां तो सिंह आदि पशु गौओं की तरह शान्त रूप में विचरते हैं, फिर भय किस से। और, वन में तरह २ के कुञ्ज उत्तम से उत्तम महलों की तरह दृष्टिगोचर होते हैं। नाथ ! यदि कोई दुष्ट मनुष्य उस वन पर आक्रमण नहीं करता, तो वह जंगल तो किसी को दुःख नहीं देता, प्रत्युत वनवासी स्वादु फलों को खाकर स्वेच्छा विचरता है। अतः, अनेक प्रकार के सुगन्धि-युक्त वृक्षों से सुवासित, कृषि के बिना प्रचुर अन्न को देने वाली, और मृगों की माता अरण्यानी को ही मैं निवास के लिये उत्तम समझती हूं।

प्र = पराची = पराङ्मुखी। निघण्टु में 'नश' धातु व्याप्ति अर्थ में पठित है। कथा = कथं। इव = पदपूरक, परिभय। 'परि' उपसर्ग 'ईषत्' अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे कि 'परि मधुरं पर्याम्रम्' यहां पर है। 'विन्दती३' यहां ऋ० प्रा० १.६ से वितर्क में प्लुत है॥ ८।२८।

२५. श्रद्धा 　श्रद्धा श्रद्धानात् । तस्या एषा भवति—
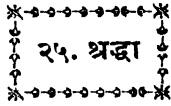
श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः । श्रद्धां
भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १०. १५१. १

श्रद्धयाग्निः साधु समिध्यते, श्रद्धया हविः साधु हूयते । श्रद्धां भगस्य भागधेयस्य मूर्द्धनि प्रधानाङ्गे वचनेनावेदयामः ॥९।२९॥

श्रद्धा—श्रत् सत्यमस्यां धीयते इति श्रद्धा, श्रत्+धा+श्रङ् (पा०३.३.१०६) अतएव यजुर्वेद (१९. ७७) में कहा है 'अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः' अर्थात् विश्वपति ने झूठ में अश्रद्धा को स्थापित किया, और सच में श्रद्धा को । अब मंत्रार्थ देखिये—

(श्रद्धया अग्निः समिध्यते) श्रद्धापूर्वक यज्ञाग्नि प्रदीप्त की जाती है, (श्रद्धया हूयते हविः) और श्रद्धापूर्वक ही उस में हवि की आहुति दी जाती है। (श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि) अतः, हम लोग श्रद्धा को संपत्ति के उत्तमाङ्ग में, (वचसा वेदयामसि) अपने भाषणों के द्वारा, औरों को जतलावें । अर्थात्, सांसारिक संपत्तिओं और वेद-निधि में यदि कोई सर्वोत्तम सम्पत्ति है, तो वह श्रद्धा ही है । ऐसी श्रद्धा का प्रचार श्रद्धावान् लोग सर्वत्र करें।

भग=भागधेय=संपत्ति । वचस्=वचन ॥ ९ । २९ ॥
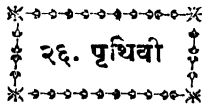
२६. पृथिवी 　पृथिवी व्याख्याता । तस्या एषा भवति—

स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी ।
यच्छा नः शर्म सप्रथः ॥ १. २२. १५

सुखा नः पृथिवी भवानृक्षरा निवेशनी । ऋक्षरः कण्टकः, ऋच्छतेः । कण्टकः कन्तपो वा, कृन्ततेर्वा, कण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मण उद्गततमो भवति । यच्छ नः शर्म शरणं सर्वतः पृथु ॥१०।३०॥

पृथिवी को व्याख्या ४८ पृ० पर कर आए हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(पृथिवि ! स्योना) हे मातृभूमि ! तू हमारे लिये सुखकरी (अनृक्षरा निवेशनी भव) निष्कण्टक और निवास के योग्य हो। (नः सप्रथः शर्म यच्छ) और, हे जननीभूमि ! तू हमें सर्वत्र विस्तारयुक्त शरण प्रदान कर।

ऋक्षर = कण्टक। ऋच्छति उद्गच्छतीति ऋक्षरः, 'ऋच्छ' गतौ+अर (उणा०३.१३१)। यह वृक्षादि के ऊपर उठा हुआ होता है। कण्टक—(क) किसी को दुःख देने वाला, कन्तप—कण्टक। (ख) यह छेदने वाला होता है, कृन्तक—कण्टक, कृती छेदने+क्कुन्। (ग) 'कटी' गतौ+क्कुन् (उणा० २. ३२) यह वृक्षादि के ऊपर उठा हुआ होता है। शर्मन् = शरण। सप्रथस् = सर्वतः पृथु, स = सर्वतः ॥ १० । ३० ॥

२७. अप्वा

अप्वा व्याख्याता। तस्या एषा भवति—

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि। अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥ १०.१०३.१२

अमीषां चित्तानि प्रज्ञानानि प्रतिलोभयमाना गृहाणाङ्गानि, अप्वे परेहि, अभिप्रेहि। निर्दहैषां हृदयानि शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा संसेव्यन्ताम् ॥ ११ । ३१ ॥

'अप्वा' की व्याख्या ४०४ पृ० पर कर आये हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अप्वे) हे भीति ! (अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती) तू इन शत्रुओं में से प्रत्येक के चित्त को लुभाने वाली बन कर, (अङ्गानि गृहाण) उनके अङ्ग २ को पकड़ ले, (परेहि) दूर तक उन्हें प्राप्त कर, (अभिप्रेहि) और उन के सन्मुख उग्र रूप में प्राप्त रह। (शोकैः हृत्सु निर्दह) हे भीति ! तू उनके हृदय अनेक प्रकार के शोकों से दग्ध कर दे, (अमित्राः अन्धेन तमसा सचन्ताम्) जिस से कि वे शत्रु लोग अन्धकारमय अज्ञान के कारण, अर्थात् सब प्रकार से किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर, हमारे वशवर्ती हों।

हृत्सु = हृदयानि। सचन्ताम् = संसेव्यन्ताम् ॥ ११ । ३१ ॥
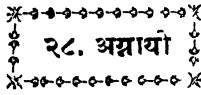
२८. अग्नायी　　अग्नायी, अग्नेः पत्नी । तस्या एषा भवति—

इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये ।
अग्नायीं सोमपीतये ॥ १.२२.१२

इति सा निगदव्याख्याता ॥ १२ । ३२ ॥

अग्नायी = अग्नेः पत्नी = अग्नि-सहचारिणी तेजस्विता और दाहकता । 'अग्नि' से 'ङीप्' और ऐकारादेश (पा० ४.१.३७.) । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(स्वस्तये स्तोमपीतये) मैं स्वस्ति के लिये, और ऐश्वर्य-पान के लिये (इह इन्द्राणीं वरुणानीं अग्नायी) यहां वायु-सहचारिणी जीवन-शक्ति, और जल-सहचारिणी शान्ति तथा मधुरता की शक्ति से युक्त अग्नि-सहचारिणी तेजस्विता या दाहकता आदि को (उपह्वये) अपने पास बुलाता हूं, अर्थात् उसे ग्रहण करता हूं ।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि हम अग्नि की तेजस्विता और दाहकता को जीवनप्रद, शान्तिप्रद, और मधुरता-युक्त बनाते हुए, उस से लाभ ग्रहण करें ।

यहां सर्वत्र पत्नी का अर्थ तत्सहचारिणी शक्ति है । पाठक 'पत्नी' शब्द को देख कर बड़े भ्रान्त हो जाते हैं । वे प्रायः समझा करते हैं कि 'पत्नी' शब्द से मनुष्य-स्त्री का ही वर्णन है । उन्हें यास्क का यह प्रकरण ध्यान में रखना चाहिए । इसीप्रकार ३५३ पृ० पर भी यास्क ने 'पत्नी' का अर्थ 'आप्' किया है ।

ऋषि दयानन्द भी इसी यास्क-पक्ष के पोषक हैं । वे उपर्युक्त मंत्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं "इन्द्राणीम् इन्द्रस्य सूर्यस्य वायोर्वा शक्तिम्, वरुणानीम् यथा वरुणस्य जलस्येयं शान्तिमाधुर्य्यादिगुणयुक्ता शक्तिस्तथाभूताम्, अग्नायीम् यथाऽग्नेरियं ज्वालास्ति तादृशीम्" ॥ १२ । ३२ ॥

* चतुर्थ पाद *
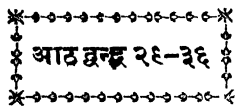
आठ द्वन्द्व २९–३६　　अथातो अष्टौ द्वन्द्वानि ॥ १ । ३३ ॥

अब, यहां से आठ द्वन्द्वों की व्याख्या की जाती है । वे आठ द्वन्द्व ये हैं— उलूखलमुसले, हविर्धाने, द्यावापृथिव्यौ, विपाट्छुतुद्र्यौ, आर्त्नी, शुनासीरौ, देवी जोष्ट्री, और देवी ऊर्जाहुती ॥ १ । ३३ ॥

२९. उलूखलमुसले

उलूखलमुसले, उलूखलं व्याख्यातम्, मुसलं मुहुः सरम्। तयोरेषा भवति—

आयजी वाजसातमा ता ह्युच्चा विजर्भृतः।
हरी इवान्धांसि बप्सता ॥ १. २८. ७

आयष्टव्ये, अन्नानां सम्भक्ततमे, ते ह्युच्चैर्विह्रियेते, हरी इवान्नानि भुञ्जाने ॥ २ । ३४ ॥

उलूखल की व्याख्या ५८२ पृ० पर कर आये हैं। मुसल बारबार ऊपर नीचे चलता है, मुहुः सर—मूसर—मूसल। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(आयजी) प्रत्येक गृहस्थ के लिये प्राप्तव्य (वाजसातमा) और संस्कृत अन्नों के देने वाले उलूखल मुसल (हरी इव) अपवित्रता को हरने वाली सूर्यरश्मियों की तरह (अन्धांसि बप्सता) अन्नों को संस्कृत करने के लिये, उन्हें खाते हैं। (ता हि उच्चा विजर्भृतः) और एवं, वे उलूखल मुसल बहुत अधिक व्यवहृत किए जाते हैं।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि जिसप्रकार सूर्यकिरणें रस का भक्षण करके उसे शुद्ध करती हैं, उसीप्रकार ये उलूखल मुसल अन्नों को कूट कर उन्हें संस्कृत करते हैं।

आयजी = आयष्टव्ये = प्राप्तव्ये। उच्चा = उच्चैः। विजर्भृतः = विह्रियेते ॥२।३४॥

३०. हविर्धाने

हविर्धाने हविषां निधाने। तयोरेषा भवति—

आ वामुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः।
इहाद्य सोमपीतये ॥ २. ४१. २१

आसीदन्तु वामुपस्थमुपस्थानम्, अद्रोग्धव्ये इति वा, यज्ञिया देवा यज्ञसंपादिन इहाद्य सोमपानाय ॥ २ । ३५ ॥

अनुक्रमणिकाकार शौनक ऋ० २ मण्डल ४१ सूक्त के १९, २० और २१, इन तीन मंत्रों का देवता 'हविर्धाने' या 'द्यावापृथिव्यौ' मानता है। परन्तु यास्काचार्य इस से सहमत नहीं। वे 'द्यावा नः पृथिवी' इस २० वें मंत्र का देवता 'द्यावापृथिव्यौ' और 'आवामुपस्थम्' आदि २१ वें मंत्र का 'हविर्धाने' मानते हैं। संभवतः, ऐसा मानने में हेतु यह है कि 'द्यावा नः पृथिवी' मंत्र में तो 'द्यावापृथिवी' वचन स्पष्टतया उल्लिखित है, और 'आवामुपस्थम्' में बतलाया है कि इस देवता के पास यज्ञिय लोग सोमपान के लिये आते हैं। अतः, वह देवता अवश्यमेव हवियों को धारण करने वाला होना चाहिये। इसलिये, इस मंत्र का देवता 'हविर्धाने' माना गया।

अब, मंत्रार्थ देखिये—(वां उपस्थं) हे ज्ञान–हवि को धारण करने वाले अध्यापक स्त्रीपुरुषो! (सोमपीतये) वेदामृत के पान के लिये (अद्रुहः यज्ञियाः देवाः) गुरुजनों से द्रोह न करने वाले और ब्रह्म–यज्ञ के योग्य श्रेष्ठ ब्रह्मचारी (अद्य इह) आज यहां इस गुरुकुल में (वां उपस्थं आसीदन्तु) आप के समीप आस्थित हों।

अथवा, यथापठित 'अद्रुहा' पदच्छेद करने से इसका अर्थ 'अद्रोग्धव्ये' होगा, जो कि 'हविर्धाने, का विशेषण है। अर्थात्, वे अध्यापक स्त्रीपुरुष किसी भी काल में द्रोह करने के योग्य नहीं, उन के साथ विद्यार्थियों को कभी भी द्रोह न करना चाहिये (देखिए ११० पृ०)। 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' इस मनुवचन में अध्यापन को ब्रह्मयज्ञ बतलाया है ॥ ३ । ३५ ॥

३१. द्यावापृथिव्यौ

द्यावापृथिव्यौ व्याख्याते। तयोरेषा भवति—

द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्।
यज्ञं देवेषु यच्छताम् ॥ २. ४१. २०

द्यावापृथिव्यौ न इमं साधनमद्य दिविस्पृशं यज्ञं देवेषु नियच्छताम् ॥ ४ । ३६ ॥

'द्यावापृथिवी' की व्याख्या १४६, ५९, और २८३ पृष्ठों पर कर आये हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(नः द्यावापृथिवी) हमारे अध्यापक स्त्रीपुरुष (इमं सिध्रं दिविस्पृशं यज्ञं) इस उत्तम जीवन के साधन, और देदीप्यमान सत्यज्ञान से संयुक्त करने वाले ब्रह्मयज्ञ को (अद्य देवेषु यच्छताम्) आज श्रेष्ठ ब्रह्मचारिओं में नियत करें, स्थापित करें।

सिध्र=साधन। यच्छताम्=नियच्छताम्=नियत करें। देव=ब्रह्मचारी (२०२ पृ०) ॥ ४ । ३६ ॥

३२. विपाट्छुतुद्र्यौ

विपाट्छुतुद्र्यौ व्याख्याते। तयोरेषा भवति—

प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने। गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥ ३. ३३. १

पर्वतानामुपस्थादुपस्थानाद् उशत्यौ कामयमाने अश्वे इव विमुक्ते इति वा, विषण्णे इति वा। हासमाने हासति स्पर्द्धायां, हर्षमाणे वा। गावाविव शुभ्रे शोभने मातरौ संरिहाणे विपाट्छुतुद्र्यौ पयसा प्रजवेते ॥ ५ । ३७ ॥

विपाट् और शुतुद्री की व्याख्या ५९० और ५९१ पृ० पर कर आये हैं। वहां ये शब्द नाड़िओं के वाचक हैं, यहां नदी अर्थ वाले हैं। जिन नदिओं का स्वभाव तटवर्ती प्रदेशों का उखाड़ना है, उन्हें विपाट्, और जो बड़े वेग के साथ बहती हैं, उन्हें शुतुद्री कहा जाता है।

अब, मंत्रार्थ देखिए—(गावा इव शुभ्रे) गौओं के समान अमृत जल को देने के कारण शोभन, (रिहाणे) और मार्गवर्ती सभी ओषधि वनस्पतिओं का आस्वादन करने वाली (विपाट्छुतुद्री मातरा) ये तट-भंजक और आशुद्राविणी नदियें (उशती)समुद्र-गमन की इच्छा रखती हुईं, (विषिते हासमाने अश्वे इव) घुड़साल से छोड़ी हुईं या ताड़ित की हुईं परस्पर में स्पर्धमान या हर्षमाण घोड़िओं की तरह (पर्वतानाम् उपस्थात्) पर्वतों के प्रदेश से निकल कर (पयसा प्रजवेते) जल के साथ बड़े वेग से दौड़ती हैं।

एवं, इस मंत्र में नदिओं का वर्णन बड़े उत्तम शब्दों में किया गया है।

विषित = विमुक्त, विषण्ण। एवं, यहां 'वि' पूर्वक 'षिञ्' बन्धने, या 'वि' पूर्वक हिंसार्थक 'षद्' धातु से 'विषित' की सिद्धि की गई है। **हासमान** = स्पर्धमान, हर्षमाण। यहां 'हास' धातु स्पर्धा और हर्ष, दोनों अर्थों में मानी गई है। शुभ्र—शोभन। 'भाप्र' शब्द नदीवाचक निघण्टुपठित है॥ ५। ३७॥

३३. आर्त्नी आर्त्नी अर्त्तन्यौ वा, अरण्यौ वा, आरिषण्यौ वा। तयोरेषा भवति—

ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे। अप शत्रून् विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान्॥ ६.७५.४

ते आचरन्त्यौ समनसाविव योषे, मातेव पुत्रं बिभृतामुपस्थे उपस्थाने, अपविध्यतां शत्रून्त्संविदाने आर्त्न्याविमे विघ्नत्यावमित्रान्॥ ६। ३८॥

आर्त्नी = धनुष्कोटियें। (क) ये गति करने वाली हैं। खींचने पर आपस में मिलती हैं, और फिर दूर हट जाती हैं। गत्यर्थक नैरुक्त 'ऋत' धातु से 'निञ्' प्रत्यय और 'ङीष्'। (ख) 'ऋ' गतौ + निञ् + ङीष्—आर्नी—आर्त्नी। (ग) अथवा, ये धनुष्कोटियें हिंसा करने की साधन हैं, आ + रिष् + निञ् + ङीष्—आरिषनी—आर्ष्नी—आर्त्नी।

अब, मंत्रार्थ देखिए— (ते आर्त्नी) वे धनुष्कोटियें, (समना योषा इव आचरन्ती) जैसे समान मन वाली पत्नियें अपने पतियों के अनुकूल आचरण करती हैं, वैसे धनुर्धारी की इच्छानुकूल आचरण करती हुईं, (माता इव पुत्रं) जैसे माता अपने पुत्र को गोद में लेती है, वैसे बाण को (उपस्थे बिभृतां) अपने समीप मध्य में धारण करें (शत्रून् अपविध्यताम्) और उस से शत्रुओं को वींधे। (इमे संविदाने अमित्रान् विस्फुरन्ती) एवं, ये धनुष्कोटियें एकमत होकर हमारे शत्रुओं को नाश करने वाली हों।

योषा = योषे। विस्फुरन्ती = विघ्नत्यौ॥ ६। ३८॥

३४. शुनासीरौ

शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे, सीर आदित्यः सरणात् । तयोरेषा भवति—

शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः ।
तेनेमामुपसिञ्चतम् ॥ ४. ५७. ५

इति सा निगदव्याख्याता ॥ ७ । ३६ ॥

शुनासीरौ = वाय्वादित्यौ । शुन = वायु, यह अन्तरिक्ष में शीघ्रता से चलती है, 'शु' पूर्वक निघण्टुपठित गत्यर्थक 'नु' धातु से 'ड' प्रत्यय । अथवा, 'शुन' गतौ धातु से 'क' प्रत्यय (पा० ३. १. १३५) । सीर = आदित्य, यह गति करता है, 'सृ' गतौ + ईरन् और टिलोप (उणा० ४. ३०) । द्वन्द्व के प्रसङ्ग से 'शुनासीरौ' पृथिवीस्थान में पढ़ा गया है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(शुनासीरौ इमां वाचं जुषेथां) हे वायु और आदित्य ! तुम दोनों हमारी इस प्रार्थना-वाणी का सेवन करो, (यत् दिवि पयः चक्रथुः) कि जो तुम अन्तरिक्ष में जल का निर्माण करते हो, (तेन इमां उपसिञ्चतम्) उस से हमारी इस कृषि को सिंचित करो ॥ ७ । ३९ ॥

३५. देवीजोष्ट्री

देवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ, द्यावापृथिव्याविति वा, अहोरात्रे इति वा । सस्यञ्च समा चेति कात्थक्यः । तयोरेष सम्प्रैषो भवति—

देवीजोष्ट्री वसुधिती ययोरन्याऽघा द्वेषांसि यूयवदान्या वक्षद्वसु वार्याणि यजमानाय वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ यजु० २८. १५

देवी जोष्ट्री देव्यौ जोषयित्र्यौ, वसुधिती वसुधान्यौ, ययोरन्याऽघानि द्वेषांस्यवयावयति, आवहत्यन्या वसूनि वननीयानि यजमानाय, वसुवननीयाय च वसुधानाय च । वीतां पिबेतां कामयेतां वा । यजेति सम्प्रैषः ॥ ८ । ४० ॥

देवी जोष्ट्री = देव्यौ जोषयित्र्यौ = मनुष्यों को तृप्त करने वाले और सुख प्रदाता। वे, सूर्य और पृथिवी, या दिन और रात हैं। परन्तु कात्थक्य इस का अर्थ पक्व खेती और संवत्सर करता है। जुष+ष्ट्रन् (उणा० ४. १५९)। सस्य और धान्य आदि के भेद को समझने के लिये यह वचन देखिये—**"सस्यं क्षेत्रगतं प्रोक्तं सतुषं धान्यमुच्यते। निस्तुषस्तण्डुलः प्रोक्तः स्विन्नमन्नमुदाहृतम्॥" "वृक्षादीनां फलं सस्यम्……आमे फले शलाटु स्यात्॥"**

'देवी जोष्ट्री वसुधिती' आदि मंत्र कुछ पाठभेद के साथ यजुर्वेद में पठित है। परन्तु ऋग्वेद के प्रैषाध्याय में २५ वां मंत्र यही है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(वसुधिती) धन धान्य को धारण करने वाले (देवी जोष्ट्री) सूर्य और पृथिवी दिन और रात, या पक्व खेती और संवत्सर, (ययोः अन्या अघा द्वेषांसि यूयवत्) जिन में से एक सूर्य हानिकारक रोगादि शत्रुओं को दूर करता है, दिन पापी चोर आदिकों को हटाता है, और पक्व खेती हानिकारक दुष्काल आदि का निवारण करती है, (अन्या यजमानाय) और दूसरी, पृथिवी रात्रि या समा, यजमान गृहस्थ के अर्थ (वसुवने वसुधेयस्य) धन-भोग के लिए और धन के संग्रह के लिये (वार्याणि वसु) उत्तमोत्तम पदार्थों को (आवक्षत्) पहुंचाती है, (वीतां) वे दोनों धनों को पीवें, अर्थात् धन धान्य से परिपूर्ण हों, अथवा पूर्ण धन की कामना करें। (यज) हे गृहस्थ ! तू उस वसु से यज्ञ कर। अर्थात्, यज्ञ के लिये ही धनों की उत्पत्ति है।

वसुधिति = वसुधानी। वार्य = वननीय = वरणीय। वसुवने = वसुवननाय, वसुधेयस्य = वसुधेयाय = वसुधानाय। 'वीताम्' में 'वी' धातु पीने तथा कामना अर्थ में प्रयुक्त है। 'यज' यह संप्रैष अर्थात् विधि-वचन है॥ ८। ४०॥

३६. देवी ऊर्जाहुती

देवी ऊर्जाहुती देव्या ऊर्जाहान्यौ। द्यावापृथिव्याविति वा, अहोरात्रे इति वा, सस्यञ्च समा चेति कात्थक्यः। तयोरेष सम्प्रैषो भवति—

देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्यावक्षत्सग्धिं सपीतिमन्या, नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम पुराणेन नवं, तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज॥ यजु० ८. १६

देवी ऊर्जाहुती देव्या ऊर्जाह्वान्यावन्नं च रसं चावहत्यन्या, सहजग्धिं च सहपीतिं चान्या । नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम, पुराणेन नवम् । तामूर्जमूर्जाहुती ऊर्जयमाने अधातां वसुवननाय च वसुधानाय च । वीतां पिबेतां, कामयेतां वा । यजेति सम्प्रैषः ॥ ९ । ४१ ॥

देवी ऊर्जाहुती = देव्यौ ऊर्जाह्वान्यौ = अन्नरस के (बुलाने वाले) प्रापक और सुखप्रदाता । वे, सूर्य और पृथिवी, या दिन और रात है । कात्थक्य इसका अर्थ पक्ष खेती और संवत्सर करता है । ऊर्जाम् आहुतिरिति ऊर्जाहुतिः, ते ऊर्जाहुती।

यह मंत्र भी यजुर्वेद में कुछ पाठभेद के साथ पाया जाता है, परन्तु ऋग्वेद के प्रैषाध्याय का २६ वां मंत्र यही है । अब मंत्रार्थ देखिये—

(देवी ऊर्जाहुती) सुखप्रदाता तथा अन्नरस के प्रापक सूर्य और पृथिवी, (अन्यां इषं ऊर्जं आवक्षत्) जिन में से एक सूर्य अन्न रस को पहुंचाता है, (अन्या सग्धिं सपीतिं) और दूसरी भूमि, समान भोजन और समान पान को देती है, (नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम) जिस नवीन समान भोजन और समान पान के साथ २ हम पुराने अन्न रस की रक्षा करने वाले होते हैं, (पुराणेन नवं) और पुराने अन्न रस के साथ २ नये अन्न रस की रक्षा करते हैं, (ऊर्जाहुती तां ऊर्जं ऊर्जयमाने) अन्न–रस–प्रापक सूर्य और पृथिवी, उस अन्न रस को बलप्रद बनाते हुए (अधातां) धारण करें, (वसुवने वसुधेयस्य) और वसु के भोग के लिए तथा वसु के संग्रह के लिये (वीतां) धन धान्य से परिपूर्ण हों, या पूर्ण धन की कामना करें । (यज) हे गृहस्थ ! तू यज्ञ कर । अर्थात्, यज्ञ के लिये ही ये अन्न रस बनाये गये हैं ।

यहां 'सग्धिं सपीतिं' का यह अभिप्राय है कि भूमि इतना पुष्कल अन्न रस उत्पन्न करे कि अमीर और गरीब तथा पशु और पक्षी, सभी प्राणी पेट भर खा और पी सकें । एवं, 'नवेन पूर्वम्' आदि से विदित होता है मनुष्यों को अन्न का निरादर किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिये, और नाही पुराने अन्न रस के होने पर नये अन्न रस के पैदा करने में पुरुषार्थहीन होना चाहिए ।

इष् = अन्न, ऊर्ज् = रस ॥ ९ ॥ ४१ ।

दशम अध्याय

* प्रथम पाद *

अथातो मध्यस्थाना देवताः ॥ १ ॥

अब, यहां से मध्यमस्थानीय—अन्तरिक्षस्थानीय—देवताओं की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है ॥ १ ॥

१. वायु

तासां वायुः प्रथमागामी भवति। वायुर्वातेः, वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः। एतेरिति स्थौलाष्ठीविः, अनर्थको वकारः। तस्यैषा भवति—

वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ १. २. १

वायो आयाहि। दर्शनीय इमे सोमा अरङ्कृता अलंकृताः, तेषां पिब। शृणु नो ह्वानमिति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् ॥२॥

उन अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं में 'वायु' प्रथमागामी है। वायु—गत्यर्थक 'वा' या 'वी' धातु से 'उण्' प्रत्यय (उणा० १.१)। स्थौलाष्ठीवि निरुक्तकार कहता है कि वायु 'इण्' गतौ धातु से 'उण्' (उणा० १.२) करने पर सिद्ध होता है, और वकार का आगम है, आयु—वायु। इसीलिये यास्काचार्य ने ५६२ पृ० पर 'आयु' का अर्थ 'वायु' किया है। वायु गतिशील है, और दूसरों को भी गति देने वाली है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(दर्शत वायो ! आयाहि) हे दर्शनीय-अद्भुत-वायु ! तू सर्वत्र संचरण करती है, (इमे सोमाः अरङ्कृताः) तूने ये सब रस पदार्थ अलंकृत किए हुए हैं, (तेषां पिब) तू आहरण के द्वारा उन रसों का पान करती है, (नः ह्वानं श्रुधि) और तू ही हमें शब्द को सुनाती है।

शब्द का उच्चारण या श्रवण वायु के बिना नहीं हो सकता, इस विज्ञान का प्रतिपादक यह मंत्र है।

प्रत्यक्षकृत वर्णन होने से यहां मध्यम पुरुष का प्रयोग है। और, श्रुधि = शृणु, यहां अन्तर्भावित णिच् है। दर्शत = दर्शनीय। हव = ह्वान = शब्द। एवं, यह मंत्र मध्यमस्थानीय वायु के बिना अन्य किस को इसप्रकार शब्द-श्रावण के विषय में कह सकता है॥ २॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

आसस्राणासः शवसानमच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः।
अभि श्रव ऋज्यन्तो वहेयुर्नू चिन्नु वायोरमृतं विदस्येत्॥ ६.३७.३

आसस्रांसोऽभिबलायमानमिन्द्रं कल्याणचक्रे रथे योगाय, रथ्या अश्वा रथस्य वोढारः, ऋज्यन्त ऋजुगामिनः, अन्नमभिवहेयुर्नवं च पुराणं च। श्रव इत्यन्ननाम, श्रूयत इति सतः। वायोश्चास्य भक्षो यथा न विदस्येदिति। इन्द्रप्रधानेत्येके, नैघण्टुकं वायुकर्म, उभयप्रधानेत्यपरम्॥ ३॥

वायु सोमपान करता है, इसको प्रदर्शित करने वाली 'आसस्राणासः' आदि दूसरी ऋचा और दी जाती है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(आसस्राणासः) सर्वत्र निरन्तर गति करने वाली (सुचक्रे रथ्यासः ऋज्यन्तः अश्वाः) शोभन चक्र वाले सूर्य-रथ में जुड़ी हुई ऋजुगामिनी किरणें (शवसानं इन्द्रं अच्छ) बलसंपन्न सूर्य की ओर, अर्थात् ऊपर की ओर (नूचित् श्रवः अभिवहेयुः) नये और पुराने रस को आकर्षण के द्वारा ले जावें, (वायोः अमृतं नु विदस्येत्) जिस से कि इस वायु का रसपान क्षीण न हो।

एवं, इस मंत्र में दर्शाया गया है कि वायुमण्डल की वायु अपने में जो जल को धारण करती है, उस में सहायक सूर्य है। सूर्य के बिना यह वायु जल-संयुक्त नहीं हो सकती।

शवसानं = अभिबलायमानं। ऋज्यन्तः = ऋजुगामिनः। श्रवस् = अन्न, क्योंकि यह सर्वत्र प्रख्यात है, श्रु + असुन्। वायु का अन्न रस है, अतः यहां 'श्रवस्' से रस ही अभिप्रेत है। अतएव मंत्र में भी जलवाची 'अमृत' शब्द पठित है। और, अन्न के ही प्रसङ्ग से यास्क ने 'भक्ष' का प्रयोग किया है। नूचित् = नवं च पुराणं च। नु—न। एवं, यहां 'नु' को निषेधार्थक माना है।

कई आचार्य कहते हैं कि यह ऋचा मुख्यतया इन्द्रदेवताक है, वायु का वर्णन गौण है। परन्तु, दूसरों का मत है कि इन्द्र और वायु, दोनों देवता मुख्य हैं॥ ३॥
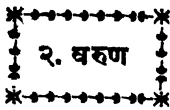
२. वरुण

वरुणो वृणोतीति सतः। तस्यैषा भवति—

नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम॥ ५. ८५.३

नीचीनद्वारं वरुणः कबन्धं मेघम्। कवनमुदकं भवति, तदस्मिन्धीयते। उदकमपि कबन्धमुच्यते, बन्धिरनिभृतत्वे, कम् अनिभृतं च। प्रसृजति द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन। तेन सर्वस्य भुवनस्य राजा यवमिव वृष्टिर्व्युनत्ति भूमिम्॥४॥

वरुण=वृष्टिकारक वायु, वृणोति आच्छादयति अन्तरिक्षमिति वरुणः, वृञ्+उनन्। (उणा० ३.५३) मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(वरुणः नीचीनवारं कबन्धं) वरुण वायु नीचे द्वार वाले मेघ को (रोदसी अन्तरिक्षं प्रससर्ज) अन्तरिक्ष और पृथिवी की ओर, तथा विशेषतया अन्तरिक्ष की ओर उत्पन्न करता है। (तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा) उस से यह वरुण सब ओषधि वनस्पतिओं और प्राणिओं का राजा है, क्योंकि (यवं न) जैसे कोई कृषक फूलने और फलने के लिए यव आदि को जल से सींचता है, वैसे (वृष्टिः भूम व्युनत्ति) इसके कारण उत्पन्न वृष्टि, संपूर्ण भूमि को तर करती है।

वार=द्वार। कबन्ध—(क) मेघ, क्योंकि 'कवन' का अर्थ मेघ है, वह इस में निहित किया जाता है, कवन+धा+कवनध=कबन्ध। (ख) जल, क+बन्ध। जल (क) सुखकारी और (बन्ध) दृश्य होता है। यहां 'बन्ध' धातु दर्शनार्थक है, निभृत=गुप्त, अदृश्य। भूम=भूमिम्॥ ४॥

तस्यैषाऽपरा (८. ४१. १) भवति—

तमू षु समना गिरा पितॄणां च मन्मभिः। नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे॥

तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा गीत्या, स्तुत्या पितॄणां च मननीयैः स्तोमैः, नाभाकस्य प्रशस्तिभिः। ऋषिर्नाभाको बभूव।

यः स्यन्दमानानामासामुपोदये, सप्तस्वसारमेनमाह वाग्भिः। स मध्यम इति निरुच्यते, अथैष एव भवति। नभन्तामन्यके समे, मा भूवन्नन्यके सर्वे, यो नो द्विषन्ति दुर्धियः पापधियः पापसंकल्पाः ॥ ५ ॥

(तं समना गिरा) मैं समानभाव से विद्यमान रहने वाली वेदवाणी से, (पितॄणां च मन्मभिः) गुरुजनों के मननीय शास्त्रों से, (नाभाकस्य प्रशस्तिभिः) और योगिजनों के जीवनचरित्रों से (तं सु) उस प्राण वायु की साधुतया स्तुति करता हूं, अर्थात् प्राण की महिमा को भलीप्रकार जानता हूं। (यः सिन्धूनां उपोदये सप्तस्वसा) जो प्राणवायु बहने वाली नाड़िओं के उद्गम-स्थान नाभि-कन्द में सात भगिनियों से युक्त होता है। (सः मध्यमः) वह प्राणवायु शरीरान्तःसंचारी और अन्तरिक्षवर्ती है। (समे अन्यके न भन्ताम्) उस प्राणवायु के अभ्यास से हमारे सब बुरे संकल्प न रहें।

नाभि-कन्द ही सब नाड़िओं का उद्गम स्थान है (५८८) और वहीं से प्राणवायु के साहाय्य से सातों विभक्तिओं की उत्पत्ति होती है। वे सात विभक्तियें प्राणवायु की सात भगिनियें हैं (देखिए ३६९ पृ०)।

समना = समानया। मन्मन् = मननीय स्तोम। (स्तोम = शास्त्र)। नाभाक = परमात्म-द्रष्टा योगी। भातीति भः, न भः अभः, न अभः नाभः, नाभ एव नाभाकः (१३८)। 'बभूव' के आशय को समझने के लिये १५७ पृ० देखिये। सु = स्वभिष्टौमि, यहां क्रिया के अभाव से 'सु' उपसर्ग के संबन्ध से योग्य क्रिया का अध्याहार किया है। सिन्धूनां = स्यन्दमानानामपाम्। (स मध्यम इति निरुच्यते०) यहां वरुण को मध्यम कहा गया है, सो यही प्राणवायु है। न भन्ताम् = मा भूवन्। अन्यक = शत्रु = बुरे संकल्प, जो कि हमारे से द्वेष करते हैं, हमारा अनिष्ट करते हैं। 'अन्य' का निर्वचन ३७ पृ० पर देखें ॥ ५ ॥

३. रुद्र
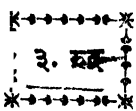
रुद्रो रौतीति सतः, रोरूयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा। 'यदरुदत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति काठकम्। 'यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति हारिद्रविकम्। तस्यैषा भवति—

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने। अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥ ७. ४६.१

इमा रुद्राय दृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवायाश्रवतेऽषाढायान्यैः सहमानाय विधात्रे तिग्मायुधाय भरत। शृणोतु नः। तिग्मन्तेजतेरुत्साहकर्मणः। आयुधमायोधनात्॥ ६॥

रुद्र = मेघ–गर्जन का हेतु वायु और प्राण अपान आदि ११ रुद्र। (क) रौति शब्दायते इति रुद्रः, 'रु' शब्दे से 'रक्' प्रत्यय और तुगागम। (ख) रोरूयमाणो द्रवति गच्छतीति रुद्रः, 'रु' शब्दे + 'द्रु' गतौ + ड, यह देर तक मेघ–गर्जन करता हुआ चलता है। (ग) जब ये प्राणादि किसी शरीर में से निकलते हैं, तब उसके संबन्धियों को रुलाते हैं, अतः रोदन कराने से ये रुद्र हैं। रोदयतीति रुद्रः, रुदिर् + णिच् + रक् (उणा० २.२२) 'णि' का लुक्। (घ) रोदितीति रुद्रः, रोने के कारण भी वायु को रुद्र कहते हैं। इस निर्वचन का पुष्टि में आचार्य ने कठ और हरिद्रव शाखाओं के वचन दिये हैं। कठ शाखा में लिखा है—"स किल पितरं प्रजापतिमिषुणा विध्यन्तमनुशोचन्नरुदत्, तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्।" वायु ने मेघ का निर्माण किया, परन्तु उसे वायु के पिता प्रजापति सूर्य ने अपने रश्मि–बाणों से बींध दिया। उसे देखकर वायु ने बड़ा शोक किया और खूब रोया। एवं, जो वृष्टि होने लगी, मानो कि वह उसके आंसू हैं।

अब, मंत्रार्थ देखिए—(स्थिरधन्वने) हे मनुष्यो! जिस का दृढ़ धनुष परिपक्व मेघ है, (क्षिप्रेषवे) और वृष्टि–धारा जिस के शीघ्रगामी बाण हैं, (देवाय, स्वधाव्ने) जो जल को देने वाला है, और जल से संयुक्त है अर्थात् तर हवा के रूप में विद्यमान है, (अषाढ़ाय, सहमानाय) जो अन्यों से अजेय है परन्तु दूसरों को जीतने वाला है, (वेधसे तिग्मायुधाय) जो वृष्टि का कर्ता है और विद्युत् रूपी तीक्ष्ण आयुध से युक्त है, (रुद्राय) उस रुद्र की (गिरः भरत) विद्या को तुम लोग धारण करो। (नः शृणोतु) एवं, तुम्हारे में से प्रत्येक मनुष्य हमारे (विद्वानों के) आदेशों को सुने।

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिः...............वर्षमिषवः (अथर्व० ३. २७. ६) में वर्षा को इषु बतलाया है। स्वधाव्ने = अन्नवते। तिग्म = तीक्ष्ण, उत्साहप्रद। उत्साहार्थक 'तिज' धातु से 'मक्' प्रत्यय (उणा० १. १४६)। तेज शस्त्र के प्रयोग से योद्धा को बड़ा उत्साह मिलता है, बुरे शस्त्र से हतोत्साह हो जाया करता है।

भाषा का 'तेज' शब्द 'तिज' धातु का ही रूप है आयुध—इस के साहाय्य से योद्धा युद्ध करता है, आ+युध्+क ॥ ६ ॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः ॥ ७.४६.३

या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि दिवोऽधि। दिद्युद् द्यतेर्वा, द्युतेर्वा, द्योततेर्वा। क्ष्मया चरति, क्ष्मा पृथिवी तस्यां चरति, तया चरति, विक्ष्मापयन्ती चरतीति वा। परिवृणक्तु नः सा। सहस्रं ते स्वाप्तवचन! भैषज्यानि। मा नस्त्वं पुत्रेषु च पौत्रेषु च रीरिषः। तोकं तुद्यतेः। तनयं तनोतेः ॥ ७ ॥

उस रुद्र वायु की पुष्टि में उसी सूक्त का एक मंत्र और दिया है, जिसका अर्थ यह है—

(या ते दिवस्परि अवसृष्टा दिद्युत्) हे रुद्र वायु! जो तेरा अन्तरिक्ष से फेंका हुआ अशनि-वज्र (क्ष्मया चरति) पृथिवी पर गिरता है, पृथिवी के साथ संयुक्त होता है, या कम्पायमान करता हुआ चलता है, (सा नः परिवृणक्तु) वह वज्र हम को छोड़ देवे। (स्वपिवात) हे मेघ-गर्जन का शब्द करने वाले रुद्र! (ते सहस्रं भेषजा) तेरे बहुत भैषज्यमय जल हैं, (नः तोकेषु तनयेषु मा रीरिषः) उन औषध-जलों को न देकर तू हमारे पुत्र और पौत्रों में किसीप्रकार का बिगाड़ मत कर।

दिवस्परि = दिवोऽधि = दिवः सकाशात्। परि = अधि। दिद्युत् = वज्र। (क) यह खण्डन करता है, 'दो' अवखण्डने से 'क्विप्' द्वित्व और उकार का आगम, 'द्यति स्यति' (पा० ७.४.४०) से 'ओ' को 'इ'। दि दि उ क्विप्—दिद्युत्। (ख) इसे छोड़ा जाता है, फेंका जाता है। 'द्यु' अभिगमने से क्विप् और द्वित्व। (ग) वज्र तेजस्वी होता है, 'द्युत' से क्विप् और द्वित्व (पा० ३.२.१७८ वा०)। क्ष्मया—पृथिव्या, पृथिव्यां, विक्ष्मापयन्ती। 'क्ष्मा' पृथिवीवाची है। अथवा, 'क्ष्मायी' विधूनने से 'घ' प्रत्यय, ह्रस्व और 'टाप्'। स्वपिवात = स्वाप्तवचन, स्वाप्तं प्राप्तं वचनं मेघगर्जनं येन सः। वात = वचन। निघण्टु में 'भेषज' जलवाची पठित है। तोक = पुत्र, यतः इसे बुरे काम से बारबार टोका

आता है, 'तुद्' व्यथने + घ—तोद—व्यथक, तनय = पौत्र, यह कुल का विस्तार करता है, तनु + कयन् (उणा० ४.९९) ॥ ७ ॥

अग्निरपि रुद्र उच्यते । तस्यैषा भवति—

जराबोध तद्विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ १. २७. १०

जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणस्तां बोध, तया बोधयितरिति वा । तद्विविड्ढि तत्कुरु मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय । स्तोमं रुद्राय दर्शनीयम् ॥ ८ ॥

अग्नि को भी 'रुद्र' कहा जाता है । यह रुत्–द्रावक, अर्थात् दुःखनाशक है, रुत् + द्रु + णिच् + ड = रुद्र । 'जराबोध' मंत्र का देवता अग्नि है, और उसके लिये 'रुद्र' शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(जराबोध !) हे स्तुतिपूर्वक प्रदीप्त होने वाली अग्नि ! (रुद्राय दृशीकं स्तोमं) तुझ रुद्र के लिये उत्तमोत्तम हवि दी जाती है, (विशे विशे यज्ञियाय) तू प्रत्येक मनुष्य के यज्ञ-संपादन के लिये (तत् विविड्ढि) उस यज्ञकर्म को सिद्ध कर ।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि यज्ञाग्नि ऐसे मंत्रों से प्रदीप्त करनी चाहिएं जिन में कि अग्नि के ही गुण वर्णित हों ।

'जराबोध' का दूसरा अर्थ 'जरां बोध' ऐसा भी होसकता है । अर्थात्, हे अग्नि ! तू अपने गुणों का प्रकाश कर । जराबोध = जरां बोध, जरया बोधयितः । विविड्ढि—कुरु, यहां 'विश्' धातु करणार्थक मानी गई है । विशे—मनुष्यस्य । यज्ञिय = यजन = यज्ञ करना, दृशीक = दर्शनीय ॥ ८ ॥

४. इन्द्र

इन्द्र इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा, इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा, इन्धे भूतानीति वा, "तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्" इति विज्ञायते, इदं

करणादित्याग्रयणः, [10] इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः, [11] इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः, [12] इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वनाम् । तस्यैषा भवति—

अदर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान्बद्बधानाँ अरम्णाः । महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव दानवं हन् ॥ ५.३२.१

अदृणा उत्सम् । उत्स उत्सरणाद्वा, उत्सदनाद्वा, उत्स्यन्दनाद्वा, उनत्तेर्वा । व्यसृजोऽस्य खानि । त्वमर्णवान् अर्णस्वतः एतान्माध्यमिकान् संस्त्यायान् वाबध्यमानान् अरम्णाः, रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा । महान्तमिन्द्र पर्वतं मेघं यद्व्यवृणोः । व्यसृजोऽस्य धारा अवहन्नेनं दानवं दानकर्माणम् ॥ ६ ॥

इन्द्र = विद्युत्, वायु, प्राण, जीवात्मा, सूर्य आदि । इस इन्द्र के १५ निर्वचन दिये गये हैं, जो कि इसप्रकार हैं—

(१) इरां दृणाति, विद्युत् जल को फाड़ती है, इराम् + 'दृ' विदारणे + अक्—इस् द्र—इन्द्र । बृहदारण्यकोपनिषद् ३.९. ६ में 'इन्द्र' का अर्थ 'अशनि' ही किया है । (२) इरां ददाति, विद्युत् जल को देती है, इराम् + दा + रक् (उणा० २.२८) —इस् द्र—इन्द्र । (३) इरां दधाति, विद्युत् जल को धारण करती है, इराम् + धा + रक् । (४) इरां दारयते, यहां चुरादिगणी 'दृ' विदारणे धातु से रूपसिद्धि की गई है । (५) इरां धारयते, यहां चुरादिगणी 'धृञ्' धारणे धातु गृहीत है । (६) इन्दवे द्रवति, विद्युत् जल की वृष्टि के लिये संचरण करती है, और सूर्य चन्द्रमा को प्रदीप्त करने के लिये सुषुम्णा रश्मि से जाता है । इन्दु = सोम = जल, चन्द्रमा । इन्दुद्रव—इन्द्र । (७) इन्दौ रमते, विद्युत् जल में रमण करती है और सूर्य चन्द्रमा में रमण करता है । इन्दुरम—इन्द्र । (८) इन्धे भूतानि, विद्युत् सब प्राणियों को प्रकाश देती है, इन्ध् + रक्, यहां कर्ता में प्रत्यय है ।

(९) इन्द्र का निर्वचन ब्राह्मण इसप्रकार करता है कि सो, क्योंकि इस मुख्य प्राण को विद्वानों ने इन्द्रियों के द्वारा तेजस्वी बनाया, अतः मुख्य प्राण का नाम 'इन्द्र' है । अथवा, यतः इस जीवात्मा को विद्वानों ने इन्द्रियों के द्वारा तेजस्वी बनाया, अतः जीवात्मा का नाम इन्द्र है । अर्थात्, प्राण या जीवात्मा

के कारण ही इन्द्रियों की अवस्थिति है, अतः इन इन्द्रियों को उनके स्वामी प्राण या जीवात्मा के आधीन रखते हुए, स्वामी की उन्नति करनी चाहिये। प्राणैः समैन्धन् एनमिति इन्द्रः, यहां 'इन्ध' से कर्म में 'रक्' प्रत्यय है।

(१०) इदं करोतीति इन्द्रः, यह निर्वचन आग्रयण करता है। इदंकर—इंदकर—इन्द्र, विद्युत् वृष्टि को करती है। (११) इदं पश्यतीति इन्द्रः, यह निर्वचन औपमन्यव करता है। इदं+दृश्+ड—इदंद्र—इंदद्र—इन्द्र। जीवात्मा जगद्द्रष्टा है। ऐ० ब्रा० २.४.१४ में यही निर्वचन करते हुए लिखा है—"तदिदन्द्रं सन्तमिन्द्रमित्याचक्षते परोक्षेण" (१२) 'इदि' परमैश्वर्ये+रक्, विद्युत् ऐश्वर्यवान् है। (१३) इन्दन् शत्रूणां दारयिता, इन्दू+दृ+अक्—इन्द्र, विद्युत् ऐश्वर्यवान् होती हुई वृत्र (मेघ) का विदारण करने वाली है। (१४) इन्दन् शत्रूणां द्रावयिता, इन्दू+द्रु+णिच्+ड—इन्द्र, विद्युत् ऐश्वर्यवान् होती हुई वृत्र को पिघलाने वाली है, बरसाने वाली है। (१५) इन्दन् यज्वनाम् आदरयिता, इन्दू+'दृङ्' आदरे+अक्—इन्द्र। विद्युत् ऐश्वर्यवान् होती हुई वृष्टि के द्वारा यज्ञकर्ताओं का आदर करती है।

एवं, इन्हीं निर्वचनों से इन्द्र के अर्थ सूर्य, परमेश्वर, ब्राह्मण, राजा, सेनापति आदि अनेक होते हैं।

अब, मंत्रार्थ देखिये—(इन्द्र ! उत्सं अदर्दः) हे मेघविदारक विद्युत् ! तू ऊपर मण्डलाने वाले या ऊपर रह कर भिगोने वाले मेघ का विदारण करती है, (खानि व्यसृजः) उसके द्वारों को बनाती है, (त्वं बद्बधानान् अर्णवान् अरम्णाः) और बारबार ताड़ित हुए जलपूर्ण मेघों को बरसाता है, (यत् दानवं मेघं विवः) जब कि तूने उदकदाता महान् मेघ को खोला, (अवाहन् धाराः विसृजः) और उसको मार कर वृष्टि—धाराओं का निर्माण किया।

एवं, इस मंत्र में अलङ्कार रूप से वृष्टि का वर्णन किया है कि मेघ—शत्रु ऊपर अन्तरिक्ष में मण्डला रहा है, उसे बाहर निकालने के लिये विद्युत् पहले द्वारों का निर्माण करती है, और फिर उसे निकाल कर तथा टुकड़े २ करके जल के रूप में नीचे मार गिराती है।

उत्स = मेघ (क) उत्सर—उत्स, उत्+'सृ' गतौ। (ख) उत्+षद्+ड=उत्स। (ग) उत्+स्यन्द्+ड—उत्स। (घ) 'उन्दी' क्लेदने+क्स—उद्स—उत्स। अर्णव=अर्णस्वत्। माध्यमिकान् संस्त्यायान्=मेघसंघातान्, क्र्यादिगणी 'रभ' धातु संयमनार्थक तथा विसर्जनार्थक मानी गई है। पर्वत=मेघ। विवः=व्यवृणोः=खोलता है, ढांपने का (विगतभाव) उलटा खोलना है।

दानव = दानकर्मा = दाता, यहां भी 'अर्णव' की तरह 'मतुप्' अर्थ में 'दान' से 'व' प्रत्यय है ॥ ९ ॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत् । यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥ २.१२.१

यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभवत् , पर्यगृह्णात्, पर्यरक्षत् , अत्यक्रामदिति वा। यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीताम् । नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इति ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ॥ १० ॥

इन्द्र के रसानुप्रदान और वृत्रवध, ये दो कर्म तो उपर्युक्त मंत्र में दर्शाये जा चुके, अब तीसरे बलकर्म (४८७) को दिखाने के लिए 'यो जात एव' आदि दूसरी ऋचा दी गई है । इसका आध्यात्मिक अर्थ २३८ पृ० पर उल्लिखित किया जा चुका है, आधिदैविक अर्थ इसप्रकार है—

(यः जातः एव प्रथमः) जो विद्युत् पैदा होते ही फैल जाती है, (मनस्वान्) जो विज्ञान से युक्त है, अर्थात् जिस में बड़ा विज्ञान भरा पड़ा है, (देवः) और जो प्रकाशक है, (देवान् क्रतुना पर्यभूषत्) जो मेघों को अपने कर्म से घेरती है, पकड़ती है, रखती है, या उस पर आक्रमण करती है, (यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम्) और जिस के बल से अन्तरिक्षचारी पक्षी और पृथिवीविहारी पशु मनुष्यादि सभी डरते हैं, (जनासः ! नृम्णस्य मह्ना सः इन्द्रः) हे मनुष्यो ! बल के महत्त्व से उस विद्युत् को 'इन्द्र' कहा जाता है ।

एवं, (दृष्टार्थस्य ऋषेः) जिस तत्त्वदर्शी ने विद्युत्-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया हो, (आख्यानसंयुक्ता) उसे उपर्युक्त कथन के अनुसार ही (प्रीतिः भवति) विद्युत् के विषय में प्रीति होती है ।

पर्यभूषत् = पर्यभवत्, पर्यगृह्णात्, पर्यरक्षत्, अत्यक्रामत् । परिभव = तिरस्कार । नृम्ण = बल ॥ १० ॥

५. पर्जन्य

पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः, परो जेता वा, परो जनयिता वा, प्रार्जयिता वा रसानाम् । तस्यैषा भवति—

वि वृक्षान्हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात्। उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन्हन्ति दुष्कृतः॥५.८३.२

विहन्ति वृक्षान्, विहन्ति च रक्षांसि। सर्वाणि चास्माद् भूतानि बिभ्यति महावधान्महान् ह्यस्य बधः। अप्यनपराधो भीतः पलायते वर्षकर्मवतः। यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः पापकृतः॥ ११ ॥

पर्जन्य=मेघ। (क) 'तृप्' के आद्यन्तविपरीत रूप 'पृत्' और 'जन्य' के योग से पर्जन्य की सिद्धि है। पर्त् जन्य—पर्जन्य, मेघ तर्पयिता और सर्वजन-हितकारी है। (ख) पर+'जि' जये+यक् (उणा० ४. ११२)। यह दुष्काल आदि के जीतने में उत्कृष्ट है। (ग)पर+'जनी'प्रादुर्भावे+यक्—परजन्य—पर्जन्य, मेघ उत्तम उत्पादक है। (घ) प्र+अर्ज्+यक्—पर् जर् य—पर्जन्य, यह वृक्षादिकों में रसों को पैदा करने वाला है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(वृक्षान् विहन्ति) यह मेघ अशनिपातों से वृक्षों को विनष्ट करता है, (उत रक्षसः हन्ति) और पापी मनुष्यों को मारता है (महावधात् विश्वं भुवनं बिभाय) इसकी भयङ्कर गड़गड़ाहट से संपूर्ण प्राणि डरते हैं। (उत अनागाः वृष्ण्यावतः ईषते) जहां तक कि निरपराध मनुष्य भी इस वृष्टि करने वाले मेघ से डर कर दौड़ता है, (यत् पर्जन्यः स्तनयन् दुष्कृतः हन्ति) जब कि यह संतर्पक और सर्वजनहितकारी मेघ गर्जना करता हुआ अशनिपातों से पापियों को मारता है।

एवं, इस मंत्र में घटाटोप वर्षा का वर्णन करते हुए बतलाया है कि उस समय बिजुली बारबार ऊंचे वृक्षों पर गिरती है, और जो दुष्ट मनुष्य हैं, उन पर भी यह दैवी वज्र गिरता है, सज्जनों पर ऐसी दैवी आपदायें नहीं आया करती।

बिभाय=बिभ्यति। वृष्ण्य=वर्षकर्म॥ ११ ॥
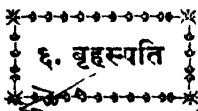
६. बृहस्पति

बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति—

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्। निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥ १०.६८.८

अशनवता मेघेनापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यमिव दीन उदके निवसन्तम्। निर्जहार तच्चमसमिव वृक्षात्। चमसः कस्मात्? चमन्त्यस्मिन्निति। बृहस्पतिर्विरवेण शब्देन विकृत्य॥ १२॥

बृहस्पति = बड़े मेघ का रक्षक या पालक वायु। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(बृहस्पतिः दीने उदनि क्षियन्तं मत्स्यं न) मेघरक्षक वायु स्वल्प जल में रहने वाली मछली की तरह सुस्पष्टभाव से (अश्ना अपिनद्धं मधु पर्यपश्यत्) जब मेघ से ढके हुए जल को देखता है, तब (विरवेण विकृत्य वृक्षात् चमसं न तत् निर्जभार) जैसे कोई शिल्पी कुल्हाड़े से वृक्ष को पहले काटता है और फिर उस लकड़ी से पात्र का निर्माण करता है, एवं यह वायु गर्जन-शस्त्र से मेघ-वृक्ष को काटकर उस से जल—चमस का निर्माण करता है।

अश्ना = अशनवता मेघेन = फैलने वाले मेघ से। अश्मना—अश्ना। वृक्ष = वृक्ष, मेघ, ये दोनों काटे जाते हैं। चमस = पात्र, जल। चमन्ति भक्षयन्त्यस्मिन्निति चमसः पात्रम्, चम्यते आचम्यते पीयते इति चमसः जलम्॥ १२॥
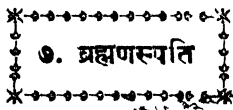
७. ब्रह्मणस्पति

ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति—

अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत्। तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहुसाकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्॥ २. २४. ४

अशनवन्तमास्यन्दनवन्तम् अवातितं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारं यमोजसा बलेनाभ्यतृणत्, तमेव सर्वे पिबन्ति रश्मयः। सूर्यदृशो बहुनं सह सिञ्चन्त्युत्समुद्रिणमुदकवन्तम्॥ १३॥

ब्रह्मणस्पति = मेघ-जल का रक्षक और पालक वायु। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(ब्रह्मणस्पतिः) मेघ-जल का रक्षक वायु (यं अश्मास्यं) जिस फैलने वाले और बहने वाले, (अवतं) तथा गुरुभार से नीचे गये हुए (मधुधारं) मधुर जल के धर्ता मेघ को (ओजसा अभ्यतृणत्) अपने सामर्थ्य से बरसाती है, (तं एव विश्वे स्वर्दृशः पपिरे) उसी जल को समस्त सूर्यकिरणें पीती हैं, (बहु

साकं उद्रियं उत्सं सिसिचुः) और फिर, जल वाले मेघ को सहस्रगुणित करके बरसाती हैं ।

एवं, इस मंत्र में दर्शाया है कि सूर्यकिरणें जिस जल का आकर्षण करती हैं, उसे फिर सहस्रगुणित बना कर बरसाती हैं । इसी बात को कालिदास ने रघुवंश में (१. १८) 'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः' से दर्शाया है ।

अश्मनु = अशनवान् । आस्य = आस्यन्दनवान् । अवत = अवातित, अव + अत । सूर्यदृशः = सूर्यरश्मियें, ये सूर्य की आंखें हैं । उद्रिण्—उदकवान्, उद्र = उदक ॥ १३ ॥

* द्वितीय पाद *

८. क्षेत्रस्य पतिः

क्षेत्रस्य पतिः, क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणस्तस्य पाता वा पालयिता वा, तस्यैषा भवति—

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि ।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे ॥ ४. ५७. १

क्षेत्रस्य पतिना वयं सुहितेनेव जयामः, गामश्वं पुष्टं पोषयितृ चाहरेति । स नो मृळातीदृशे बलेन वा धनेन वा, मृळतिर्दानकर्मा पूजाकर्मा वा ॥ १ । १४ ॥

क्षेत्रस्य पति—खेती की रक्षक वायु । क्षेत्र = खेती, इसके आश्रय से मनुष्य का निवास है, क्षि + त्रन् । इसी वायु को यजुर्वेद २२. ५६ में 'शश' कहा है । यह वायु खेतों में कूद २ कर चलती है । ऐसी वायु के चलने से खेती खूब फूलती और फलती है ।

अब, मंत्रार्थ देखिए—(वयं क्षेत्रस्य पतिना) हम क्षेत्रपति वायु के द्वारा, (हितेन इव जयामसि) सुहितकारी मित्र के साहाय्य से उत्कर्ष-लाभ की तरह, उत्कर्षता को प्राप्त करें । (गां, अश्वं, पोषयित्नु आ) वह वायु हमारे लिए गौ, घोड़ा, और पुष्ट धन या पोषक जल का आहरण करता है । (सः ईदृशे नः मृळाति) एवं,

'वह क्षेत्रपति इसप्रकार के धन और बल के द्वारा हमें सुख प्रदान करता है, अथवा धन और बल की भेंट से हमारी पूजा करता है।

पोषयित्नु = पुष्ट, पोषयितृ। आ = आहर। ईदृशे = ईदृशेन। यहां 'मृड' धातु दान तथा पूजा, इन दो अर्थों में प्रयुक्त है॥ १ । १४॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥ ४. ५७. २

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयोऽस्मासु धुक्ष्वेति। मधुश्चुतं घृतमिवोदकं सुपूतम् ऋतस्य नः पातारो वा पालयितारो वा मृळयन्तु, मृळयतिरुपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा॥ २५। १५॥

'क्षेत्रस्यपतिः' की एक और ऋचा दी गयी है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(क्षेत्रस्य पते) हे क्षेत्ररक्षक वायु! (धेनुः पयः इव) जिसप्रकार पुष्कल दूध देने वाली गाय मधुर दूध को दोहती है, (मधुमन्तं ऊर्मिं अस्मासु धुक्ष्व) एवं, दुग्ध–समान मधुर रस–धारा को हमारे अन्नों में दोह। (ऋतस्य पतयः) तथा अपने में जल को धारण किए हुए क्षेत्रस्थ वायुयें (नः मधुश्चुतं) हमारे अन्नों में मधुरता को झरने वाले (घृतं इव सुपूतं) और घृत की तरह पवित्र रस को दोहें। (नः मृळयन्तु) एवं, ये वायुयें हमारी रक्षा करें, अथवा उत्तम रस की भेंट से हमारी पूजा करें।

एवं, इस मंत्र में कामना प्रकट की गई है कि क्षेत्रपति वायु हमारी खेती में दूध के समान मधुर, प्रचुर मधुर रस को झरने वाले, भक्षण करने पर परिणाम में भी मधुरता को देने वाले, और घृत की तरह पवित्र रस को स्थापित करे।

पयस् = दूध, जल। घृत = घी, जल। यहां 'मृड' धातु रक्षा और पूजा, इन दो अर्थों में प्रयुक्त है॥ २ । १५॥

पुनरुक्ति–दोष पर विचार

तद्यत् समान्यामृचि समानाभिव्याहारं भवति, तज्जामि भवतीत्येकम्। 'मधुमन्तं मधुश्चुतम्' इति यथा।

यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवति, तज्जामि भवतीत्यपरम् । 'हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्' इति यथा ।

यथाकथा च विशेषोऽजामि भवतीत्यपरम् । 'मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव' इति यथा ॥ ३ । १६ ॥

नास्तिक लोगों की ओर से वेदों पर यह आक्षेप प्रायः करके किया जाता है कि इन में पुनरुक्ति दोष बहुत अधिक विद्यमान है। प्रसङ्गवश आचार्य इस पर यहां विचार करते हैं। वे पहले दो पूर्वपक्षों की स्थापना करके अन्त में अपना सिद्धान्तपक्ष परिपुष्ट करते हैं।

(१) पहला मत यह है कि (तत्) उस वेद में (यत् पदं) जो पद (समान्यां ऋचि) एक ही मंत्र में (समानाभिव्याहारं भवति) समानार्थक होता है, वह पुनरुक्त होता है, जैसे कि 'मधुमत्तमम्' और 'मधुश्चुतम्' ये दो समानार्थक पद एक ही मंत्र में प्रयुक्त हैं, क्योंकि जो पदार्थ मधुमान् है, वह मधुश्चुत् भी होगा ही।

(२) दूसरा मत यह है कि नहीं, जो पद मंत्र के एक ही पाद में समानार्थक होता है, वह पुनरुक्त है। परन्तु यदि एक ही ऋचा में भिन्न २ पादों में वे शब्द प्रयुक्त हों, तो वहां पुनरुक्ति–दोष नहीं रहता। जैसे कि 'हरिण्यरूपः स हिरण्यसन्दृक्' यहां एक ही पाद में हिरण्यरूप और हिरण्यसन्दृक् शब्द प्रयुक्त हैं। जो पदार्थ हिरण्यरूप है, वह हिरण्यसन्दृक् भी अवश्य होगा ही। अतः, ऐसे स्थलों में तो पुनरुक्ति–दोष समझना ही चाहिये।

(३) और, तीसरा सिद्धान्तमत यह है कि नहीं, वेदों में किसी प्रकार का भी पुनरुक्ति–दोष नहीं। ऐसे स्थलों में जिस किसी तरह कुछ न कुछ अर्थ में विशेषता अवश्य होती है, अतः ऐसा पद अपुनरुक्त ही समझना चाहिये। जैसे कि 'मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव'–यहां सामान्यतया देखने पर तो पुनरुक्तिदोष ही प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः यह स्थल बड़े अर्थ–गाम्भीर्य वाला है। उसे समझाने के लिये अर्थसहित यहां सपूर्ण वेदमंत्र का उल्लेख किया जाता है, जो कि इसप्रकार है—

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्द्धानमक्रमीम् ।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव॥ १०.१६६.५

देवता—सपत्नघ्न। राजविद्रोहिओं के प्रति राजा की उक्ति—(वः योगक्षेमं आदाय) हे राजविद्रोहिओ! मैं तुम्हारे योग और क्षेम को छीन कर (उत्तमः भूयासम्) उत्तम राजा होऊं। (वः मूर्द्धानं आक्रमीम्) मैं तुम्हारे मुखिया को कुचल डालूं। (उदकात् मण्डूकाः इव मे अधस्पदात् उद्वदत) जैसे जल में से मण्डूक बड़े प्रसन्नवदन होकर उच्च स्वर से बोलते हैं, एवं तुम मेरे पैरों के नीचे से अर्थात् मेरी आज्ञा में रहते हुए यथेष्ट वाणी का उच्चारण करो। (मण्डूकाः उदकात् इव) और, जैसे मण्डूक जल में से बोलते हैं, जल के बिना उनका बोलना बन्द हो जाता है, उसीप्रकार मेरी आज्ञा में रहते हुए तुम यथेष्ट वाणी का उच्चारण करो, परन्तु मेरी आज्ञा के बिना तुम्हारा बोलना बन्द है।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि (१) राजविद्रोहिओं को अन्य प्रजा की तरह किसी तरह के नये राष्ट्रीय अधिकार न दिये जावें। (२) उन से पुराने अधिकार छीन लिये जावें। (३) उनके मुखिया को कुचल डाला जावे। (४) और उनकी वाणी की स्वतन्त्रता हर ली जावे। उन्हें राजाज्ञा के अनुसार ही सभा समाजों में बोलने का अधिकार हो, उस के बिना उनका बोलना बन्द किया जावे।

इसप्रकार उपर्युक्त मंत्र में एक स्थान पर तो राजविद्रोहिओं के लिये मण्डूक की उपमा दी गई है। अर्थात्, यह वाक्-प्रतिबन्ध राजविद्रोहिओं के लिये ही है अन्य प्रजा के लिये। और दूसरे स्थान पर राजा के लिये जल की उपमा है। अर्थात्, जल-स्थानीय राजा की आज्ञा के बिना वे लोग नहीं बोल सकते।

योग = अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति, क्षेम = प्राप्त पदार्थ की रक्षा।

इसीप्रकार 'हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्' में भी अर्थ की विभिन्नता है। जो पदार्थ 'हिरण्यरूप हो, आवश्यक नहीं कि वह अन्यों को भी हिरण्य की तरह प्रिय दृष्टिगोचर होता हो। शत्रु चाहे कितना भी सुरूप क्यों न हो, परन्तु वह कुरूप ही दीख पड़ता है। इस मंत्र की व्याख्या २१४ पृ० पर देखिये।

इसीप्रकार जो पदार्थ मधुमान् है, वह निरन्तर मधु को झरने वाला भी हो, यह आवश्यक नहीं। धनाढ्य मनुष्य उत्तमोत्तम अनेक मधुर पदार्थों से युक्त है, परन्तु वह उन मधुर पदार्थों को, किसी को नहीं देता। एवं, विष मधुर है, परन्तु परिणाम में अहितकर है।

कहीं अर्थ की विशेषता यही होती है कि 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' के अनुसार किसी बात पर विशेष बल देना अभीष्ट होता है, या उसकी ओर विशेष ध्यान आकर्षित करना होता है। इसी को आचार्य ने १० अ० २७ ख० में 'अभ्यासे

भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीया' इति—इस वचन से बतलाया है ॥ ३ । १६ ॥

६. वास्तोष्पति

वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः, तस्य पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति-

> अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ।
> सखा सुशेव एधि नः ॥ ७.५५.१

अभ्यमनहा वास्तोष्पते सर्वाणि रूपाण्याविशन् सखा नः सुसुखो भव । शेव इति सुखनाम, शिष्यतेर्वकारो नामकरणो-ऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी, विभाषितगुणः । शिवमित्यप्यस्य भवति । यद्यद्रूपं कामयते तत्तद् देवता भवति—'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' इत्यपि निगमो भवति ॥ ४ । १७ ॥

वास्तोष्पति = गृह की रक्षा करने वाली स्वास्थ्यवर्धक 'झाड़ू' वायु । वास्तु = गृह, वस + तुन् और द्विर्भाव (उणा० १.७०) मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(वास्तोष्पते) हे झाड़ू ! (विश्वा रूपाणि आविशन्) तू प्रत्येक पदार्थ में प्रवेश करती हुई (अमीवहा एधि) रोगों का नाश करने वाली हो । (नः सखा सुशेवः) और एवं, तू हमारी मित्र और उत्तम सुख को देने वाली हो ।

अभ्यमनहा = रोगहन्ता (४०३ पृ०) । शेव, शिव = सुख । शेषति हिनस्ति दुःखमिति शेवः शिवो वा । हिंसार्थक भ्वादिगणी 'शिष्' धातु से 'व' प्रत्यय और षकार का लोप, जिससे वकार षकार के स्थान पर आ जाता है, और गुण विकल्प से है । गुणाभाव में 'शिव' रूप होता है । अन्ते तिष्ठति धातोरिति अन्तस्थः षकारः, तस्यान्तरमवकाशस्थानम् उपलिङ्गयति उपगच्छतीति अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी वकारप्रत्ययः ।

यह वायु देवता जिस जिस पदार्थ के रूप की इच्छा करती है, उस उस पदार्थ में प्रविष्ट होकर तदाकार हो जाती है । अर्थात्, वायु का अपना कोई रूप नहीं, पदार्थों के अनुसार इसके रूप बनते रहते हैं । इसकी पुष्टि के लिये 'रूपं रूपं मघवा' आदि एक और मंत्र दिया गया है, जो कि इसप्रकार है—

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ ३.५३.८

देवता—इन्द्र। (मघवा स्वां तन्वं परि) प्रसन्नता और स्वास्थ्य-धन को देने वाला डाडू अपने शरीर में (मायाः कृण्वानः) प्रज्ञाओं को धारण करता हुआ (रूपं-रूपं बोभवीति) प्रत्येक पदार्थ में प्रविष्ट होकर तदाकार हो जाता है। (यत् दिवः त्रिः मुहूर्तं परि आगात्) यह डाडू रात्रि के तीन मुहूर्त बीत जाने पर ब्रह्ममुहूर्त में चलता है। (स्वैः मंत्रैः अनृतुपाः) एवं, यह अपने गुप्त कर्मों से वर्षा ऋतु के बिना भी जल का पान करने वाला है, (ऋतावा) और ब्रह्मयज्ञ से संयुक्त है।

एवं, इस मंत्र में दर्शाया गया है कि डाडू प्रसन्नता को देने वाला है, स्वास्थ्यप्रद है, और बुद्धिवर्धक है। यह डाडू तीन मुहूर्त रात्रि के बीत जाने पर ब्रह्ममुहूर्त में चला करता है, और वर्षा ऋतु के बिना भी अप्रकटरूप में जल के धारण करने से शीतल होता है। तथा, यह डाडू चलने का समय, ब्रह्मयज्ञ के लिये अत्युपयोगी है।

'दिव्' शब्द सामान्यतया अहोरात्र के लिये प्रयुक्त होता है, अतः यहां रात्रिवाचक है (१४८ पृ०) ॥ ४ । १७ ॥
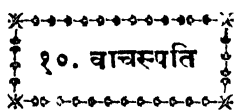
१०. वाचस्पति

वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा। तस्यैषा भवति—

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरामय मय्येव तन्वं मम ॥ अथर्व० १. १. २

इति सा निगदव्याख्याता ॥ ५ । १८ ॥

वाचस्पति=प्राणवायु, यह वाणी आदि इन्द्रियों का पति है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(वाचस्पते ! देवेन मनसा सह) हे प्राण ! तू दिव्यगुण युक्त मन आदि इन्द्रियों के साथ (पुनः एहि) पुनर्जन्म में प्राप्त हो। (वसोष्पते) हे जीवनाधार (मम तन्वं मयि एव) तू मेरे शरीर को मेरे में ही (निरामय) निरन्तर रमण करा। अर्थात्, हे प्राण ! तू मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कर कि जिस से यह

पाञ्चभौतिक शरीर, जो कि आत्मा का सेवक है, वह आत्मा की ही सेवा करे, इस के विपरीत जीवात्मा शरीर का दास न हो जावे।

एवं, यह मंत्र जहां एक ओर पुनर्जन्म का प्रतिपादन कर रहा है, वहां दूसरी ओर इस बात की भी शिक्षा दे रहा है, कि प्राण को वश में करने से यह शरीर आत्मा का दास हो जाता है ॥ ५ । १८ ॥

११. अपांनपात्

अपांनपात्तनूनप्त्रा व्याख्यातः। तस्यैषा भवति—

यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु।
अपान्नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥ १०.३०.४

योऽनिध्मो दीदयद् दीप्यतेऽभ्यन्तरमप्सु, यं मेधाविनः स्तुवन्ति यज्ञेषु, सोऽपान्नपान्मधुमतीरपो देह्यभिषवाय, याभिरिन्द्रो वर्धते वीर्याय वीरकर्मणे ॥ ६ । १६ ॥

'तनूनपात्' की तरह 'अपांनपात्' का निर्वचन कर लेना चाहिए (५३९ पृ०)। अर्थात्, जल से जल-धारा या संघर्षण पैदा होता है, और उस से विद्युत् उत्पन्न होती है, अतः जल का पोता होने से विद्युत् अपांनपात् है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(यः अनिध्मः अप्सु अन्तः दीदयत्) जो अप्रकाशित रूप से जल के अन्दर वर्तमान रहती है, (यं विप्रासः अध्वरेषु ईडते) और जिसे विद्वान् लोग शिल्पयज्ञों में सत्कृत करते हैं, (अपांनपात्) हे विद्युत् ! वह तू (मधुमतीः अपः दाः) वृष्टि के द्वारा अन्नरस के संपादन के लिये हमें मधुर जल प्रदान कर, (याभिः इन्द्रः वीर्याय वावृधे) जिस मधुर जल से सामर्थ्यवान् मनुष्य पराक्रमतायुक्त कर्म के लिए वृद्धिलाभ करता है।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि बिजुली जल में अप्रकाशित रूप से सदा वर्तमान रहती है। उस विद्युत् से शिल्पकर्म सिद्ध किये जाते हैं, और यह वृष्टि का हेतु है।

दीदयत्=दीप्यते। दाः=देहि। अर्थ की स्पष्टता के लिये आचार्य ने 'अभिषवाय' का अध्याहार किया है। वावृधे=वर्धते। वीर्याय=वीरकर्मणे ॥६।१९॥

१२. यम
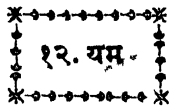
यमो यच्छतीति सतः। तस्यैषा भवति—

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य॥ १०.१४.१

परेयिवांसं पर्यागतवन्तं प्रवत उद्वतो निवत इत्यवतिकर्मा। बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पाशयमानम्, वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्येति दुवस्यती राध्नोतिकर्मा॥ ७। २०॥

यम = प्राण, यह जीवन प्रदान करता है, अथवा इसको वश में करने से यह इन्द्रियों का निग्रह करता है। यच्छति प्रयच्छति नियच्छतीति वा यमः, 'यम' धातु से पचाद्यच्। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(प्रवतः महीः अनुपरेयिवांसम्) प्रकृष्ट मनुष्य, उत्तम मनुष्य अर्थात् योगिजन, और निकृष्ट मनुष्य पशु पक्षी आदि इतर प्राणी, इन अनेक भूतयोनिओं में कर्मानुसार आये हुए, (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानं) और फिर उन में से कई प्राणिओं को सन्मार्ग से संयुक्त करने वाले (वैवस्वतं) सूर्य से उत्पन्न होने वाले, (जनानां सङ्गमनं) और मनुष्य-शरीरों को इकट्ठा करने वाले, अर्थात् उन के अङ्ग प्रत्यङ्गों को सूत्र बन कर पिरोने वाले (यमं राजानं) प्राण राजा को (हविषा दुवस्य) हे मनुष्य! तू श्रद्धापूर्वक सिद्ध कर।

प्राण-सूत्र का वर्णन उपनिषदों में बड़े विस्तार से पाया जाता है। इस सूत्र के निकल जाने पर शरीर-माला टूट जाती है, और उस के सब इन्द्रिय-मोती बिखर जाते हैं। इसीप्रकार सामब्राह्मण ने '**अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना**' कहा है।

(१) 'प्रवत्' यह तीनों प्रकार की योनियों का उपलक्षण है, अतएव आचार्य ने 'प्रवतः' का अर्थ 'प्रवत उद्वतो निवतः' किया है। इन की सिद्धि 'प्र' 'उत्' या 'नि' उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक 'अव' धातु से है। प्रकृष्टम् अवति गच्छत्यत्र सा प्रवत्। छान्दोग्य उपनिषद् में आत्माओं की देवयान, पितृयाण, और जायस्व म्रियस्व-ये तीन गतियें बतलायी हैं, क्रमशः उन्हीं तीन गतियों को कहने वाले उद्वत् प्रवत् और निवत् शब्द हैं। उद्वत् गति योगिओं की है, प्रवत् गति उत्तम कर्म करने वाले मनुष्यों की, और निवत् गति नीच मनुष्यों तथा पशु पक्षी आदि

इतर प्राणिओं की है। पन्थाम्=पन्थानम्। इस मंत्र में कण्ड्वादिगणी 'दुवस' धातु परिचर्या अर्थ में प्रयुक्त है॥ ७। २०॥

अग्निरपि यम उच्यते, तमेता ऋचोऽनुप्रवदन्ति—

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत्त्वेषप्रतीका। यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥ १.६६.४

तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्॥ १.६६.५

इति द्विपदाः। सेनेव सृष्टा भयं वा बलं वा दधाति। अस्तुरिव दिद्युत् त्वेषप्रतीका भयप्रतीका, महाप्रतीका, दीप्तप्रतीका वा। 'यमो ह जात इन्द्रेण सह सङ्गतः' 'यमाविहेह मातरा' इत्यपि निगमो भवति। यम एव जातः, यमो जनिष्यमाणः, जारः कनीनां जरयिता कन्यानाम्, पतिर्जनीनां पालयिता जायानाम्, तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति। 'तृतीयो अग्निष्टे पतिः' इत्यपि निगमो भवति।

तं वश्चराथा चरन्त्या पश्वाहुत्या, वसत्या च निवसन्त्यौषधाहुत्या, अस्तं यथा गाव आप्नुवन्ति तथाप्नुयामेद्धं समिद्धं भोगैः॥८।२१॥

अग्नि को भी 'यम' कहते हैं। उसे 'सेनेव सृष्टा' आदि ऋचायें बतलाती हैं। इस सूक्त (१.६६) का देवता यम है, जोकि अग्निवाचक है।

ये ऋचायें दो दो पादों वाली हैं। 'एताः ऋचः' इस बहुवचन के प्रयोग से पता लगता है कि यास्काचार्य यहां दो दो पादों की एक ऋचा मानते थे, चार चार पादों की नहीं। एवं, उपर्युक्त ऋचायें तीन हैं, डेढ़ नहीं। अनुक्रमणिकाकार भी ६६ से ७१ तक के ६ सूक्तों की ऋचाओं को द्विपद मानता है। अध्ययनकाल में ये ऋचायें दो दो मिलाकर पढ़ी जाती हैं क्योंकि ये युग्मरूप में ही पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करती हैं, परन्तु गणना में भिन्न २ दो ऋचायें ही मानी जावेंगी। एवं, भिन्न २ आचार्यों के गणना–भेद से मंत्र–संख्या की गणना में भेद आजाता, है, पाठक इसे भलीप्रकार ध्यान में रखें।

अब, मंत्रार्थ देखिये—(सृष्टा सेना इव अमं दधाति) यह अग्नि आक्रमण के लिये भेजी हुई सेना की तरह भय या बल को धारण करती है। (अस्तुः दिद्युत् न त्वेषप्रतीका) इस का स्वरूप अस्त्र फेंकने वाले योद्धा के वज्र की तरह भयावह, महान् या चमकने वाला है। (जातः यमः ह) वर्तमान अन्नादि पदार्थ अग्नि के ही प्रताप से उत्पन्न हुए हैं, (जनित्वं यमः) और आगे भी अग्नि से ही उत्पन्न होंगे। (कनीनां जारः) यह अग्नि विवाहाग्नि के रूप में कन्याओं के कन्यात्व को नष्ट करने वाली है, (जनीनां पतिः) और फिर यही अग्नि त्रिविध अग्नि के रूप में जायाओं का पालन करने वाली होती है।

अम=भय, बल। त्वेष=भय, महान्, प्रदीप्त। कनीनाम्=कन्यानाम्, जारः कनीनाम्=अग्निः। जनीनाम्=जायानाम्, जनीनां पतिः=अग्निः।

यम अग्नि पदार्थों को उत्पन्न करने वाली है, इसकी पुष्टि में आचार्य ने ब्राह्मण और वेद का प्रमाण दिया है। 'यमो ह जात इन्द्रेण सह सङ्गतः' यह ब्राह्मण वचन है, (सायण ने 'सेनेव सृष्टा' मंत्र की व्याख्या करते हुए, इसे ब्राह्मणवचन बतलाया है) जिसका अर्थ यह है कि अग्नि के कारण ही पदार्थों की उत्पत्ति है, और इसकी समानता विद्युत् के साथ है। दूसरा वेदवचन है, जिसका पूर्ण मंत्र और अर्थ इसप्रकार है—

वळित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ। समानो
वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेह मातरा॥ ६. ५९.२

(इन्द्राग्नी) हे विद्युत् और अग्नि! (वां इत्था महिमा) तुम दोनों की यह महिमा (वट्) सत्य है, यथार्थ है। (आपनिष्ठः वां समानः जनिता) अत्यन्त व्यवहारोपयोगी सूर्य तुम दोनों का समान उत्पादक है। अर्थात् सूर्य से विद्युत और अग्नि, इन दोनों की उत्पत्ति होती है (३७३ और ५१३ पृ०)। (युवं यमौ भ्रातरा) अतः, तुम दोनों 'यम' नाम वाले भाई हो, (इह इह मातरा) और जहां तहां सर्वत्र पदार्थ–निर्माता हो।

अग्नि कन्याओं के कन्यात्व को नष्ट करती है, इसकी पुष्टि में 'तृतीयो अग्निष्टे पतिः' यह मंत्रखण्ड दिया गया है, जिसका पूर्ण मंत्र और अर्थ इस प्रकार है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा॥ १०.८५.४०

(प्रथमः सोमः विविदे) हे कन्ये ! तेरे चार संरक्षक हैं । जिनमें से पहले उत्पादक पिता ने तुझे रक्षा के लिये प्राप्त किया था, (उत्तरः गन्धर्वः विविदे) दूसरे वेदवाणी को धारण कराने वाले गुरु ने रक्षा के लिये ग्रहण किया था। (ते तृतीयः पतिः अग्निः) और तेरा तीसरा रक्षक विवाहाग्नि है, (ते तुरीयःमनुष्यजाः) तथा चौथा रक्षक यह मनुष्यजातीय तेरा पति है ।

विवाह–संस्कार के समय विवाहाग्नि में आहुतियें डालते हुए पति और पत्नी बड़ी उच्च प्रतिज्ञायें करते हैं, जिनसे उन का जीवन उन्नत होता है, और स्त्री की बड़ी रक्षा होती है । अतः, विवाहाग्नि को कन्या का तीसरा रक्षक कहा गया है । इस विवाहाग्नि के बाद ही कन्या कन्या नहीं रहती, प्रत्युत वह जाया बन जाती है, अतः अग्नि कन्या के कन्यत्व को नष्ट करने वाली है ।

पति के साथ मिलकर पत्नी को सदा यज्ञ करने होते हैं, इसीलिये 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा० ४.१.३३) से यज्ञ के साथ संयोग होने पर ही 'पत्नी' शब्द की सिद्धि की गई है । अतः, जायायें अग्नि–प्रधाना होती हैं । इसलिये मंत्र में 'पतिर्जनीनाम्' का उल्लेख किया गया है ।

अब, यमदेवताक दूसरा सुगम मन्त्र और उसका अर्थ देखिये—

तं घ्नराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम् ।
सिन्धुर्नक्षोदः प्रनीचीरैनोन्नवन्त गावः स्वर्दृशीके ॥ १.६६.५

(गावः अस्तं न) हे अग्नि ! जिसप्रकार गौएँ इतस्ततः विचर कर अन्त में अपनी शाला में पहुंच जाती हैं, (वयं) उसीप्रकार हम, (इद्धं तं वः) अनेक भोगों से समिद्ध, अर्थात् बहुविध उत्तम भोगों को देने वाली उस तुझ को (घराथा वसत्या नक्षन्त) गो-जन्य घी दूध की आहुति से, और ब्रीह्यादि औषधों की आहुति से अधिकतया प्राप्त करें । (सिन्धुः क्षोदः न) यह अग्नि स्यन्दनशील जल की तरह (नीचीः ऐनोत्) नीचे की ओर गमन करती है, (स्वर्दृशीके गावः नवन्त) और जिसप्रकार दर्शनीय सूर्य में किरणें पवित्रता आदि के लिये संयुक्त हैं, उसीप्रकार यह अग्नि भी अपनी ज्वालाओं से संयुक्त होती है ।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि जिसप्रकार गौएँ शीत आदि से सुरक्षा के लिये गोष्ठ में अवश्य लौट जाती हैं, उसीप्रकार हमें नित्यप्रति यज्ञ अवश्य करना चाहिये । और जिसप्रकार बहने वाला जल सदा निम्न स्थान की ओर बहता है, उसी प्रकार अग्नि भी सदा उच्च तापपरिमाण से निम्न तापपरिमाण की ओर प्रवाहित होती है । और, जिसप्रकार सूर्य–किरणें पावक आदि गुणों से

युक्त हैं, उसीप्रकार अग्नि-ज्वाला भी है।

वः = त्वाम्, यहां वचनव्यत्यय है। चराथा = चरन्त्या पश्वाहुत्या, वसत्या = निवसन्त्यौषधाहुत्या। इसकी व्याख्या सायण ने इसप्रकार की है—चरतीति चरथः पशुस्तत्प्रभवैः साध्या आहुतिरपि चरथेत्युच्यते, उपचारात्कार्ये कारणशब्दः। चराथा चरथया। वसति निवसतीति स्थावरो व्रीह्यादिर्वसतिः, वसत्या पुरोडाशाद्याहुत्या। इसीप्रकार यास्काचार्य ने ११२ पृ० पर 'गो' का अर्थ दूध किया है। इन दोनों प्रकार की हविओं का वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् के अश्वल याज्ञवल्क्य-संवाद में 'या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते' इन शब्दों में किया गया है। नक्षन्त = आप्नुयाम, यहां पुरुषव्यत्यय है।

सब निरुक्तों में 'यमो ह जातः' का अर्थ 'यम इव जातः' ऐसा पाया जाता हैं, परन्तु 'ह' का अर्थ 'इव' कभी नहीं होता, 'एव' होता है। दुर्गाचार्य ने भी निरुक्त की व्याख्या करते हुए 'एव' ही लिखा है। अतः 'यम एव जातः' ऐसा शुद्ध पाठ है, लेखक-प्रमाद से 'इव' लिखा गया है॥ ८। २१॥

१३. मित्र

मित्रः प्रमीतेस्त्रायते, सम्मिन्वानो द्रवतीति वा, मेदयतेर्वा। तस्यैषा भवति—

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥ ३.५९.१

मित्रो जनानायातयति प्रब्रुवाणः शब्दं कुर्वन्। मित्र एव धारयति पृथिवीञ्च दिवञ्च। मित्रः कृष्टीरनिमिषन्नभिविपश्यतीति। कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति, विकृष्टदेहा वा। मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोतेति व्याख्यातं जुहोतिर्दानकर्मा॥९।२२॥

मित्र = जीवनदाता वायु। (क) वायु मृत्यु से रक्षा करती है, मृ+त्रैङ्+क (पा० ३.२.४)। (ख) यह सींचती हुई, अर्थात् वृष्टि करती हुई चलती है, 'मिवि' सेचने+द्रु+ड = मित्र। (ग) यह ओषधिवनस्पतिओं को स्निग्ध करती है, तर करती है, 'ञिमिदा' स्नेहने+क्त्र। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(मित्रः ब्रुवाणः जनान् यातयति) यह मित्र वायु शब्द करती हुई मानो मनुष्यों को प्रयत्न करने के लिये प्रेरित कर रही है कि जिसप्रकार मैं सदा चलती रहती हूं, इसीप्रकार तुम भी सदा प्रयत्नशील बने रहो। (मित्रः पृथिवीं उत द्यां दाधार) मित्र वायु पृथिवी–विहारी मनुष्यों तथा पशुओं और अन्तरिक्षचारी पक्षियों को धारण करती है। (मित्रः कृष्टीः अनिमिषा अभिचष्टे) मित्र वायु मनुष्यों पर निरन्तर कृपादृष्टि रखती है। (मित्राय घृतवत् हव्यं जुहोत) अतः, हे मनुष्यो! तुम उस पवित्र मित्र वायु की प्राप्ति के लिये घृतसंयुक्त हवि की आहुति दो, अर्थात् घृतमिश्रित हवि से यज्ञ करो।

यातयति=आयातयति=प्रयत्नं कारयति। दाधार=धारयति। अनिमिषा=अनिमिषम्=निमेष रहित होकर, अर्थात् निरन्तर। कृष्टि=मनुष्य। (क) यह कर्मवान् होता है, अतएव भगवद्गीता में लिखा है 'नैव कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'। कृष्ट=कर्म, यहां 'कृष' धातु सामान्यतः करणार्थक मानी गई है। 'कृष्ट' से 'मतुप्' अर्थ में 'इ' प्रत्यय (पा० ४. ४ १२८ वा०)। (ख) अथवा, कृष्ट का अर्थ है विकृष्ट शरीर, अर्थात् वह प्राणि–शरीर जिसे कि इच्छानुसार विविध प्रकार से आकृष्ट किया जा सकता है। सो, वह एकमात्र मनुष्य-शरीर ही है, जिस के अङ्ग मनुष्य अभ्यास के द्वारा यथेष्ट हिला जुला सकता है। भिन्न २ आसन इसके विकृष्टत्व की भलीप्रकार सिद्धि करते हैं। अन्य पशु पक्षी ऐसा नहीं कर सकते। उस 'कृष्ट' से पूर्ववत् 'इ' प्रत्यय ॥ ९। २२॥

१४. क
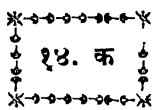
कः कमनो वा, क्रमणो वा, सुखो वा। तस्यैषा भवति—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १०.१२१.१

हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति वा। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा। यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति। समभवदग्रे भूतस्य जातः परिरेको बभूव। स धारयति पृथिवीं च

दिवं च। कस्मै देवाय हविषा विधेमेति व्याख्यातम् , विधति-र्दानकर्मा ॥ १० । २३ ॥

क = प्राणवायु । (१) यह कमनीय है, कम् + ड । (२) यह प्राण अपान उदान आदि १० स्वरूपों में सर्वशरीरान्तःसंचारी है, क्रम + ड । (३) यह सुखप्रद है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अग्रे हिरण्यगर्भः समवर्तत) जीवनज्योतिर्मय गर्भ, अर्थात् सर्वशरीरान्तः-संचारी जीवन-ज्योति, अथवा जिसका गर्भ अर्थात् जीवात्मा ज्योतिर्मय है, वह प्राणवायु पहले उत्पन्न हुई, (जातः भूतस्य एकः पतिः आसीत्) और उत्पन्न होकर प्राणिमात्र की एक रक्षक और पालक बनी। (सः इमां पृथिवीं उत द्यां दाधार) वही इससमय इन पृथिवीविहारी मनुष्यों और पशुओं, तथा अन्तरिक्षचारी इन पक्षिओं को धारण कर रही है। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) हम उस प्राणदेव के लिये सात्विक अन्न प्रदान करें।

'हिरण्यगर्भ' के हिरण्यमयश्चासौ गर्भः, हिरण्यमयो गर्भोऽस्य, ये दो कर्म-धारय तथा बहुव्रीहि समास हैं, अतः इसके उपर्युक्त दोनों अर्थ किये गये हैं।

गर्भ = अन्तःसंचारी प्राण या जीवात्मा, ये दोनों स्तुत्य और अनर्थ–नाशक हैं। 'गॄ' स्तुतौ या 'गॄ' निगरणे से 'भन्' प्रत्यय (उणा० ३. १५३)।
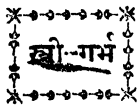
स्त्री-गर्भ स्त्री के गर्भ को भी गर्भ कहा जाता है, क्योंकि उसे ग्रहण किया जाता है। 'ग्रह्' के संप्रसारण रूप 'गृह्' से 'घ' प्रत्यय।

जब स्त्री पुरुष के गुणों को ग्रहण करती है, और पुरुष स्त्री के गुणों को ग्रहण करता है, तब गर्भ होता है। जब स्त्री–रज पुरुष–वीर्य के अस्थि स्नायु और मज्जा, इन तीन गुणों को ग्रहण करता है, तथा पुरुष–वीर्य स्त्री–रज के त्वचा मांस और रुधिर, इन तीन गुणों को ग्रहण करता है, तब इन दोनों रजवीर्यों के मिलने से गर्भ रहता है। स्त्रीपुरुषों के इन ६ गुणों के कारण ही शरीर को षाट्कौशिक अर्थात् ६ कोशों से बना हुआ कहा जाता है।

अथवा, जब स्त्री अत्यन्त प्रेम से पुरुष के गुणों को ग्रहण करती है, और पुरुष अत्यन्त प्रेम से स्त्री के गुणों को ग्रहण करता है, तब परस्पर में प्रसन्न और अनुरक्त स्त्री पुरुष के संबन्ध से गर्भ स्थिर होता है, अतएव बच्चे में स्त्री और पुरुष, दोनों के कुछ न कुछ गुण अवश्य पाये जाते हैं।

एवं, यदि रज और वीर्य एक ही समय में स्खलित न होकर आगे पीछे

स्खलित होते हैं, या स्त्री और पुरुष, दोनों में अत्यन्त गाढ़ अनुराग के उत्पन्न हुए बिना संबन्ध किया जाता है, तो गर्भ-धारण कभी नहीं हो सकता—यह सन्तति-शास्त्र का निश्चित सिद्धान्त है ।

इस मंत्र में 'विध' धातु दानार्थक मानी गई है ॥ १० । २३ ॥

१५. सरस्वान्

सरस्वान् व्याख्यातः । तस्यैषा भवति—

ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः ।
तेभिर्नोऽविता भव ॥ ७. ९६. ५

इति सा निगदव्याख्याता ॥ ११ । २४ ॥

सरस्वन्=शीतल समीरण, यह अपने में जल लिये होता है । सरस्वती की व्याख्या ५८७ पृ० पर की है । वह स्त्रीलिङ्ग है, और यह पुल्लिङ्ग है, इतना भेद है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(सरस्वः !) हे शीतल समीरण ! (ये ते मधुमन्तः घृतश्चुतः ऊर्मयः) जो तेरी सुमनोहर और कान्ति को देने वाली लहरियें हैं, (तेभिः न अविता भव) उन से तू हमें तृप्त और प्रसन्न करने वाला हो ॥ ११ । २४ ॥

* तृतीय पाद *

१६. विश्वकर्मा

विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता । तस्यैषा भवति—

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः ॥१०.८२.२

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्द्रष्टा भूतानाम् । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा

गतानि वा मतानि वा नतानि वाऽद्भिः सह सम्मोदन्ते, यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतिंषि तेभ्य पर आदित्यः, तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणाम् । एषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा अन्नेन सह सम्मोदन्ते, यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा, तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥१।२५॥

विश्वकर्मा=सर्वप्राणिकर्ता प्राणवायु, सर्वसृष्टिकर्ता परमेश्वर । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(विश्वकर्मा विमनाः) प्राणवायु मन को विभूतियुक्त करने वाला (आत् विहायाः) और सर्वशरीरान्तःसंचारी है । (धाता, विधाता) यह धर्ता तथा विशिष्ट सिद्धियों का प्रदाता है । (उत परमा संदृक्) और इसी के वशीकरण से योगी सर्वभूत-द्रष्टा होता है, अतः यह ज्ञानेन्द्रियों से भी अत्युत्तम संद्रष्टा या परम ऋषि है । (तेषा इष्टानि) ऐसे प्राणों को धारण करने वाले योगिजनों के प्रिय, परमप्रिय, उत्कृष्ट, परमात्म-संगत, परमेश्वराभिमत, या परमदेव की भक्ति के द्वारा नम्रीभूत शरीर (इषा संमदन्ति) सूक्ष्म जलों के साथ वहां आनन्द से विचरते हैं, (यत्र सप्तऋषीन् परः एकं आहुः) जहां कि सातों किरणों से परे वर्तमान एक आदित्यमण्डल को बतलाते हैं । अर्थात्, इन मुक्तात्माओं के सूक्ष्मशरीर सूक्ष्म जलों के साथ उस आदित्यलोक में सानन्द विचरते हैं, जहां कि सातों किरणें एकत्व को प्राप्त करके वर्तमान हैं ।

यह अधिदैवत अर्थ है । अध्यात्म अर्थ इसप्रकार है—

सृष्टिकर्ता परमेश्वर सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है । वह धर्ता और अनेक सुखों का प्रदाता है । और वही सब इन्द्रियों को तत्त्वदर्शन कराने वाला है । इस विश्वकर्मा के उपासक योगियों के प्रिय, परमप्रिय, उत्कृष्ट, परमात्म-संगत, परमेश्वराभिमत, या परमदेव की भक्ति से नम्रीभूत सूक्ष्मशरीर अन्न के साथ वहां आनन्द से विचरते हैं, जहां कि सातों इन्द्रियों से परे वर्तमान इन्द्रियातीत एक परमात्मा को बतलाते हैं । अर्थात्, इन मुक्तात्माओं के सूक्ष्मशरीर सूक्ष्म अन्न के साथ, उस ब्रह्मलोक में सानन्द विचरते हैं, जहां कि कि सातों ज्ञानेन्द्रियें एकत्व को प्राप्त

करके अपने विषयों को छोड़ देती हैं। एवं, यह जीवात्मगति को बतलाता है।

विमनाः = विभूतमनाः। विहायस् = व्याप्तृ। परमा = परमः। सन्दृक् = संद्रष्टा, सन्दर्शयिता। इष्ट = इष्ट (प्रिय) कान्त (अतिप्रिय) क्रान्त (उत्कृष्ट) गत, मत, नत। ये सब अर्थ इच्छार्थक और गत्यर्थक 'इषु' धातुओं के हैं, जिन में से 'इषु' इच्छायाम् से इष्ट कान्त और मत, ये अर्थ अभिप्रेत हैं, तथा 'इषु' गतौ के क्रान्त गत और नत, ये अर्थ हैं। इष् = जल, अन्न। 'ऋषि' का नपुंसक लिङ्ग रूप 'ऋषीणि' है। सप्त ऋषि = सात सूर्य-किरणें, सात ज्ञानेन्द्रियें (१२. २५ अ०) ॥ १ । २५ ॥

तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति,—'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्' इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥१०.८१.६

विश्वकर्मन्! हविषा वर्धयमानः स्वयं यजस्व पृथिवीं च दिवं च। मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनाः सपत्नाः, इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु प्रज्ञाता॥ २। २६॥

उस अध्यात्मपक्ष में वेदज्ञ विद्वान् इसप्रकार भूतवर्णन करते हैं कि भुवनपति विश्वकर्मा परमेश्वर ने सर्वमेध यज्ञ में (सृष्ट्युपसंहार यज्ञ में) प्राणी और अप्राणी, सब भूतों की आहुति दी (सब भूतों का संहार किया) और उसमें मनुष्य-शरीर की भी आहुति दी। इस भूतकालीन प्रलय का वर्णन करने वाली यह ऋचा है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥ १०. ८१. १

(यः ऋषिः होता) जिस सर्वद्रष्टा होता विश्वकर्मा परमेश्वर ने (इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्) सर्वमेध यज्ञ में इन सब लोक लोकान्तरों का हवन किया,

(नः पिता न्यसीदत्) वह हमारा पिता प्रभु पूर्ववत् विद्यमान रहा (सः प्रथमच्छत्) और फिर, सृष्टि से पहले विद्यमान प्रकृति और जीव, इन दोनों को आच्छादन किए हुए, उस विश्वकर्मा ने (आशिषा द्रविणं इच्छमानः) सिसृक्षा पूर्वक जगत् की इच्छा करते हुए उसे उत्पन्न किया, (अवरान् आविवेश) और पश्चाद्वर्ती उन उत्पन्न भूतों में प्रविष्ट हुआ।

एवं, इस मन्त्र में प्रलय और सृष्टि का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि संहर्ता परमेश्वर प्रलयकाल में इन सब लोक लोकान्तरों का संहार करता है। उस समय प्रकृति, जीव, और परमात्मा, इन तीन सत्पदार्थों के सिवाय और किसी वस्तु की स्थिति नहीं होती। उन तीनों में से परमात्मा सब आत्माओं का पिता है, और वह पूर्ववत् प्रलय काल में भी विद्यमान रहता है। वह एकरस है, उसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं आता। परन्तु जीव और प्रकृति भिन्न २ शरीरों को धारण करते हुए अनेक रूपों से संयुक्त होते हैं। यह परमेश्वर प्रलय काल में प्रकृति और जीव, इन दोनों को आच्छादन किए हुआ होता है। यह सिसृक्षापूर्वक फिर जगत् को सिरजता है, और सिरज कर उस में भी अनुप्रविष्ट हो जाता है। इसी बात को तैत्तिरीय उपनिषद् ने इसप्रकार कहा है—**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। सोऽकामयत् बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।**

'प्रथमच्छदवराँ आविवेश' इन शब्दों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इन से स्पष्टतया बोध हो रहा है कि प्रलय काल में भी कोई सत्पदार्थ थे, जिन्हें कि इस परमेश्वर ने आच्छादन किया हुआ था।

यहां धनवाची 'द्रविण' शब्द जगत् के लिये व्यवहृत है। जगत् परमेश्वर का धन है, जिसे वह अपने पुत्रों की आत्माओं को सुख भोग के लिये प्रदान करता है।

इस सृष्टि-वर्णन के और अधिक स्पष्टीकरण के लिये 'विश्वकर्मन्हविषा' आदि ऋचा का उल्लेख किया गया है। जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः) हे सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर! तू प्रकृति-हवि से अपने ब्रह्माण्ड-शरीर को बढ़ाता हुआ (स्वयं पृथिवीं उत द्यां यजस्व) स्वयमेव इस पृथिवीलोक और द्युलोक को परस्पर में जोड़ता है। (इह अन्ये जनासः अभितः मुह्यन्तु) इस सृष्टि-विज्ञान के बारे में नास्तिक लोग सर्वथा मूढ़ होते हैं, वे इस को कुछ भी नहीं समझ सकते। (अस्माकं मघवा) परन्तु हमारे में से कोई ऐश्वर्ययुक्त विद्वान् (सूरिः अस्तु) इस विज्ञान का प्रज्ञाता होता है।

वावृधानः=वर्धयमानः। अन्ये=सपत्नाः= नास्तिकाः (३७ पृ०) ॥२।२६॥

१७. तार्क्ष्य

तार्क्ष्यस्त्वष्ट्रा व्याख्यातः। तीर्णे अन्तरिक्षे क्षियति, तूर्णमर्थं रक्षति, अश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति—

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहाहुवेम ॥१०.१७८.१

तं भृशमन्नवन्तम्। जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा। देवजूतं—देवगतं, देवप्रीतं वा। सहस्वन्तं, तारयितारं रथानाम्, अरिष्टनेमिं, पृतनाजितम्, आशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिह ह्वयेमेति कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् ॥ ३ । २७ ॥

तार्क्ष्य= वायु। तार्क्ष्य की व्याख्या त्वष्टा के अनुसार समझ लेनी चाहिए। ५४८ पृ० पर 'तूर्णमश्नुते' से त्वष्टा की सिद्धि की है, सो यह निर्वचन यास्काचार्य ने यहां भी किया है। (क) वायु विस्तृत अन्तरिक्ष में निवास करती है, तॄ+क्षि+ण्य और ढिद्भाव—तार्क्ष्य। (ख) यह शीघ्र प्रयोजन की रक्षा करता है, सिद्धि करती है, त्वर्+रक्ष्+ण्य—त्वार्क्ष्य—तार्क्ष्य। (ग) यह शीघ्र फैलती है, त्वर्+अश+ण्य—तार्क्ष्य।

मंत्रार्थ इसप्रकार है—(सुवाजिनं) हम प्रभूत अन्नवाली, (देवजूतं) विद्वानों से प्राप्त या विद्वानों की प्रिय, (सहावानं) बलवान्, (रथानां तरुतारम्) यानों को चलाने वाली (अरिष्टनेमिं) दृढ वज्र की निर्माता, (पृतनाजं) तथा शत्रु-सेनाओं को जीतने वाली (त्यं आशुं तार्क्ष्यं) उस शीघ्रगामी वायु को (स्वस्तये इह आहुवेम) कल्याण के लिये इस राष्ट्र में बुलाते हैं, प्राप्त करते हैं।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि मनुष्यों को अपने कल्याण के लिये प्रभूत अन्न को पैदा करने वाली वायु का प्राप्ति करनी चाहिये, और वायु के प्रयोग से यानों तथा वायव्यास्त्रों का निर्माण करना चाहिए, जिससे कि शत्रुओं का विजय किया जासके।

उ=पदपूरक। जूति=गति, प्रीति। तरुतारम्=तारयितारम्। नेमि=वज्र (निघण्टु)। पृतनाजम्=पृतनाजितम् ॥ ३ । २७ ॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान। सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्याम्॥ १०.१७८.३

सद्योऽपि यः शवसा बलेन तनोत्यपः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्चमनुष्यजातानि। सहस्रसानिनी शतसानिन्यस्य सा गतिः। न स्मैनां वारयन्ति प्रयुवतीमिव शरमयीमिषुम्॥ ४।२८॥

उस तार्क्ष्य की 'सद्यश्चिद्यः' आदि दूसरी ऋचा दी गई है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(ज्योतिषा सूर्यः इव) जिसप्रकार सूर्य अपनी रश्मिओं से जल को बरसाता है, उसीप्रकार (यः शवसा सद्यः चित् पञ्चकृष्टीः अपः ततान) जो वायु अपने बल से आज भी मनुष्यमात्र के प्रति जल को फैलाती है, (अस्य रंहिः सहस्रसाः, शतसाः) उसकी यह गति हज़ारों और सैंकड़ों कार्यों को सिद्ध करने वाली है। (युवति शर्यां न न वरन्ते) विद्वान् लोग वायु की इस गति को, लक्ष्य से मिलते हुए बाण की तरह, नहीं रोकते।

एवं, इस मन्त्र में बतलाया गया है कि वायु-यंत्रों के प्रयोग से जलाशयों में से अन्यत्र पानी ले जाया जा सकता है। वायु की गति से अनेक प्रकार के कर्म सिद्ध होते हैं, अतः मनुष्यों को चाहिए कि जिसप्रकार लक्ष्य-वेधन के लिये बाण की गति को नहीं रोका जाता, इसीप्रकार इसकी गति से भी अनेक लाभ ग्रहण करें। एवं, यह मंत्र मध्यमस्थानीय वायु के बिना अन्य किस देवता के बारे में ऐसा कह सकता है।

चित्=अपि। सद्यश्चित्=आज भी, अर्थात् सर्वदा। सहस्रसाः=सहस्र-सानिनी=सहस्रों सिद्धिओं को देने वाली। रंहि=गति। वरन्ते=वारयन्ति। शर्या=इषु (३२१ पृ०)॥ ४।२८॥

१८. मन्यु

मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः, क्रोधकर्मणः, वधकर्मणो वा। ~~मन्यु—स्यस्मादिषवः~~। मन्यन्ते अस्मादिषवः।

तस्यैषा भवति—

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः। तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १०.८४.१

त्वया मन्यो सरथमारुह्य रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः तिग्मेषव आयुधानि संशिश्यमाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपा अग्निकर्माणः, सन्नद्धा कवचिन इति वा ॥ ५।२६ ॥

शरीरान्तःसंचारी प्राणवायु के गतिभेद से ही मन्यु की उत्पत्ति होती है, अतः इसे मध्यम-स्थान में पढ़ा गया है। अतएव उपर्युक्त मंत्र में मन्यु का विशेषण 'मरुत्वः' दिया गया है।

मन्यु और क्रोध में भेद यह है कि क्रोध में तो मनुष्य आपे से बाहर हो जाता है, वह अपनी मर्यादा को तोड़ देता है, और उसका चेहरा प्रसन्न नहीं रहता। परन्तु, मन्यु में मनुष्य पूर्ववत् प्रसन्नवदन और दुराधर्ष रहता है। इस की सिद्धि करने वाले मंत्रोक्त 'हर्षमाणासः, और अधृषिताः' ये शब्द हैं।

यह 'मन्यु' शब्द दीप्ति क्रोध या वध अर्थ वाले 'मन' धातु से 'युच्' प्रत्यय (उणा० ३.२०) करने पर सिद्ध होता है। इससे मनुष्य का चेहरा तेजस्वी होता है, और दुष्ट के नाश करने की शक्ति उत्पन्न होती है।

'मन्युं त्वस्मादिषवः' की जगह पर 'मन्युं त्यस्मादिषवः' और 'मन्युं तस्मादिषवः' ये दो पाठभेद और पाये जाते हैं। परन्तु इन तीनों पाठों से कोई अर्थ नहीं निकलता। दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या नहीं की, सायणाचार्य ने भी ऋग्वेदभाष्य (१०.८३.१) में इस पाठ का उल्लेख नहीं किया। अतः, यह पाठ चिन्त्य है।

अब, मंत्रार्थ देखिए—(मरुत्वः मन्यो !) हे वायु वाले मन्यु ! (त्वया सरथं आ) तेरे साथ समान रथ में आरूढ़ होकर (हर्षमाणासः, अधृषिताः) प्रसन्नवदन, दुराधर्ष (अग्निरूपाः नरः) और अग्नितुल्य प्रचण्ड कर्मों के करने वाले या कवच धारण करके तैय्यार हुए सैनिक लोग (तिग्मेषवः) तीक्ष्ण बाणों को लेकर (आयुधा संशिशानाः) और आयुधों को तीक्ष्ण करके (रुजन्तः अभिप्रयन्तु) शत्रु-दुर्गों को तोड़ते हुए युद्ध में इतस्ततः विचरें।

आ = आरुह्य। अग्निरूपाः = अग्निकर्माणः, सन्नद्धा कवचिनः। ये कवच अग्निसमान चमकते हैं, अतः कवचधारिओं को अग्निरूप कहा गया है ॥ ५।२९ ॥
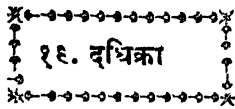
१६. दधिक्रा

दधिक्रा व्याख्यातः । तस्यैषा भवति—

आ दधिक्राः शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान ।
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि॥४.३८.१०

आतनोति दधिक्राः शवसा बलेनापः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च-मनुष्यजातानि । सहस्रसाः शतसा वाजी वेजनवान्, अर्वेरण-वान्, संपृणक्तु नो मधुनोदकेन वचनानीमानीति । मधु धमते-र्विपरीतस्य ॥ ६ । ३० ॥

'दधिक्रा' की व्याख्या १६० पृ० पर कर आये हैं । वहां यह अश्ववाची है, परन्तु यहां इसका अर्थ वायु है, जो कि शिल्पकर्म में प्रयुक्त की जाती है । यह दधिक्रा वायु यानादिकों में धारण की हुई उन्हें चलाती है, वाद्यों में धारण की हुई स्वरों को निकालती हैं, और विशेष आकारों में भिन्न २ यंत्रों में धारण की जाती है । मन्त्रार्थ इसप्रकार है—

(ज्योतिषा सूर्यः इव) जिसप्रकार सूर्य अपनी रश्मियों से जल को बरसाता है, उसीप्रकार (दधिक्राः शवसा) यह दधिक्रा वायु अपने बल से (पञ्च कृष्टीः आपः आततान) मनुष्यमात्र के प्रति जल को फैलाती है । (सहस्रसाः शतसाः) अनेक कार्यों को सिद्ध करने वाली, (वाजी, अर्वा) वेगवान् और प्रेरक अर्थात् चलाने वाली यह वायु (इमा वचांसि मध्वा संपृणक्तु) हमारे इन अभिलाषा-वचनों को जल से संयुक्त करे ।

एवं, इस मंत्र का आशय २८ खण्ड के अनुसार जानें । वाजी = वेजनवान् = वेगवान् । अर्वा = ईरणवान् = प्रेरक । मध्वा = मधुना = उदकेन, गत्यर्थक 'धम्' धातु के विपरीत रूप 'मध्' से 'उ' प्रत्यय ॥ ६।३० ॥
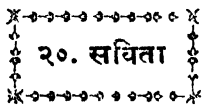
२०. सविता

सविता सर्वस्य प्रसविता । तस्यैषा भवति—

सविता यंत्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् । अश्वमि-वाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्॥ १०.१४९.१

सविता यंत्रैः पृथिवीमरमयत् । अनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहत् । अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षे मेघं, बद्धमतूर्ते बद्धम् अतूर्ण इति वा, अत्वरमाण इति वा । सविता समुद्रितारमिति, कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् ॥ ७ । ३१ ॥

सविता = सर्व-प्रेरक वायु, 'षु' प्रेरणे + तृच् । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(सविता यंत्रैः पृथिवीं अरम्णात्) त्रितरूप में वर्तमान सविता वायु ने अपने नियंत्रण-सामर्थ्यों से पृथिवी का नियमन किया हुआ है, (सविता अस्कम्भने द्यां अदृंहत्) और इसी वायु ने निरालम्ब अन्तरिक्ष में द्युलोक को दृढ़ किया है । (सविता अतूर्ते अन्तरिक्षे) और यही वायु अटूट या अचल अन्तरिक्ष में (बद्धं समुद्रं) बंधे हुए मेघ को (धुनिं अश्वं इव अधुक्षत्) भाड़ने वाले घोड़े की तरह दोहता है ।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि सब लोकों को नियमबद्ध चलाने वाला सूत्रात्मा वायु है (२६० पृ०) । और जिसप्रकार कोई अश्वपालक भाड़ने के योग्य घोड़े को भाड़ कर उसके शरीर पर से धूल (रज) निकालता है, उसीप्रकार वायु मेघ को भाड़ कर उस पर से जल (रज) को भाड़ता है ।

अस्कम्भने = अनारम्भणे, स्कम्भ = खम्भा । अन्तरिक्षम् = अन्तरिक्षे । अतूर्त = अतूर्ण, अत्वरमाण (अटूट, अचल) । अतूर्त—अटूट । समुद्र = समुदिता = सम्यक्तया गीला करने वाला मेघ । (कमन्यं०) एवं, यह मंत्र मध्यमस्थानीय वायु के बिना अन्य किस देवता के विषय में इसप्रकार से वृष्टि-कर्म और लोकों के नियमन को कह सकता है ॥ ७ । ३१ ॥

आदित्योऽपि सवितोच्यते, तथा च हैरण्यस्तूपे स्तुतः । अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिरिदं सूक्तं प्रोवाच । तदभिवादिन्येषर्ग्भवति—

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन् । एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम् ॥ १०. १४६. ५

हिरण्यस्तूपो हिरण्यमयस्तूपो हिरण्यमयः स्तूपोऽस्येति वा । स्तूपः स्त्यायतेः, संघातः । सवितः ! यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे

वाजे अग्ने अस्मिन्नेवं त्वार्चन्नवनाय वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागर्म्यहम् ॥ ८ । ३२ ॥

आदित्य को भी 'सविता' कहा जाता है, जैसे कि हिरण्यस्तूप-सूक्त में स्तुत है। इस सूक्त का वक्ता ऋषि अर्चन् हिरण्यस्तूप है, अर्थात् इस सूक्त में प्रार्थना करने वाला तत्त्वदर्शी अर्चन् हिरण्यस्तूप है, जो कि परमेश्वर-पूजक और अत्यन्त तेजस्वी है। उक्त अर्थ को ('सविता' के आदित्य-वाचकत्व को) कहने वाली 'हिरण्यस्तूपः सवितः' आदि ऋचा है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(सवितः ! यथा त्वा आङ्गिरसः हिरण्यस्तूपः) हे सूर्य ! जैसे तुझे प्राण-स्वरूप, तथा तेजोमय अथवा तेजोमय पदार्थों के स्वामी परमेश्वर ने (अस्मिन् वाजे जुहे) इस संसार में हमें प्रदान किया है, (एव) उसीप्रकार (अवसे वन्दमानः) आत्मरक्षा के लिये उस प्रभु की वन्दना करता हुआ (अर्चन् अहं) ईश्वर-पूजक तेजस्वी मैं (सोमस्य अंशुं इव) सोमादि ओषधियों के रस को तरह (त्वा प्रति जागर्मि) तेरे प्रति सावधान होकर स्थित रहता हूं।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि जिस परम कृपालु ने अपनी अपार कृपा से हमें सूर्य को प्रदान किया है, उस प्रभु की वन्दना करते हुए, हमें उस सूर्य से पूरा २ लाभ उठाने के लिये सदा जागृत रहना चाहिये, जिस से कि हमारा एक क्षण भी निरर्थक नष्ट न हो। और, जिसप्रकार सोमादि ओषधियों के रस-निष्पादन में मनुष्य सदा प्रयत्नशील रहते हैं, उसीप्रकार सूर्य-दान के महत्त्व को भी पूर्णतया समझना चाहिए।

'हिरण्यस्तूपः' के 'हिरण्यमयः स्तूपः' और 'हिरण्यमयः स्तूपोऽस्य' ये दो कर्मधारय तथा बहुब्रीहि समास किये गये हैं, अतः उपर्युक्त दोनों अर्थों का उल्लेख किया गया है। स्तूप = संघात = समूह, ढेर, पुञ्ज, 'स्त्यै' संघाते + कूपम् —स्त्यूप—स्तूप। वाज = अन्न = जगत् (देखिए द्रविण शब्द ६३६ पृ०)। एव = एवं। जागर = जागर्मि ॥ ८ । ३२ ॥

२१. त्वष्टा

त्वष्टा व्याख्यातः। तस्यैषा भवति—

देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ३. ५५. १९

देवस्त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोषति प्रजा रसानुप्रदानेन, बहुधा चेमा जनयति। इमानि च सर्वाणि भूतान्युदकान्यस्य। महच्चास्मै देवानामसुरत्वमेकं प्रज्ञावत्त्वं वा, अनवत्त्वं वा। असुरिति प्रज्ञानाम, अस्यत्यनर्थान् अस्ताश्चास्यामर्थाः। अपिवा, असुरत्वमादिलुप्तम् ॥ ६। ३३ ॥

त्वष्टा की व्याख्या ५४८ पृ० पर कर आये हैं। वहां यह अग्निवाचक है, परन्तु यहां तात्पर्य भी ताह (६३७ पृ०) इसका अर्थ वायु है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(सविता विश्वरूपः त्वष्टा देवः) उत्पादक और सर्वरूप वायु देव (प्रजाः पुपोष) इन सब प्रजाओं को रसानुप्रदान से पुष्ट करता है, (पुरुधा जजान) और वही इन अनेकविध प्रजाओं को उत्पन्न करता है। (इमा च विश्वा भुवनानि अस्य) ये सब रस इसी के कारण से उत्पन्न होते हैं, (देवानां एकं महत् असुरत्वं) और परमेश्वर ने पृथिवी आदि पञ्चभूत देवों में से इसी वायु देव को प्रज्ञावत्त्व प्राणवत्त्व या धनवत्त्व का एक महान् गुण प्रदान किया है।

एवं, इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य पशु पक्षी और ओषधि वनस्पति, इन सब प्राणिओं में जो रस है, वह वायु के कारण ही उत्पन्न होता है। इस रस के द्वारा यह इन प्राणिओं का पोषण करता है। गर्भ या बीज की स्थिति भी इसी वायु के कारण है, वायु के बिगाड़ से गर्भ या बीज कभी स्थित नहीं होता। एवं, प्रज्ञा जीवन या वसु के देने की शक्ति भी इसी में स्थापित की गई है।

वायु सर्वरूप है, इसकी पुष्टि के लिये ६२३ पृ० देखिए। भुवन = भूत = उदक, रस। असुर = प्रज्ञावान्, प्राणवान्, वसुमान्। 'असु' से 'मतुप्' अर्थ में 'र' प्रत्यय। असु = प्रज्ञा, प्राण, वसु। 'असु' का प्राण अर्थ तो प्रसिद्ध है, प्रज्ञावाची 'असु' शब्द 'असु' क्षेपणे धातु से 'उ' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। प्रज्ञा के द्वारा मनुष्य अनर्थों को दूर करता है और इस प्रज्ञा में ही चारों पुरुषार्थ डाले हुए हैं। वसु—असु, यहां आयु (वायु) की तरह वकार का लोप है ॥ ९। ३३ ॥
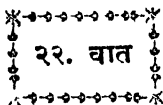
२२. वात

वातो वातीति सतः। तस्यैषा भवति—

वात आवातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ १०. १८६. १

वात आवातु भैषज्यानि शम्भु मयोभु च नो हृदयाय, प्रवर्द्धयतु च न आयुः ॥ १० । ३४ ॥

वात = गन्धवह वायु, 'वा' गन्धनयोः + तन् (उणा० ३. ८६)। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(वातः) गन्धवह वायु (नः हृदे) हमारे हृदय के लिये (शम्भु मयोभु भेषजं आवातु) शान्तिदायक और आरोग्यताप्रद औषध को लिये हुए संचार करे, (नः आयूषि प्रतारिषत्) और उससे हमारी आयुओं को दीर्घ करे।

भेषजं = भैषज्यानि, शम्भु मयोभु में 'शि' का लोप है । प्रतारिषत् = प्रवर्द्धयतु ॥ १० । ३४ ॥

२३. अग्नि
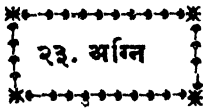
अग्निर्व्याख्यातः । तस्यैषा भवति—

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥ १.१६.१

तं प्रति चारुमध्वरं सोमपानाय प्रहूयसे । सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छ—इति कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् ॥ ११ । ३५ ॥

अग्नि की व्याख्या ४९८ पृ० पर कर चुके हैं । वहां इसका अर्थ आग है, परन्तु यहां यह विद्युद्वाची है । विद्युत् मनुष्योपकारी कार्यों में अग्रस्थान को पाती है, और शिल्पयज्ञों में भी अग्रेसर है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अग्ने त्यं चारुं अध्वरं प्रति) हे विद्युत् ! तू उस सुन्दर यज्ञ में (गोपीथाय प्रहूयसे) ऐश्वर्य की रक्षा या ऐश्वर्यपान के लिये बुलायी जाती है, (मरुद्भिः आगहि) सो तू विशेष २ वायुओं के साथ उसमें प्राप्त हो ।

विद्युत् को जब अम्लजन, उद्रजन, नत्रजन, या हरिण आदि भिन्न २ वायुओं से संयुक्त किया जाता है, तब विविध प्रकार के रंगों से रञ्जित बड़ी सुन्दर रोशनी होती है। एवं, विद्युत् और वायु का यह चमत्कार अत्यद्भुत दृष्टिगोचर होता है । इसीप्रकार बिना तार के तारवर्की, जो कि ऐश्वर्य की रक्षा के लिये अत्युपयोगी है, उसकी सिद्धि भी विद्युत् और वायु के संयोग से होती है । विद्युत् की लहरें त्रितनामक वायु (ईथर) में चलती हैं, और उससे इस समाचार-प्रबंध की रचना है ।

एवं, यह मंत्र मध्यमस्थानीय विद्युत् के सिवाय अन्य किस देवता के बारे में ऐसा कह सकता है, अतः यहां 'अग्नि' विद्युद्वाचक ही है ।

गोपीथ=सोमपान, गो=सोम=ऐश्वर्य, पान=रक्षा, पान ॥ ११।३५ ॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥ १. १९.९

अभिसृजामि त्वा पूर्वपीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयं सोऽग्ने मरुद्भिः सहागच्छेति ॥ १२।३६ ॥

उस अग्नि को विद्युद्वाची सिद्ध करने के लिये 'अभित्वा पूर्वपीतये' आदि दूसरी ऋचा, जोकि उसी सूक्त की अन्तिम है, दी गयी है। उसका अर्थ इसप्रकार है—

(अग्ने पूर्वपीतये) हे विद्युत् ! अभ्युदय की रक्षा के लिये (सोम्यं मधु त्वा) ऐश्वर्यस्वरूप प्रिय तुझ को (अभिसृजामि) मैं उत्पन्न करता हूं। (मरुद्भिः आगहि) सो, तू विशेष २ वायुओं के साथ मिलकर हमें प्राप्त हो ।

मनुष्य का धर्म है कि वह अभ्युदय और निःश्रेयस, इन दोनों ऐश्वर्यों की रक्षा करे। इन में से अभ्युदय पहला है, अतः उसकी रक्षा के लिये (पूर्वपानाय) विद्युत् और वायु के मेल से अद्भुत वैज्ञानिक कर्म सिद्ध करने चाहियें ॥१२।३६॥

* चतुर्थ पाद *
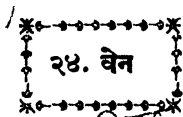
२४. वेन वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः । तस्यैषा भवति—

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां संगमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति ॥१०.१२३.१

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भाः प्राष्टवर्णगर्भा आप इति वा । ज्योतिर्जरायुर्ज्योतिरस्य जरायुस्थानीयं भवति । जरायुर्जरया

गर्भस्य, जरया यूयत इति वा । इममपां च संगमे सूर्यस्य च शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति=लिहन्ति=स्तुवन्ति=वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा । शिशुः शंसनीयो भवति, शिशीतेर्वा स्याद्दानकर्मणः, चिरलब्धो गर्भो भवति ॥ १।३७ ॥

वेन=समानवायु, यह नाभिस्थान में रहती है, और अन्नरस को परिपक्व करती है । निघण्टुपठित कान्त्यर्थक 'वेन' धातु से 'घ' प्रत्यय करने पर 'वेन' की सिद्धि होती है, समानवायु पाचनकर्म के कारण प्रिय है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अयं वेनः) यह समानवायु (पृश्निगर्भाः चोदयत्) तेजस्विता को धारण करने वाले परिपक्व रसों का सर्वशरीर में पहुंचाता है । (रजसः विमाने) यह वेन उन रसों के निर्माणकाल में (ज्योतिर्जरायुः) जाठराग्नि-ज्योति से आवृत होता है । (विप्राः इमं) बुद्धिमान् लोग इस वायु को, जो कि (अपां संगमे सूर्यस्य) अनेक रसहरा नाड़ियों और पिङ्गला नाड़ी के संगमस्थान नाभिकन्द में स्थित है, (शिशुं न) नवजात बच्चे की तरह (मतिभिः रिहन्ति) हृदय से प्यार करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, उसकी वृद्धि करते हैं, या उसको पूजित करते हैं ।

पृश्निगर्भाः=प्राप्तवर्णगर्भा आपः, पृश्निः प्राष्टवर्णः प्राप्ततेजाः गर्भः इति पृश्निगर्भः । 'पृश्नि' का निर्वचन १३७ पृ० पर देखिए । **जरायु**=गर्भ का आवरण उल्व । (क) यह गर्भ की जरावस्था के साथ रहता है, अर्थात् ज्यों ज्यों गर्भ की वृद्धि होती है, त्यों त्यों यह भी बढ़ता रहता है । जरया यूयते इति जरायुः, जरा+'यु' मिश्रणे । (ख) अथवा, यह जरा अर्थात् जेर के साथ संयुक्त होता है । 'अपां सङ्गमे सूर्यस्य' की व्याख्या के लिये ५८८ पृ० देखिये । **रिहन्ति**—लिहन्ति, स्तुवन्ति, वर्धयन्ति, पूजयन्ति । **शिशु**—(क) नवजात बच्चा प्रशंसनीय होता है, शस्+उ (उणा० १. २०) । इसीप्रकार ३९८ पृ० पर 'शशमान' की सिद्धि की गई है । (ख) दानार्थक 'शिशो' (३६४ पृ०) धातु से 'उ' प्रत्यय, शिशु धारण करने के लिये स्त्री को दिया जाता है, अतएव स्त्रियों में यह वाद प्रसिद्ध है कि मैंने देर से गर्भ को पाया है ॥ १ । ३७ ॥

२५. असुनीति

असुनीतिरसून् नयति । तस्यैषा भवति—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सुप्रतिरा न आयुः ।
रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्द्धयस्व ॥ १०.५९.५

असुनीते ! मनो अस्मासु धारय चिरं जीवनाय, प्रवर्द्धय च न आयुः, रन्धय च नः सूर्यस्य सन्दर्शनाय ।

रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते—'मा रधाम द्विषते सोम राजन्' इत्यपि निगमो भवति । घृतेन त्वमात्मानं तन्वं वर्धयस्व ॥२।३८॥

असुनीति—प्राण वायु, यह सब ज्ञानेन्द्रियों को चलाती है । अतएव उपनिषद् ने कहा है 'प्राणमनुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति'। अर्थात् प्राण के उड़ जाने पर सब इन्द्रियें उसके साथ ही निकल जाती हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(असुनीते ! जीवातवे) हे प्राण ! तू चिरजीवन के लिये (अस्मासु मनः धारय) हमारे में मन आदि ज्ञानेन्द्रियों को धारण कर, (नः आयुः सुप्रतिर) और हमारी आयु को सुदीर्घ कर । (न. रारन्धि) तू हमें साधनसंपन्न बना, अथवा तू हमारे वशगत हो, (सूर्यस्य संदृशि) जिस से कि हम सूर्य के सम्यक्तया दर्शन के लिए समर्थ रहें, अर्थात् हमारी नेत्रज्योति अन्त तक बड़ी तीक्ष्ण रहे । (त्वं तन्वं घृतेन वर्द्धयस्व) और तू अपने शरीर को जल से प्रवृद्ध कर।

'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' यहां छान्दोग्योपनिषद् ने प्राण की उत्पत्ति जल से बतलायी है । जीवातवे = चिरं जीवनाय । संदृशि = संदर्शनाय । 'राध' धातु धातुपाठ में संसिद्धि अर्थ में पठित है, परन्तु वशगमन अर्थ में भी प्रयुक्त होती है । इस की सिद्धि में आचार्य ने 'मा रधाम द्विषते' आदि मंत्र का प्रमाण दिया है, जो कि इसप्रकार है—

देवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वेदेवास इह वीरयध्वम् । मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥१०.१२८.५

देवता—विश्वेदेवाः । (षट् उर्वीः देवीः !) सूर्य, पृथिवी, दिन, रात, जल और ओषधि, ये छै महान् देवियो ! (नः उरु कृणोत) तुम हमें विस्तृत सुख प्रदान करो । (विश्वेदेवासः इह वीरयध्वम्) और, हे समस्त विद्वान् लोगो ! आप सब मिलकर इस राष्ट्र में ऐसा पराक्रम दिखावें (मा प्रजया हास्महि) कि हम सन्तान से वियुक्त न हों, (मा तनूभिः) और नाही अपने शरीरों से वियुक्त हों । अर्थात्, हमारी और हमारी सन्तान की अकालमृत्यु न होने पावे । (राजन् ! द्विषते मा रधाम) तथा, हे राजन् ! आप ऐसा पराक्रम करें कि हम कभी भी शत्रु के वशंगत न हों ।

सायण ने इसी मंत्र की व्याख्या में 'षड्देवीः' का अर्थ करते हुए किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का यह प्रमाण दिया है— **षण्मोर्वी रंहसः पान्तु, द्यौश्च पृथिवीचाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्चेति ॥ २।३८ ॥**

२६. ऋत

ऋतो व्याख्यातः । तस्यैषा भवति—

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीॠतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥४.२३.८

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः, ऋतस्य प्रज्ञा वर्जनीयानि हन्ति, ऋतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णावातृणत्ति, बधिरो बद्धश्रोत्रः, कर्णौ बोधयन् दीप्यमानश्चायोरयनस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो वा उदकस्य वा ॥ ३।३९ ॥

ऋत की व्याख्या १५६ पृ० पर कर चुके हैं। वहां इस का अर्थ जल है, परन्तु यहां यह मेघ या विद्युत् का वाचक है, अतएव यास्काचार्य ने 'ऋतस्य' का अर्थ 'ज्योतिषो वा, उदकस्य वा' किया है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(ऋतस्य हि शुरुधः पूर्वीः सन्ति) मेघ का जल पहले संचित होता रहता है, और फिर (ऋतस्य धीतिः वृजिनानि हन्ति) मेघ की वृष्टि-प्रज्ञा दुष्काल-तम का नाश करके पापों का नाश करती है। (ऋतस्य बुधानः शुचमानः श्लोकः) तथा मेघ की उग्र गर्जना, जोकि देदीप्यमान होकर मनुष्यों के कर्तव्य का बोध कराती है, वह (बधिरा आयोः) बहिरे मनुष्य के भी (कर्णा आततर्द) कानों को खोल देती है।

(१) **'बुभुक्षितः किं न करोति पापम् । क्षीणाः नरा निष्करुणा भवन्ति'** के अनुसार भूखा मनुष्य क्या २ पापकर्म नहीं करता। परन्तु सुवृष्टि के होने पर प्रचुर सस्य उत्पन्न होते हैं, और मनुष्य पापों से बच जाता है। एवं, यह मेघ पापों का नाश करने वाला है।

(२) मेघ का गर्जन-शब्द सदा विद्युत्प्रकाश के पश्चात् ही सुनाई दिया करता है। मेघों के संघर्षण से विद्युत्प्रकाश और गर्जन, दोनों साथ २ ही पैदा हुआ करते हैं, परन्तु प्रकाश की गति बड़ी तेज है, अतः भूमि पर प्रकाश पहले पहुंचता है और शब्द उसके पीछे आता है।

(३) बृहदारण्यक उपनिषद् में मेघ-गर्जन से अत्युत्तम शिक्षाओं का प्रतिपादन किया गया है। वहां (५. २ ब्रा०) लिखा है — 'तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति, दाम्यत दत्त दयध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति'। अर्थात्, यह स्तनयित्नु दैवी वाणी 'ददद' का उच्चारण करती हुई मानो कि मनुष्यों को यह शिक्षा दे रही है कि हे मनुष्यो! तुम सदा इन्द्रिय-दमन दान और दया, इन तीनों दकार-धर्मों का पालन किया करो। इसलिये गुरु अपने शिष्य को सदा दमन दान और दया, इन तीनों दकारों की शिक्षा दे। इसी भाव का द्योतक उपर्युक्त मंत्र में 'बुधानः' शब्द है।

(४) मंत्र का चौथा भाव यह है कि यह मेघ-गर्जन इतना ऊंचा होता है कि कभी २ बहिरे मनुष्यों के कान भी खुल जाते हैं। एवं, इस मंत्र ने कर्ण-चिकित्सा के इस भाग की ओर भी प्रकाश डाला है कि शब्द-प्रहार के द्वारा बन्द कानों को खोला भी जा सकता है। आज कल के योग्य चिकित्सक इस चिकित्सा में सफल भी हुए हैं।

वृजिन = वर्जनीय = पाप। बधिरा = बधिरस्य, बहिरा 'बधिर' का ही अपभ्रंश है। बध्यते शब्दश्रवणान्निरुध्यते श्रोत्रमस्य सो बधिरः, बध + किरच् (उणा० १.५१)। आयु = अयन = मनुष्य, क्योंकि यह उद्योगी होता है। शुचमानः = दीप्यमानः॥ ३। ३९॥

२७. इन्दु　　इन्दुरिन्धेरुनत्तेर्वा, तस्यैषा भवति-

प्र तद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मन्म रेजति रक्षोहा मन्म रेजति। स्वयं सो अस्मदानिदो वधैरजेत दुर्मतिम् अवस्रवेदघशंसोऽवतरमवक्षुद्रमिव स्रवेत्॥ १. १२९. ६

प्रब्रवीमि तद्भव्यायेन्दवे, हवनार्ह इव य इषवान् अन्नवान् कामवान् वा मननानि च नो रेजयति, रक्षोहा च बलेन रेजयति। स्वयं सो अस्मदभिनिन्दितारम् वधैरजेत दुर्मतिम्। अवस्रवेदघशंसः। ततश्चावतरं क्षुद्रमिवावस्रवेत्। अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथाहो दर्शनीयाहो दर्शनीयेति। तत् परुच्छेपस्य शीलम्।

परुच्छेप ऋषिः, पर्ववच्छेपः, परुषि परुषि शेपोऽस्येति वा।
इतीमानि सप्तविंशतिर्देवतानामधेयान्यनुक्रान्तानि सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि, तेषामेतान्यहविर्भाञ्जि, वेनोऽसुनीतिर्ऋतं इन्दुः ॥४।४०॥

इन्दु = चन्द्रमा, यह रात्रि के समय चमकता है, और अपनी चन्द्रिका से पदार्थों को गीला करता है। 'इन्धी' दीप्तौ या 'उन्दी' क्लेदने से 'उ' प्रत्यय (उणा० १.१२)। चन्द्र तथा नक्षत्रों का स्थान अन्तरिक्ष है, और द्युलोक में स्वयं-प्रकाशमान सूर्यलोकों का निवास है, अतः इन्दु मध्यमस्थानीय है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(भव्याय इन्दवे) मैं भव्य स्वरूप वाले चन्द्रमा के (तत् प्रवोचम्) महत्त्व को बतलाता हूं। (यः हव्यः न इषवान् मन्म रेजति) जो हवनयोग्य संस्कृत पदार्थों की तरह उत्तम अन्न को पैदा करने वाला या अभीष्ट कामना को पूर्ण करने वाला है, और जो अनेक प्रकार के उत्तम विचारों को उत्पन्न करता है, (रक्षोहा मन्म रेजति) तथा जो दुर्वासनाजन्य वृत्तियों का नाश करने वाला, अवश्यमेव बलपूर्वक उत्तम विचारों को उत्पन्न करता है, (सः वधैः आनिदः दुर्मति स्वयं) वह घातक कर्मों के कारण नास्तिक दुर्बुद्धि को स्वयमेव (अस्मत् अजेत) हम आस्तिकों में ले आता है (अघशंसः अवक्रवेत्) इस चन्द्रदर्शन से पापाभिलाषी पाप को छोड़ देता है, (अवतरं क्षुद्रं इव अवक्रवेत्) और जहां तक कि जैसे किसी अत्यन्त तुच्छातितुच्छ पदार्थ को फैंक दिया जाता है, वैसे वह पाप को दूर फैंक देता है।

चन्द्रमा के कारण ही अन्नों में रस पड़ता है, और अन्न को परिपुष्टि होती है, अतएव इसको 'ओषधिपति' कहा जाता है। चन्द्र का स्वरूप बड़ा भव्य है। रात्रि के समय एकान्त में बैठ कर जब कोई श्रान्त पथिक चन्द्रमा की ओर दृष्टि डालता है तो उस का हृदय प्रफुल्लित होने लगता है, उसे कुछ देर के लिये शान्ति-सरोवर में स्नान करने का सौभाग्य मिलता है, और उस का मन अनेक प्रकार के सद्विचारों से परिपूर्ण होने लगता है। इस चन्द्रमा को देखने से उसके मन में स्वयमेव कई उत्तम भाव उद्बुद्ध होते हैं, और उन विचारों से मनुष्य परमेश्वर के अस्तित्व को अनुभव करता हुआ सच्चा ईश्वर-भक्त होजाता है।

मन्मन् = मनन। आनिदः = अभिनिन्दितारम्। इस मंत्र में जो 'मन्म रेजति' और 'अवक्रवेत्' का दुबारा पाठ है, वह आशय को और अधिक दृढ़ करने के लिये है, क्योंकि तत्त्वदर्शी लोग अभ्यास में अधिक अर्थ को समझते हैं। जैसे कि वर्षाकाल में मेघों की अपूर्व शोभा को देख कर सहसा यह कहा जाता है कि

अहो ! यह दर्शनीय है, अहो ! यह दर्शनीय है ।

यह अभ्यास का स्वभाव परुच्छेप—दृष्ट सूक्तों का है । ऋ० १ मण्डल १२७ से १३९ तक के १३ सूक्तों का ऋषि 'परुच्छेप' है । इन सूक्तों में इसप्रकार के अभ्यास-वचन प्रायः करके आते हैं । उन सब का आशय इसीप्रकार विशेषतया उन अर्थों की ओर ध्यान का आकर्षित करना ही है ।

परुच्छेप = मंत्रद्रष्टा ऋषि । (क) परुष् + शेप, इस का (शेप) वीर्य (परुष) तेजस्वी है (११७ पृ०) । (ख) अथवा, इस के अङ्ग अङ्ग में वीर्य रमा हुआ है । परुष् = भास्वान्, अङ्ग ।

वायु से लेकर इन्दु तक २७ देवताओं का व्याख्यान किया गया, जिन में से कई सूक्तभाक् हैं, और कई हविर्भाक् भी हैं । उन में से वेन असुनीति ऋत और इन्दु, ये अन्तिम चार देवता हविर्भाक् नहीं हैं । अर्थात्, इन देवताओं वाले मंत्रों का विनियोग किसी भी यज्ञ में आहुति देने के लिए नहीं है ॥ ४ । ४० ॥
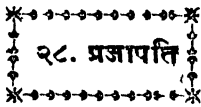
२८. प्रजापति

प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वा । तस्यैषा भवति—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १०. १२१. १०

प्रजापते नहि त्वदेतान्यन्यः सर्वाणि जातानि तानि परिबभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु, वयं स्याम पतयो रयीणाम्, इत्याशीः ॥ ५ । ४१ ॥

प्रजापति = प्रजारक्षक या प्रजापालक वायु । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(प्रजापते) हे प्राणवायु ! (त्वत् अन्यः) तेरे से भिन्न कोई दूसरा (ता एतानि विश्वा जातानि न परिबभूव) इन सब प्राणियों की रक्षा करने वाला नहीं । (यत्कामाः ते जुहुमः) हम जिस वैदिक कर्मयोग की कामना करते हुए प्राणायाम के द्वारा तेरा प्राण-होम करते हैं, (तत् नः अस्तु) हमारी वह कामना पूर्ण हो, (वयं रयीणां पतयः स्याम) और हम इन्द्रिय-धनों के स्वामी हों । अर्थात्, इन्द्रियें हमारे आधीन रहें, हम उन के वशवर्ती न हों ।

परिभव=रक्षा (६१६ पृ०)। 'यत्कामास्ते जुहुमः' आदि प्रार्थना-वचन है ॥ ५ । ४१ ॥

२६. अहि

अहिर्व्याख्यातः। तस्यैषा भवति—

अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन् ॥ ७.३४-१६

अप्सुजम् उक्थैरहिं गृणीषे, बुध्ने नदीनां रजःसु उदकेषु सीदन्। बुध्नमन्तरिक्षं, बद्धा अस्मिन् धृता आपः। इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव, बद्धा अस्मिन् धृताः प्राणा इति ॥ ६ । ४२ ॥

अहि=मेघस्थ विद्युत्। अहि की व्याख्या १४२ पृ० पर कर आये हैं। विद्युत् मेघसंचारी है, और मेघ का हनन करती है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(उक्थैः) हे राजन्! तू मंत्रों से यज्ञ करता हुआ (अब्जां अहिं गृणीषे) जल में उत्पन्न होने वाली मेघस्थ विद्युत् की स्तुति कर, (नदीनां बुध्ने) जोकि जलों के धारणस्थान अन्तरिक्ष में (रजःसु सीदन्) जलों में वर्तमान होती है।

रजस्=उदक। बुध्न=अन्तरिक्ष, क्योंकि इस में जल बद्ध होते हैं, अर्थात् धरे हुए होते हैं, बध्+नक् (उणा० ३. ५)। 'बुध्न' का अर्थ सिर भी होता है, क्योंकि इस में प्राण या ज्ञानेन्द्रियें बंधी हुई हैं, धरी हुई हैं ॥ ६ । ४२ ॥

३०. अहिर्बुध्न्य

योऽहिः स बुध्न्यः, बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्। तस्यैषा भवति—

मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः ॥ ७. ३४. १७

मा च नोऽहिर्बुध्न्यो रेषणाय धात्, माऽस्य यज्ञोखा च स्रिधद् यज्ञकामस्य ॥ ७ । ४३ ॥

अहिर्बुध्न्य=अन्तरिक्षस्थ मेघ, बुध्ने अन्तरिक्षे निवसतीति बुध्न्यः,

बुध्न+यत्। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अहिर्बुध्न्यः नः रिषे मा धात्) यह अन्तरिक्षस्थ मेघ हमारे नाश के लिये अपने को धारण न करे (अस्य ऋतायोः यज्ञः मा स्रिधत्) और इस यज्ञकर्ता की यज्ञस्थाली कभी उच्छिन्न न हो।

एवं, उपर्युक्त दोनों मंत्रों का सम्मिलित भाव यह है कि अतिवृष्टि, उचित समय के विपरीत वृष्टि या अपरिशुद्ध जल की वृष्टि सदा हानि पहुंचाने वाली हुआ करती है। दुष्काल के पड़ने से यज्ञ बन्द होजाते हैं, और यज्ञार्थ हविपाक की स्थाली उच्छिन्न होजाती है। अतः, यज्ञों के द्वारा ऐसी अनभिमत वृष्टि को दूर करके उत्तम वृष्टि का निर्माण करना चाहिये।

ऋतायु=यज्ञकामा। इस मंत्र में यास्काचार्य ने यज्ञ का अर्थ 'यज्ञोखा' अर्थात् यज्ञस्थाली किया है। उखा=स्थाली=पतीला ॥ ७। ४३॥

३१. सुपर्ण

सुपर्णो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥ १०. ११४. ४

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविशति, स इमानि सर्वाणि भूतान्यभिविपश्यति। तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितः— इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। तं माता रेढि वागेषा माध्यमिका, स उ मातरं रेढि ॥ ८। ४४॥

सुपर्ण=प्राण वायु, इस का संचरण जीवनप्रद है, अथवा यह पक्षी के समान है, अतएव भाषा में 'प्राण-पखेरु का उड़ना' बड़ा प्रसिद्ध है। सुपर्ण का निर्वचन १९६ पृ० पर कर आये हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(एकः सुपर्णः) एक सुपर्ण नामक प्राण है, (सः समुद्रं आविवेश) वह हृदय-अन्तरिक्ष में प्रविष्ट है। (सः इदं विश्वं भुवनं विचष्टे) वह इन सब प्राणिओं पर कृपा दृष्टि रखता है। (तं पाकेन मनसा अन्तितः अपश्यम्) उसका

मैंने परिपक्व मन से अर्थात् शुद्धान्तःकरण से पूर्णतया साक्षात्कार किया। (तं माता रेढि) उसको कभी वाणी ग्रहण करती है, (उ सः मातरं रेढि) और कभी वह वाणी को ग्रहण करता है।

प्राण अपान आदि १० प्राण—वायुयें हैं, जिन में से एक प्राण नामक वायु हृदय में निवास करती है, जैसे कि शिवस्वरोदय में कहा है 'हृदि प्राणो वसेन्नित्यम्'। उस प्राण के माहात्म्य को शुद्धान्तः—करण से ही पूर्णतया जाना जा सकता है। इस प्राण को भोगी मनुष्यों की वाणी आदि इन्द्रियें अपने आधीन कर लेती हैं, परन्तु योगी मनुष्यों की इन्द्रियें सदा प्राण के आधीन रहती हैं।

(दृष्टार्थस्य ऋषेः०) एवं, जिस तत्त्वदर्शी ने प्राण—तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया हो, उसे उपर्युक्त कथन के अनुसार ही प्राण के विषय में प्रीति होती है।

समुद्र = अन्तरिक्ष, हृदय। माता = वाणी, जो कि शरीर में रहती है और जिस की स्थिति मध्यमस्थानीय वायु के साथ है॥ ८। ४४॥

३२. पुरूरवस्
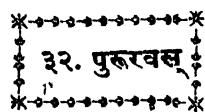
पुरूरवा बहुधा रोरूयते। तस्यैषा भवति—

समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्द्धन्नद्यः स्वगूर्त्ताः। महे यत्त्वा पुरूरवो रणायावर्द्धयन्दस्युहत्याय देवाः॥ १०.९५. ७

समासतास्मिञ्जायमाने ग्ना गमनादापः देवपत्न्यो वा, अपि चैनमवर्द्धयन्नद्यः स्वगूर्त्ताः स्वयंगामिन्यः महते च यत्त्वा पुरूरवो रणाय रमणीयाय संग्रामायावर्द्धयन् दस्युहत्याय च देवाः॥ ६। ४५॥

पुरूरवस् = घनघोर घटा वाला मेघ, यह बारबार गर्जता है, पुरु + 'रु' शब्दे + असुन्। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(पुरूरवः) हे मेघ! वर्षाकाल में (यत् त्वा देवाः) जब तुझे वायुयें (महे रणाय) महान् रमणीय संग्राम (दस्युहत्याय अवर्द्धयन्) और दुष्काल—नाश के लिए प्रवृद्ध करती हैं, (अस्मिन् जायमाने) तब तेरे प्रवृद्ध होने पर (ग्नाः समासत) तुझ में जल स्थित होते हैं, (उत स्वगूर्त्ताः नद्यः ईम् अवर्द्धयन्) और वे जल स्वयं मेघ रूप को प्राप्त होकर तुझे बढ़ाते हैं।

वर्षाकाल में मेघ और विद्युत् का संग्राम बड़ा मनोहारी दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति की शोभा को देखने वाले कवि लोग इस की रमणीयता को देख कर मुग्ध हो जाते हैं।

ग्ना = गमनशील जल, ऋतुगामिनी स्त्री (२३३ पृ०)। स्वगूर्त्ताः = स्वयं-गामिन्यः। ईम् = एनम्।

इस संपूर्ण सूक्त (१०.९५) में पुरूरवा और उर्वशी का संवाद पाया जाता है। उर्वशी को देवपत्नी मान कर यास्काचार्य इस सूक्त का दूसरा अर्थ भी करते हैं, अतएव उन्होंने 'ग्नाः' का अर्थ द्वितीय पक्ष में 'देवपत्न्यो वा' किया है। इस सूक्त का भाव अभी तक मेरी समझ में नहीं आया, अतः यहां इस पर कुछ नहीं लिख सकता। यदि शीघ्र समझ में आगया तो दैवतकाण्ड के अन्त में इस सूक्त का भी उल्लेख कर दिया जावेगा॥ ९। ४५

एकादश अध्याय ।

* प्रथम पाद *

१. श्येन

श्येनो व्याख्यातः । तस्यैषा भवति—

आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवाँ अयुतं च साकम् । अत्रा पुरन्धिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥ ४.२६.७

आदाय श्येनोऽहरत् सोमं सहस्रं सवान् अयुतं च सह । सहस्रं सहस्रसाव्यमभिप्रेत्य, तत्रायुतं सोमभक्षाः, तत्संबन्धेनायुतं दक्षिणा इति वा । तत्र पुरन्धिरजहादमित्रान् अदानानिति वा, मदे सोमस्य मूरा अमूरः । ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतः, तस्मादिन्द्रं मन्यन्ते ॥ १ ॥

श्येन = ओषधियों में रस को डालने वाली वायु । श्येन का निर्वचन २८८ पृ० पर कर चुके हैं । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(सवान् सहस्रं साकं अयुतं च)) सहस्रसाव्य काल में, जिस में कि ओषधिओं में प्रचुर रस डलते हैं, और उस सुकाल के संबन्ध से प्रचुर अन्न-रस भक्षण करने के लिए प्राप्त होते हैं, या प्रचुर दान किया जाता है, (श्येनः) तब रसवाही वायु (सोमं आदाय अभरत्) रस को लेकर ओषधिओं में डालती है । (अत्र पुरन्धिः अमूरः) उस सुकाल के समय प्रचुर अन्न को देने वाली और मृत्यु से बचाने वाली रसवाही वायु (सोमस्य मदे) अन्न से तृप्ति के होजाने पर, (मूराः अरातीः अजहात्) अन्यों को भूखा मारने वाले क्रूरजनों या कृपणों को दूर करती है ।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि ओषधियों में रस को डालने वाली वायु है। वह जब अन्नों में प्रचुर रस को डालती है, तब सुभिक्ष होता है, मनुष्यों को पेटभर खाने को मिलता है और दान भी बहुत किया जाता है। प्रचुर अन्न के कारण मनुष्यों की तृप्ति होजाती है, और उस से एकाकीभोजी क्रूर या कृपण लोग नहीं रहते, प्रत्युत उनकी क्रूरता और कृपणता नष्ट हो जाती है।

इस मंत्र में 'सहस्र' और 'अयुत' शब्द प्रचुरता के वाचक हैं, हजार और दस हजार के नहीं। जैसे कि बृहदारण्यकोपनिषद् में 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ......युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश' मंत्र की व्याख्या करते हुए 'अयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि' लिखा है (४.५.१९)।

अराति = अमित्र (क्रूर) अदान (कृपण)। 'अराति' शब्द वेद में स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है। मूर = मृत्यु, यह 'मृङ्' प्राणत्यागे से सिद्ध होता है। आपटे ने 'मूर' के इस अर्थ को स्वीकार किया है। पुरन्धि—पुरन्धि।

ऋ० ४ मण्डल २६ सूक्त में सात मंत्र हैं, जिन में से पहिले तीन मंत्रों का देवता इन्द्र है, और पिछले चारों का श्येन। एवं, 'श्येन' देवता इन्द्रसूक्त में और 'आदाय सोमम्' से सोमपान से स्तुत है, अतः विद्वान् लोग इस श्येन को इन्द्रवाची मानते हैं॥ १॥
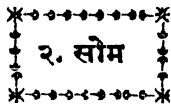
२. सोम

ओषधिः सोमः सुनोतेः, यदेनमभिषुण्वन्ति। बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तम्, आश्चर्यमिव प्राधान्येन। तस्य पावमानीषु निदर्शनायोदाहरिष्यामः—

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः॥ ९. १.१.

इति सा निगदव्याख्याता॥ २॥

सोम = सोम ओषधि, यह ओषधि कौन सी है, उसका वर्णन अभी आगे किया जावेगा। यह 'सोम' शब्द 'षुञ्' अभिषवे से 'मन्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है, इस का रस निकाला जाता है।

वेद में इस सोम ओषधि का गौणभाव से वर्णन बहुत है, परन्तु प्रधानतया थोड़ा पाया जाता है। हम पावमानी ऋचाओं, अर्थात् 'पवमानः सोमः'

इस देवता वाली ऋचाओं में आये उस के प्रधान वर्णन को निदर्शन के तौर पर उदाहृत करते हैं, जो कि 'स्वादिष्ठया मदिष्ठया' आदि मंत्र में है। उसका अर्थ इसप्रकार है—

(सोम ! सुतः) हे सोम ओषधि ! निचोड़ी हुई तू (इन्द्राय पातवे) तेजस्वी मनुष्य के पान के लिये (स्वादिष्ठया मदिष्ठया धारया पवस्व) स्वादुतम तथा अत्यन्त प्रसन्नताप्रद रस-धारा के साथ प्राप्त हो।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि सोमरस बड़ा स्वादु और प्रसन्नताप्रद होता है ॥ २ ॥

अथैषाऽपरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा—

सोमं मन्यते पपिवान्यत्सम्पिषन्त्योषधिम्। सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ १०. ८५. ३

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिमिति वृथासुतमसोममाह। सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चनायज्वा—इत्यधियज्ञम्।

अथाधिदैवतम्—सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिमिति यजुःसुतमसोममाह। सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्नाति कश्चनादेव इति ॥ ३ ॥

अब, यास्काचार्य 'सोमं मन्यते' आदि एक और ऋचा प्रस्तुत करते हैं, जिस में 'सोम' चन्द्रमा तथा सोम ओषधि, इन दोनों का वाचक है। चन्द्रमा को सोम इस लिये कहा जाता है कि यह चन्द्रिकामृत-रस का सवन करता है और इस का सोम ओषधि से विशेष संबन्ध है, जैसा कि अभी आगे चल कर पता लगेगा। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(यत् ओषधिं सम्पिषन्ति) जिस सोम ओषधि को विधिरहित मूर्ख लोग पीसते हैं, (पपिवान् सोमं मन्यते) और जिसे यम नियमादि साधनों से रहित अयाज्ञिक मनुष्य ने पीकर यह समझा कि मैंने सोम को पी लिया, वह वृथासुत और वृथापीत सोम सोम नहीं। (यं सोमं ब्रह्माणः विदुः) क्योंकि, जिस को ब्राह्मण लोग सोम समझते हैं, (तं कश्चन न अश्नाति) उसको कोई यम-

नियमादि साधनों से रहित अयाज्ञिक मनुष्य नहीं भोग सकता।

एवं, इस मंत्र का 'यत्सम्पिषन्ति ओषधिम्' यह वचन विधिरहित सुत सोम को असोम कहता है। अर्थात्, विधिरहित निकाले हुए सोम के सेवन से कोई विशेष लाभ नहीं होता। इसीप्रकार यदि यम नियमादि साधनों का उल्लङ्घन करके सोम का पान किया जावे, तब भी वह लाभकारी सिद्ध नहीं होता। इस वेदाज्ञा की पुष्टि में अभी आगे चलकर सुश्रुत का प्रमाण दिया जावेगा।

यह तो मंत्र का अधियज्ञ अर्थ किया है। अब, अधिदैवत अर्थ दिखलाया जाता है, जो कि इसप्रकार है—

जिस सोम ओषधि को विद्वान् लोग याज्ञिक विधि के अनुसार पीसते हैं, और जिसे यम नियमादि साधनों से सम्पन्न याज्ञिक मनुष्य ने पीकर यह समझा कि मैंने सोम को पी लिया है, वह यजुःसुत और यजुःपीत सोम सोम नहीं। क्योंकि, जिस चन्द्रमा को देवतातत्त्व-दर्शी ब्राह्मण लोग सोम समझते हैं, उस को स्वयंप्रकाशमान सूर्य के सिवाय अन्य कोई नहीं पीता।

एवं, यहां एक सोम के निराकरण से दूसरे सोम का प्रतिपादन किया है, जोकि चन्द्रमा है। इस के चन्द्रिकामृत–रस को सूर्य कृष्णपक्ष में हर लेता है। (३३४ पृ०)।

अथवा, चन्द्रपक्ष में इस मंत्र का दूसरा भाव और है, और वह यह है कि जिस चन्द्रमा को ब्राह्मण लोग सोम समझते हैं, उसको देवजन के सिवाय अन्य कोई दूसरा मनुष्य नहीं पी सकता। अर्थात्, जैसे ६५० पर 'प्रद्वोचेयम् भव्यायेन्दवे' मंत्र में बतलाया गया है, तदनुसार चन्द्र के चन्द्रिकामृत का सच्चा पान देवजन ही कर सकते हैं, कामीजनों का किया हुआ पान अमृत–पान के लाभ को देने वाला नहीं, प्रत्युत वह विषतुल्य ही होता है। इस भाव को देवीपुराण के ग्रहविवेकाध्याय में इसप्रकार प्रदर्शित किया है—

पितेव सूर्यो देवानां सोमो मातेव लक्ष्यते ॥
यथा मातुः स्तनं पीत्वा जीवन्ते सर्वजन्तवः ।
पीत्वामृतं तथा सोमात्तृप्यन्ते सर्वदेवताः ॥ ३ ॥

अथैषा ऽपरा भवति चन्द्रमसो वैतस्य वा—

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः । वायुः
सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ १०. ८५. ५

यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनरिति नाराशंसान् अभिप्रेत्य, पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा। वायुः सोमस्य रक्षिता, वायुमस्य रक्षितारमाह साहचर्याद्रसहरणाद्वा। समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमः, रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा ॥ ४ ॥

अब, 'यत्त्वा देव प्रपिबन्ति' आदि दूसरी ऋचा और दी गई है, जिस में 'सोम' चन्द्रमा तथा ओषधि, दोनों का वाचक है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(देव ! यत् त्वा प्रपिबन्ति) हे दिव्यगुणों वाले सोम ! जब तुझे चन्द्र की कलायें पी लेती हैं, (ततः पुनः आप्यायसे) तदनन्तर पुनः तू बढ़ता है। (वायुः सोमस्य रक्षिता) वायु सोम ओषधि की रक्षा करने वाली है। (मासः समानां आकृतिः) और, यह कालमान का कर्ता सोम वर्षों का कर्ता है—यह अर्थ ओषधि के पक्ष में है। चन्द्र–पक्ष में मंत्र का अर्थ इसप्रकार है—

हे प्रसन्नता को देने वाले चन्द्र ! कृष्णपक्ष में जब तुझे सूर्यरश्मियें पी लेती हैं, तदनन्तर शुक्लपक्ष में पुनः तू बढ़ता है। त्रित वायु चन्द्रमा की रक्षा करने वाली है, और वह कालमान का कर्ता चन्द्रमा वर्षों का कर्ता है।

एवं, 'यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः' यह वचन ओषधिपक्ष में (नाराशंसान् नरैः प्रशस्यान् छदान्) सोमपत्रों के अभिप्राय से है, और चन्द्रपक्ष में शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष के अभिप्राय से कहा गया है।

श्येन वायु सदा सोम के साथ रहती है और उसके लिये निरन्तर रस का आहरण करती है, अतः साहचर्य या रसहरण से वायु सोम की रक्षक है। और, इसीप्रकार त्रित वायु चन्द्र के साथ रहती हुई उसे गति देने वाली है और उसके लिये सूर्य के प्रकाश–रस को लाती है, अतः साहचर्य या रसहरण से वायु चन्द्रमा का भी रक्षक है।

समा=संवत्सर। मास=सोम =सोम ओषधि, चन्द्रमा। ये दोनों अपने भिन्न २ रूपों से वर्ष को बनाने वाले हैं। सोम अपने पत्रों से और चन्द्रमा अपनी कलाओं से पूर्वपक्ष और अपरपक्ष का निर्माण करता हुआ संवत्सरकाल का निर्माता है। सोम के पत्ते चन्द्र–कला के अनुसार घटते और बढ़ते रहते हैं। जिस दिन चन्द्र की जितनी कलायें होगीं, उतने ही उस दिन सोम के पत्ते होगें। पूर्णिमा को सोम के १५ पत्ते होते हैं, और अमावास्या को उसका कोई पत्ता नहीं रहता। आकृति=आकर्ता।

सोम ओषधि के बारे में ऋषिप्रणीत वैद्यक ग्रन्थों की सम्मति का जानना अत्यावश्यक है। उस से सोमविषयक वेदमंत्रों के अनेक रहस्य खुलते हैं। इसके परिज्ञान के लिये सुश्रुत के चिकित्सित स्थान का २९ वां अध्याय विशेष द्रष्टव्य है। उसमें लिखा है कि सोम ओषधि स्थान, नाम, आकृति, और वीर्य के भेद से २४ प्रकार की है, जिस के नाम ये हैं—

अंशुमान्, मुञ्जवान्, चन्द्रमा, रजतप्रभ, दूर्वासोम, कनीयान्, श्वेताक्ष, कनकप्रभ, प्रतानवान्, तालवृन्त, करवीर, अंशवान्, स्वयंप्रभ, महासोम, गरुडाहृत, (श्येनाहृत–देखिए ६५६ पृ०) गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त, जागत, शाक्कर, अग्निष्टोम, रैवत, सोम, और 'उडुपति (नक्षत्रराट्)।

आठवें श्लोक में लिखा है—'एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः'। इस से विदित होता है कि ये सब नाम वेद–प्रतिपादित हैं।

दीर्घायुष्य के लिये सोम के सेवन करने की विधि बड़ी अद्भुत दर्शायी गई है। 'अध्वरकल्पेन हृतमभिषुतम्' से पता लगता है कि यज्ञ–विधि के अनुसार इस का निष्पादन करना चाहिये। और 'यमनियमाभ्यामात्मानं संयोज्य' से बतलाया गया है कि यम नियमों का पालन करते हुए ही इस का सेवन करना चाहिये। एवं, इस में तीन मास तक विशेष नियमों का पालन करना होता है, और तब यह सोम–सेवन–विधि समाप्त होती है। इस विधि से सोम के सेवन करने पर अणिमा, लघिमा आदि आठ सिद्धियें प्राप्त हो जाती हैं।

आगे इन सोमों की पहिचान के लिये लिखा है—

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च॥ २०॥

एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा।
शुक्लस्य पौर्णमास्यां तु भवेत्पञ्चदशच्छदः॥ २१॥

शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः।
कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला॥ २२॥

आगे लिखा है कि अंशुमान् सोम की गंध घी के समान होती है, 'रजतप्रभ' में कन्द होता है, 'मुञ्जवान्' में कदली के आकार का कन्द और लशुन जैसे पत्ते होते हैं, 'चन्द्रमा' सुवर्ण के समान चमकीला है और जल में उत्पन्न होता है,

गरुड़ाहृत और श्वेताक्ष पाण्डुवर्ण के होते हैं तथा सांप की कांचली के समान वृक्ष के अग्र भाग पर लटके रहते हैं। सब प्रकार के सोम १५ पत्तों वाले होते हैं, और इन में दूध, कन्द तथा लता होती है, परन्तु पत्ते भिन्न २ आकार के होते हैं।

इसके आगे फिर यह बतलाया गया है कि ये सोम कहां से प्राप्त होते हैं— उस में लिखा है कि हिमालय, आबू (अर्बुद) सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसह, पारियात्र, और विन्ध्याचल, इन पर्वतों में, देवसुन्द तालाब में, व्यास नदी के उत्तरवर्त्ती पहाड़ों में, और जहां पंजाब की पांचों नदियें सिन्धुनद में मिलती हैं, उस स्थान में, 'चन्द्रमा' सोम पाया जाता है। और उन्हीं के आस पास अंशुमान् तथा मुंजवान् सोम भी हैं। काश्मीर के उत्तर में क्षुद्रकमानस (मान सरोवर) झील है, वहां गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त, जागत, और शाङ्कर सोम पाये जाते हैं।

लगभग २५ वर्ष हुए भारतीय राज्य की ओर से नियुक्त डा० रौक्सबरो ने हिमालय प्रदेश में इस सोम का पता लगाया था। उसने कहा है कि यह सोम नशीला बिलकुल नहीं, और इसका स्वाद शिकंजवी जैसा बड़ा स्वादु है॥ ४॥

३. चन्द्रमस्

चन्द्रमाश्चायन् द्रमति, चन्द्रो माता, चान्द्रं मानमस्येति वा। चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः, चन्दनमित्यप्यस्य भवति। चारु द्रमति, चिरं द्रमति, चमेर्वा पूर्वम्। चारु रुचेर्विपरीतस्य। तस्यैषा भवति—

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्। भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥ १०.८५.१९

'नवो नवो भवति जायमानः' इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य। 'अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्' इत्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य। आदित्यदैवतो द्वितीयः पाद इत्येके। 'भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्' इत्यर्द्धमासेज्यामभिप्रेत्य। प्रवर्द्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः॥ ५॥

चन्द्रमस्—(क) यह ओषधियों पर कृपा दृष्टि रखता हुआ चलता है, चायन्+'द्रम' गतौ+असुन्—चायन्द्रमस्–चन्द्रमस्। (ख) यह कान्तिमान् है

और कालमान का कर्ता है, चन्द्रश्चासौ माः चन्द्रमाः । मा + असि और डिद्भाव, (उणा० ४. १२८) = मस् = माता = कालमान का कर्ता । (ग) यह चान्द्र वर्ष का निर्माता है, चन्द्रस्य चान्द्रस्य कालस्य माः माता इति चन्द्रमाः ।

चन्द्र—(क) कान्ति अर्थवाली 'चदि' धातु से 'रक्' प्रत्यय (उणा० २. १३) । चन्द्र की शोभा अत्यन्त प्रसिद्ध ही है । 'चन्दन' शब्द भी इसी 'चदि' धातु से 'युच्' प्रत्यय (उणा० २.७८) करने पर सिद्ध होता है, चन्दन अपनी सुगन्धि के कारण शोभायमान है । (ख) यह शोभापूर्वक चलता है, चारुद्रम्—चारुन्द्र–चन्द्र । (ग) यह शुक्लपक्ष में देर तक चलता रहता है, देर तक उदित रहता है, चिरद्रम्—चिरन्द्र–चन्द्र । (घ) यह कृष्णपक्ष में सूर्य के द्वारा (चम्यमान) निरन्तर पीयमान होता हुआ चलता है । कृष्णपक्ष में इस की रोशनी घटती जाती है और अमावास्या के दिन यह सर्वथा चन्द्रिकारहित हो जाता है । चम्+द्रम्+ड—चन्द्र, यहां 'चम्' धातु 'द्रम' धातु से पूर्व है। 'चारु' शब्द 'रुच्' दीप्तौ के विपर्यय से निष्पन्न होता है, रुचा—चारु ।

अब मंत्रार्थ देखिए—(चन्द्रमा जायमानः नवः नवः भवति) चन्द्रमा शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक एक कला की वृद्धि से उदित होता हुआ नया नया होता है । (अह्नां केतुः) यह प्रतिपदा आदि तिथि–दिनों का प्रज्ञापक है (उषसां अग्रं एति) और कृष्णपक्ष में प्रतिदिन उषाकाल के पूर्व आता है । (आयन् देवेभ्यः भागं विदधाति) इस प्रकार यह उदित होता हुआ पूर्णिमा तथा अमावास्या के दिनों में पक्षेष्टिओं के द्वारा विद्वान् लोगों को दक्षिणांश प्रदान करता है । (चन्द्रमाः आयुः दीर्घं प्रतिरते) और यह रसदान के द्वारा प्राणिओं की आयु को दीर्घ करता है ।

शुक्लपक्ष में जब चन्द्र का (आदि) उदय होता है, तब कलावृद्धि के कारण यह प्रतिदिन नये नये स्वरूप वाला दृष्टिगोचर होता है । और, इसीप्रकार कृष्णपक्ष में जब यह (अन्त) अस्त होता है तब सब उषाओं के पहले आता है । अर्थात्, सूर्योदय तक चन्द्रमा उदित रहता है । एवं, इस मंत्र में यह भी बतलाया गया है कि (अर्धमासेज्या) पक्षेष्टि-यज्ञ करते हुए विद्वान् जनों को दान देना चाहिये । इसप्रकार, यह मंत्र पक्ष–याग का भी प्रतिपादक है ।

कई आचार्य यह कहते हैं कि 'अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्' यह द्वितीय पाद आदित्यदेवताक है, क्योंकि इस से पहले मंत्र (१०. ८५. १८) 'पूर्वापरं चरतो माययैतौ' में सूर्य और चन्द्र, दोनों का वर्णन है । उन के मत में द्वितीय पाद का अर्थ यह होगा कि उन दोनों में से एक सूर्य दिनों का प्रज्ञापक है और उषा के

पहले आता है, अर्थात् उषा का निर्माण, इसी सूर्य का कर्म ॥ ५ ॥
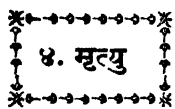
४. मृत्यु

मृत्युर्मारयतीति सतः, मृतं च्यावयतीति शतबलाक्षो मौद्गल्यः । तस्यैषा भवति—

परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥ १०.१८.१

(परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परेहि मृत्यो कथितं तेन मृत्यो मृतं च्यावयते भवति । मृत्यो मदेर्वा मुदेर्वा) तेषामेषा भवति—त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति । या मर्त्याय प्रतीधीयमानमित्कृशानोरस्तु रसनामुरुष्यथः ॥ १.१५५.२)

इति सा निगदव्याख्याता ॥ ६ ॥

प्राणों के वियोग का नाम ही मृत्यु है, अतः यह मध्यमस्थान में पढ़ा गया है॥ **मृत्यु**—(क) मारयतीति मृत्युः, 'मृङ्' प्राणत्यागे+त्युक् (उणा० ३. २१)। यह प्राणों का विच्छेद करने वाली है। (ख) अथवा, यह मृत प्राणि को अन्य किसी योनि में ले जाती है, अर्थात् इसके बाद प्राणि जन्मान्तर में जाता है। मृत+च्यु=मृत्यु, यह निर्वचन शतबलाक्ष (तत्त्वदर्शी, जिस की आंखों में बड़ा बल है) मौद्गल्य करता है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(मृत्यो ! परं अनुपन्थां परेहि) हे मृत्यु ! तू हमें पितृयाण के उत्कृष्ट अनुकूल मार्ग की ओर ले जा, (यः ते देवयानात् इतरः स्वः) जो कि तेरा देवयान से दूसरा अपना है। (चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि) हे मृत्यु ! देखने वाले और सुनने वाले तुझ से मैं कहता हूं कि (नः प्रजां मा रीरिषः) तू हमारी सन्तानों को 'जायस्व म्रियस्व' मार्ग की ओर ले जाकर मत नष्ट कर । (उत मा वीरान्) और, इसीप्रकार हमारे अन्य वीर जनों को, उस बुरे मार्ग से ले जाकर नष्ट मत कर ।

४८६ और ६२६ पृ० पर प्राणिओं की तीन गतिओं का वर्णन किया गया है। उन में से देवयान से जाने वाले योगी मुक्त हो जाते हैं। वे पुनः चिरकाल तक जन्म मरण के बन्धन में नहीं आते, अतः वह मार्ग मृत्यु का नहीं । मृत्यु के मार्ग

'पितृयाण' और 'जायस्व म्रियस्व' हैं, जिनमें से पितृयाण श्रेष्ठ है। उसी मार्ग की प्राप्ति के लिये प्रस्तुत मंत्र में प्रार्थना की गयी है। अतएव ऋ० १० मं० १४ सू० में साक्षात् 'पितरः' तथा 'पितृभिः' शब्दों का प्रयोग है। एवं, इस मंत्र से यह भी ध्वनित किया गया है कि ये भिन्न २ गतियें मनुष्यों के कर्मानुसार होती हैं, अत एव मृत्यु में आंख तथा कान का अध्यारोप करके कहा गया है कि मृत्यु हमारे कर्मों को देख कर और सुनकर, तदनुसार हमारी सन्तानों और वीरों को निकृष्ट मार्ग को ओर ले जाकर नष्ट न करे। और साथ ही 'रीरिषः' से यह भी बोध होता है कि 'निम्रत्' मार्ग में किसी तरह का सुख नहीं होता।

निरुक्त में कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रक्षिप्त जान पड़ता है, जिस में ये ५ हेतु हैं—(१) 'परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो' आदि व्याख्या बहुत गड़बड़ है। (२) मृत्यु का निर्वचन पहले कर ही चुके हैं, फिर 'मृतं च्यावयते' आदि पाठ का क्या अभिप्राय है? (३) 'तेषामेषा भवति' में 'तेषां' बहुवचन है, परन्तु 'त्वेषमित्था' आदि जो मंत्र दिया गया है, उसका देवता 'इन्द्राविष्णू' द्विवचनान्त है। और फिर इस मंत्र का यहां कोई प्रसङ्ग भी नहीं। (४) 'इति सा निगदव्याख्याता' का संबन्ध 'त्वेषमित्था' के साथ नहीं जुड़ता, क्यों कि इस मंत्र में आये 'कृशानु' शब्द का निर्वचन यास्क ने निरुक्त में कहीं किया ही नहीं। (५) और पांचवे, दुर्गाचार्य ने कोष्ठान्तर्गत पाठ की व्याख्या नहीं की ॥ ६ ॥

५. विश्वानर

विश्वानरो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति—

प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे। इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः॥ १०.५०.१

प्रार्चत यूयं स्तुतिं महते ऽन्धसो ऽन्नस्य "दात्रे," मन्दमानाय मोदमानाय स्तूयमानाय शब्दायमानायेति वा, विश्वानराय, सर्वं विभूताय। इन्द्रस्य यस्य प्रीतौ सुमहद् बलं महच्च श्रवणीयं यशः, नृम्णं च बलं नृन्नतम्, द्यावापृथिव्यौ वः परिचरतः—इति कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत् ॥ ७ ॥

'विश्वानर' की व्याख्या ५०८ पृ० पर कर आये है । यहां, उसका अर्थ सर्वसंचालक सूत्रात्मा धनञ्जय वायु है, जिसे त्रित (ईथर) भी कहा जाता है । यह वायु सर्वव्यापी है, अतएव शिवस्वरोदय ने कहा है, 'सर्वव्यापी धनञ्जयः' । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

हे मनुष्यो ! तुम (महे) महान्, (मन्दमानाय) सुगन्धि से वासित प्रशस्य या शब्द संचार करने वाली, (अन्धसः) अन्नदाता (विश्वाभुवे) और सर्वव्यापी (विश्वानराय) सर्वसंचालक सूत्रात्मा वायु की (प्रार्च) स्तुति करो, अर्थात् उस सूत्रात्म–तत्व का ज्ञान उपलब्ध करो, (यस्य इन्द्रस्य) जिस ऐश्वर्यशाली वायु के आश्रय में (रोदसी वः) ये द्यावापृथिवी तुम्हारे लिए (सुमखं सहः) महान् सामर्थ्य को, (महि श्रवः) महान् यश को (नृम्णं च) और विशेषतया मानुषिक बल को (परिचरतः) सेवन करती हैं ।

विश्वानर वायु के कारण ही सब लोकों की स्थिति है, और उसी से ये सब गतियें हो रही हैं । सुगन्धि का फैलाना, शब्द का स्थानान्तर में पहुंचाना, सूर्य के प्रकाश को लाकर तथा वृष्टि आदि को करके अन्न का देना, ये सब कार्य विश्वानर के ही हैं । यह वायु सूत्ररूप में सब को पिरोये हुई है । इस के बिना सर्वजगत् शिथिलित हो जावे । एवं, यह मंत्र मध्यमस्थानीय वायु के बिना अन्य किस का, ऐसा वर्णन कर सकता है ।

अर्च = अर्चत । महे = महते । अन्धसः = अन्नस्य, यहां 'दात्रे' का अध्याहार है । **मन्दमान** = मोदमान, स्तूयमान, शब्दायमान, मदि धातु मोद और स्तुति अर्थ में तो धातुपाठ में पठित है, परन्तु यहां शब्दार्थक भी मानी गयी है । 'मोद' का अर्थ सुगन्धि भी होता है, जैसा कि आपटे ने किया है । विश्वाभुवे = सर्वं विभूताय = सर्वं विप्राप्ताय = सर्वव्यापिने । मख = महत् । **नृम्ण** = मानुषिक बल, नृ + नम्–नृम्ण । इस संपूर्ण सूक्त (१०.५०) का देवता शौनक ने 'इन्द्र वैकुण्ठ' माना है, परन्तु यास्क 'प्र वो महे' आदि पहला मंत्र विश्वानर–देवताक कहते हैं ॥ ७ ॥

तस्यैषाऽपरा भवति—"उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्" उदशिश्रियज्ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं विश्वानरः सविता देव इति ॥ ८ ॥

उस विश्वानर की 'उदु ज्योतिरमृतं' आदि दूसरी आधी ऋचा दी गयी है । इस ऋचा के संपूर्ण सूक्त (७. ७६) का देवता 'उषा' है, परन्तु यास्क

प्रथम मंत्र की पहली आधी ऋचा का देवता 'विश्वानर' मानता है। अतएव वही आधी ऋचा दी गयी है। संपूर्ण मंत्र और उसका अर्थ इसप्रकार है—

उदु ज्योतिरमृतं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः ॥ ७.७६.१

(सविता विश्वानरः देवः) सर्वप्रेरक ज्ञित देव (विश्वजन्यं अमृतं ज्योतिः) सर्वजनहितकारी अमृत उषाज्योति को (उदश्रेत्) उच्छ्रित करता है। (उषा देवानां चक्षुः अजनिष्ट) वह उषा सूर्यरश्मियों की प्रकाशस्वरूप पैदा होती है (क्रत्वा) और अपने कर्म से (विश्वं भुवनं आविरकः) संपूर्ण पृथिवीलोक को प्रकाशित करती है। एवं, इस मंत्र के पूर्वार्ध में बतलाया गया है कि प्रकाश के लाने का माध्यम विश्वानर वायु है ॥ ८ ॥

९. धाता　　धाता सर्वस्य विधाता। तस्यैषा भवति—

धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं सत्यधर्मणः ॥ अथ० ७. १७. २

धाता ददातु दत्तव्रते प्रवृद्धां जीविकामनुपक्षीणाम्। वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कल्याणीं मतिं सत्यधर्मणः ॥ ९ ॥

धाता = सरस वायु, यह सब ओषधियों की (विधाता) स्रष्टा है। यहां 'धा' धातु सर्जनार्थक ली गयी है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(धाता) सरस वायु (दाशुषे) हविर्दाता यज्ञकर्ता के लिये (प्राचीं अक्षितां) प्रभूत तथा कभी क्षीण न होने वाली (जीवातुं ददातु) जीविका को, अर्थात् जीवन-साधन खान पान को प्रदान करे। (वयं सत्यधर्मणः देवस्य) हम जल को धारण करने वाले वायु देव की (सुमतिं धीमहि) सुमति को धारण करें। अर्थात्, उस जीवनप्रद वायु की तरह हम भी दूसरों को सुख देने वाले हों।

प्राची = प्रवृद्धा। जीवातु = जीविका। यहां 'सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते' (अथ० १०.५.३७) की तरह 'सुमतिं सत्यधर्मणः' का प्रयोग है ॥ ९ ॥
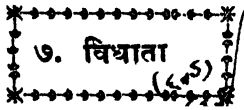
७. विधाता (८५)

विधाता धात्रा व्याख्यातः। तस्यैष निपातो भवति बहुदेवतायामृचि—

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि। तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम् ॥१०.१६७.३

इत्येताभिर्देवताभिरभिप्रसूतः सोमकलशान् अभक्षयमिति। कलशः कस्मात्? कला अस्मिञ्छेरते मात्राः। कलिश्च कलाश्च किरतेर्विकीर्णमात्राः ॥ १० ॥

विधाता = मृत्यु, यह सभी प्राणिओं को धारण करती है। विधाता शब्द कर्ता का वाचक भी है। यमराज मृत्यु सब प्राणिओं के परजन्म को बनाने वाली है। 'धाता' के अनुसार 'विधाता' भी 'धा' से ही निष्पन्न होता है। वह विधाता 'सोमस्य राज्ञः' आदि बहुदेवताक मंत्र में निपातभाक् के तौर पर प्रयुक्त है (४९६ पृ०)। अर्थात्, इस देवता का वेदों में ऋग्भाक् कोई मंत्र नहीं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(राज्ञः, सोमस्य, वरुणस्य धर्मणि) मैंने प्रकाशमान अग्नि, चन्द्रमा और मेघ के धर्म में, (उ बृहस्पतेः अनुमत्याः शर्मणि) तथा सूर्य और चतुर्दशीयुक्ता पूर्णिमा के आश्रय में रह कर (मघवन्! धातः! विधात!) तथा हे विद्युत्! हे वायु! और हे मृत्यु! (अहं अद्य तव उपस्तुतौ) मैंने तेरी स्तुति में वर्तमान रह कर आज (सोमकलशान् अभक्षयम्) ऐश्वर्य-कलशों का भक्षण किया। अर्थात्, इन देवताओं से प्रेरित होकर, उनकी गुण-मात्राओं को धारण करके मैं राज्यैश्वर्य का भोग करूं।

इस मंत्र में राजा कह रहा है कि यतः मैंने अग्नि, चन्द्रमा, मेघ, सूर्य, पूर्णिमा, बिजुली, वायु, और मृत्यु—इन आठ देवताओं के धर्मों के अनुसार अपने आप को राज्यप्रबन्ध के योग्य बना लिया है, अतः मेरे राज्य में सब प्रभूत ऐश्वर्य विद्यमान हैं।

इस से पहला सूक्त (१०. १६६) राजपरक है, जिसका देवता सपत्नघ्न है, और जिस का एक मंत्र ६२१ पृ० पर दिखला आये हैं। अतः, प्रकरण से यह १६७ सूक्त भी राजपरक है। उपर्युक्त मंत्रार्थ की पुष्टि के लिये मनु के कुछ श्लोकों

को उद्धृत करना अत्यावश्यक है। उन में आप देखेंगे कि किसप्रकार मनुमहाराज इसी मंत्र का अनुवाद कर रहे हैं। उन्हों ने लिखा है— (८,)

> अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
> रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥ ७। ३॥
>
> इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
> चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्राः निर्हृत्य शाश्वतीः॥ ७। ४॥
>
> सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
> स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ ७। ७॥

मंत्र और दोनों श्लोकों के शब्दों की समानता इसप्रकार है—(१) सोम =चन्द्र=सोम। (२) राजा=अग्नि=अग्नि। (३) वरुण=वरुण=वरुण। (४) बृहस्पति=अर्क=अर्क। (५) अनुमति=वित्तेश=कुबेर। (६) मघवा=इन्द्र =महेन्द्र। (७) धाता=अनिल=वायु। (८) विधाता=यम=धर्मराट्।

'वरुण' मेघ के लिये प्रयुक्त होता है, अतएव पौराणिकों ने 'वरुण' को जल का भण्डार माना है। निरु० ११. ३० श० में 'अनुमति' चतुर्दशीयुक्ता पूर्णिमा के लिये प्रयुक्त है। यह पूर्णिमा कला-धनों से परिपूर्ण होती है, अतः यह वित्तेश है। पीछे से पौराणिकों ने इसकी विचित्र कल्पना करली है—ऐसा प्रतीत देता है।

एवं, राजा को विद्युत् के समान आशुकारी, वायु के समान प्राणप्रिय, मृत्यु के समान भयप्रदाता, सूर्य के समान प्रतापी, अग्नि के समान दुष्टदाहक, मेघ के समान विद्यामृतवर्षक, चन्द्र के समान शान्तिदायक, और पूर्णिमा के समान पूर्ण तेजस्वी धन का मालिक होना चाहिये। ऐसा होने से राज्य भलीप्रकार फूलता और फलता है।

कलश= जल का कलश, यहां ऐश्वर्य-रस के कलशों से अभिप्राय हैं। इस में जल की अच्छी मात्रा आती है, अतः इसे कलश कहा गया है, कला+शीङ्+ ड=कलाश=कलश। कलि और कला शब्द 'कृ' विक्षेपे से 'इन्' (उणा० ४.११८) या 'अच्' तथा 'टाप्' करने पर सिद्ध होते हैं। कलियुग में धर्म का नाश किया जाता है, और कला अर्थात् मात्रा किसी समुदाय में से निकाली हुई होता है॥१०॥

* द्वितीय पाद *
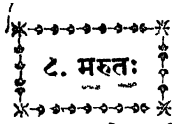
८. मरुतः

अथातो मध्यस्थाना देवगणाः। तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति। मरुतो मितराविणो वा, मितरोचिनो वा, महद् द्रवन्तीति वा, तेषामेषा भवति—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः॥ १.८८.१

विद्युन्मद्भिर्मरुतः! स्वर्कैः स्वञ्चनैरिति वा, स्वर्चनैरिति वा, स्वर्चिभिरिति वा। रथैरायात ऋष्टिमद्भिरश्वपतनैः। वर्षिष्ठेन च नोऽन्नेन वय इवापतत सुमायाः कल्याणकर्माणो वा कल्याणप्रज्ञा वा॥ १। ११॥

अब, यहां से मध्यमस्थानीय देवगणों की व्याख्या की जाती है। उन में मरुद्गण पहले आता है। यहां 'मरुतः' का अर्थ वैश्यलोग हैं, क्योंकि ये वायुओं की तरह अन्य तीनों वर्णों को जीवन प्रदान करते है। अतएव शतपथ ब्राह्मण ने वर्णों की उत्पत्ति बतलाते हुए १४. ३.४ १२ में लिखा है—"स नैव व्यभवत्, स विशमसृजत। यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥"

(क) ये वैश्य लोग मितरावी अर्थात् मितभाषी होते हैं। ये व्यापार में सदा एक सत्य बात कहते हैं, झूठ कभी नहीं बोला करते। इस निर्वचन से स्पष्टतया परिज्ञात हो रहा है कि वैश्यों को व्यापार में झूठ कभी नहीं बोलना चाहिए। 'मा' माने+'रु' शब्दे+क्विप्=मारुत्=मरुत्। (ख) ये माप से प्रीति करने वाले हैं। अर्थात्, ये सदा ठीक माप कर क्रय विक्रय करते हैं, मापने में धोखा नहीं करते। मा+रुच्+क्विप्=मरुत्। (ग) ये बहुत चलते हैं, अर्थात् व्यापार के लिए देशान्तर में बहुत जाया करते हैं। अतएव वैश्य की उत्पत्ति ऊरुओं (जांघों) से बतलायी गयी है। महत्+द्रु+क्विप्—म रु्द्रु—मरुत्। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(मरुतः) हे वैश्य लोगो! तुम (विद्युन्मद्भिः) विद्युत् से चलने

वाले (स्वर्कैः, ऋष्टिमद्भिः अश्वपर्णैः) सुगतिमान् उत्तम या प्रदीप्त, औजारों से युक्त और आशुगामी (रथेभिः आयात) रथों से इतस्ततः देशान्तरों में आवो जावो। (सुमायाः) और फिर, हे कल्याण कर्म करने वाले या सुबुद्धि से युक्त वैश्य लोगो ! तुम (वर्षिष्ठया इषा) प्रचुर अन्न के साथ (वयः न) पक्षिओं की तरह (नः आपप्तत) हमारे समीप आवो।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि जिसप्रकार पक्षी जहां कहीं से खाने को मिलता है वहां से इकट्ठा कर लाते हैं, उसी प्रकार वैश्यों को भी इतस्ततः देशान्तरों में जाकर पदार्थों का संग्रह करना चाहिये।

स्वर्क—(क) स्वञ्चन = सुगतिमान्, सु + 'अञ्चु' गतौ। (ख) स्वर्चन = उत्तम, सु + 'अञ्चु' पूजने। (ग) स्वर्चिष् = सुदीप्त, सु + 'अर्च' दीप्तौ। आपप्तत = आपतत, माया = कर्म, प्रज्ञा ॥ १ । ११ ॥
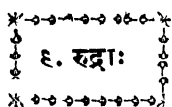
६. रुद्राः

रुद्रा व्याख्याताः। तेषामेषा भवति-

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन। इयं वो अस्मत्प्रतिहर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥ ५.५७.१

आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण सहजोषणाः सुविताय कर्मणे। इयं वो अस्मदपि प्रतिकामयते मतिस्तृष्णज इव दिव उत्सा उदन्यवे इति। तृष्णक् तृष्यतेः, उदन्युरुदन्यतेः ॥ २ । १२ ॥

'रुद्र' की व्याख्या ६११ पृ० पर कर आये हैं, यहां यह वैश्यवाची है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(इन्द्रवन्तः सजोषसः) परमेश्वर से सदा प्रीति करने वाले धर्मिष्ठ (रुद्रासः) वैश्यलोगो ! (हिरण्यरथाः) तुम हिरण्यादि उत्तमोत्तम पदार्थों को रथों में धारण करके (सुविताय आगन्तन) कल्याण के लिये देशान्तर से आवो। (इयं अस्मत् मतिः वः प्रतिहर्यते) यह हमारी मति तुम्हारी कामना करती है, (तृष्णजे उदन्यवे दिवः उत्साः न) तुम, प्यासे चातकों के लिये अन्तरिक्ष से मेघों की तरह आवो।

एवं, उपमा के द्वारा इस मंत्र से प्रदर्शित किया गया है कि अन्य तीनों

वर्णों की पालना करना वैश्य का धर्म है।

इन्द्रवन्तः सजोषसः = परमेश्वर से युक्त और उस से प्रीति करने वाले, यह शब्दार्थ है, परन्तु यास्क ने 'इन्द्रेण सहजोषणाः' से उसका भावार्थ दे दिया है। तृष्णज् = प्यासा, तृष् + णजि। उदन्यु = चातक, उदकमिच्छतीति उदन्यति, 'उदन्य' नाम धातु से 'उ' प्रत्यय ॥ २। १२ ॥

१०. ऋभवः

ऋभव उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीति वा, ऋतेन भवन्तीति वा।

तेषामेषा भवति—

> विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्त्तासः सन्तो अमृतत्व-
> मानशुः। सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे
> समपृच्यन्त धीतिभिः ॥ १०.११०.४

कृत्वा कर्माणि क्षिप्रत्वेन वोढारो मेधाविनो वा मर्त्तासः सन्तो अमृतत्वमानशिरे। सौधन्वना ऋभवः, सूरख्याना वा सूरप्रज्ञा वा, संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः कर्मभिः।

'ऋभुर्विभ्वा वाजः' इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः। तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति, न मध्यमेन। तदेतद् ऋभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति ॥ ३। १३ ॥

ऋभवः = वैश्यलोग। (क) ये राष्ट्ररक्षा में बहुत चमकते हैं, उरु + भा + कु—उरुभु—ऋभु। (ख) ये सत्यव्यवहार से प्रकाशित होते हैं, ऋत + भा + कु—ऋतभु—ऋभु। (ग) ये सत्य व्यवहार से युक्त होते हैं, ऋतभू—ऋभु। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(वाघतः सन्तः मर्त्तासः) अन्नादि-ग्राहक या मेधावी सत्यवादी वैश्यलोग (तरणित्वेन शमी विष्ट्वी) शीघ्रता से व्यावहारिक कर्मों को करके (अमृतत्वं आनशुः) सुख का भोग करते हैं। (सौधन्वनाः सूरचक्षसः ऋभवः) ये सूर्यसमान

यथार्थवादी, या परमेश्वरोक्त आज्ञा के अनुसार चलने वाले परमेश्वर-पुत्र अर्थात् आर्य वैश्यलोग (संवत्सरे धीतिभिः समपृच्यन्त) वर्षभर व्यापारिक कर्मों से संयुक्त रहते हैं। अर्थात्, इन का मुख्य कर्म व्यापार है।

विष्ट्वी = कृत्वा, यहां 'विष्' धातु करणार्थक मानी गयी है। शमी = कर्माणि। वाघतः = वोढारः, मेधाविनः। सूरचक्षसः = सूरख्यानाः, सूरप्रज्ञाः। धीति = कर्म।

ऋभु विभ्वा और वाज, ये तीन ओङ्कारवाची अक्षरस्वरूप परमेश्वर के पुत्र उत्पन्न हुए (४. ३४. ५)। उन में से ऋभु और वाज, इन दोनों से वेद में बहुवचनान्त शब्द प्रयुक्त होते हैं 'विभ्वन्' से नहीं, विभ्वन् एकवचनान्त ही प्रयुक्त है।

सो, ऋग्वेद में ऐसे सूक्त बहुत हैं, जिन में कि 'ऋभु' बहुवचनान्त प्रयुक्त है, और चमस अर्थात् अन्न के साथ उस का वर्णन है।

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' के अनुसार चार वर्णों की सृष्टि हुई। उन में से पहले तीन वर्ण आर्य कहलाते हैं, और 'शूद्र' अनार्य या दस्यु। आर्य का अर्थ है, अर्य अर्थात् परमेश्वर का पुत्र। यद्यपि 'शूद्र' भी परमेश्वर का पुत्र है, परन्तु वह अपनी असमर्थता के कारण परमेश्वर के ज्ञान को उपलब्ध नहीं कर सका, अतः वह परमेश्वर से बहुत दूर रहता है।

ऋभु, विभ्वा, वाज—ये क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के नाम हैं। विशेषेण भातीति विभ्वन्, वाज = ज्ञानी।

हौग ने पारसी-धर्म विषयक अपनी पुस्तक में लिखा है कि ज़िन्दावस्था के 'गाथा अहुनवैती' प्रकरण में 'मज़्दा' के द्वारा यह शिक्षा दी गयी है कि Geush urva को कृषकों के हित के लिये काटा जावे। हौग ने 'गोष् उर्वा' का शाब्दिक अनुवाद Soul of the cow करते हुए कहा है कि इस का अभिप्राय गौ अर्थात् भूमि की उत्पादक-शक्ति है। फिर, हौग महाशय लिखते हैं कि यह 'गोष' शब्द भूमिवाचक 'गो' का अपभ्रंश है। परन्तु उन्हें 'उर्वा' का मूल नहीं सूझा। मैं समझता कि हूं कि 'गोष् उर्वा' 'गोः उर्वरा' का अपभ्रंश है, जिस का ठीक अनुवाद 'भूमि की उत्पादक शक्ति' ही है। आगे फिर हौग महाशय लिखते हैं कि वेद में भी इसीप्रकार का वर्णन है कि ऋभुओं ने गौ (भूमि) को काटा (जोता) और उसे उर्वरा बनाया। हम उदाहरण के तौर पर निम्नलिखित मंत्रखण्ड उद्धृत करते हैं—

निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत
सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः ॥ १.११०.८

(ऋभवः) हे वैश्यलोगो ! (गां चर्मणः निर्) तुम भूमि को चर्म में से बाहर निकाल कर, अर्थात् उसे जोत कर जमी हुई पिपड़ी दूर करके (अपिंशत) सुरूप बनाते हो, उर्वरा बनाते हो, (पुनः मातरं वत्सेन) और फिर बीज बोकर भूमि–माता को सस्य–वत्स से (संसृजत) संयुक्त करते हो। एवं, इस प्रसङ्ग से स्पष्टतया विदित होता है कि 'ऋभु' वैश्यवाचक है ॥३।१३॥

आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते। 'अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानुगच्छथ'। अगोह्य आदित्योऽगूहनीयः, तस्य यदस्वपथ गृहे, यावत्तत्र भवथ, न तावदिह भवथेति ॥४।१४॥

आदित्यरश्मियों को भी 'ऋभु' कहा जाता है, जैसे कि निम्नलिखित मंत्र में प्रयुक्त है—

उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः।
अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानुगच्छथ॥ १. १६१.११

(नरः ऋभवः !) प्रकाश तथा वृष्टि आदि की प्रापक आदित्य-रश्मियो ! (स्वपस्यया) तुम अपने साधु कर्म से (अस्मै) इस लोक के उपकार के लिए (उद्वत्सु तृणं अकृणोतन) ऊंचे स्थानों में सब्जी पैदा करती हो, (निवत्सु अपः) और निचले प्रदेशों में जल प्रवाहित करती हो। (यत् अगोह्यस्य गृहे असस्तन) और जब तक तुम कभी अस्त न होने वाले आदित्य के मण्डल में रहती हो, (तत् अद्य इदं न अनुगच्छथ) तब तक प्रतिदिन रात्रि के समय तुम इस भूभाग में नहीं आती हो।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि यद्यपि सूर्य वास्तव में अगूह्य है, वह कभी छिपता नहीं, परन्तु उस का प्रकाश किसी भी भूभाग पर सर्वदा नहीं रहता।

अगोह्य = अगूहनीय आदित्य। असस्तन = अस्वपथ = भवथ। यत् = यावत्, तत् = तावत् ॥ ४ । १४ ॥

११. अङ्गिरसः

अङ्गिरसो व्याख्याताः। तेषामेषा भवति—

विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः। ते अङ्गिरसः।
सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥ १०.६२. ५

बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीरकर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा । ते अङ्गिरसः पुत्रास्ते अग्नेरधिजज्ञिरे—इत्यग्निजन्म ॥ ५ । १५ ॥

'अङ्गिरस्' की व्याख्या २१८ पृ० पर कर आये हैं। यहां प्राण के प्रसङ्ग से प्राणों को वश में किए हुए सन्यासी के लिये प्रयुक्त है । बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रारम्भ में प्राणों के अनेक नाम दिए हैं, उन में से एक नाम 'अङ्गिरस्' भी है, जिस का निर्वचन 'अङ्गानां रसः' किया हुआ है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(विरूपासः इत् ऋषयः) नानादर्शी तत्त्वदर्शी ही ऋषि कहलाते हैं, (ते इत् गम्भीरवेपसः) और वे ही गम्भीर कर्मों वाले या गम्भीर प्रज्ञा वाले होते हैं। (ते अङ्गिरसः सूनवः) वे सन्यासी लोग वानप्रस्थाश्रम के पुत्र होते हैं, (ते अग्नेः परिजज्ञिरे) अतएव वे वनस्थाश्रम से पैदा होते हैं।

एवं, इस मंत्र में 'ऋषि' का लक्षण किया हुआ है, और साथ ही यह भी बतलाया है कि सन्यासी का जन्म अग्नि से, अर्थात् वानप्रस्थाश्रम से होता है।

विरूप = बहुरूप । वेपस् = कर्म, प्रज्ञा । 'अग्नि' का अर्थ अन्यत्र २०१ पृ० पर देखिए ॥ ५ । १५ ॥

१२. पितरः
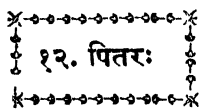
पितरो व्याख्याताः । तेषामेषा भवति—

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नो अवन्तु पितरो हवेषु ॥ १०.१५.१

उदीरतामवरे, उदीरतां परे, उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनस्ते । असुं ये प्राणमन्वीयुरवृका अनमित्राः सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा । ते न आगच्छन्तु पितरो ह्वानेषु । माध्यमिको यम इत्याहुः, तस्मान्माध्यमिकान् पितॄन्मन्यन्ते ॥ ६ । १६ ॥

पितृ की व्याख्या २८४ पृ० पर कर आये हैं। 'यम' देवता मध्यमस्थानीय है (६२६ पृ०) और वह पितरों का राजा है। यह अमनस्क प्राण ही श्रेष्ठ मनुष्यों को पितृयाण की ओर ले जाता है, अतः गुरु अतिथि आदि पितरों को मध्यमस्थानीय मानते हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है।

(अवरे सोम्यासः पितरः उदीरताम्) प्रथम श्रेणी के ऐश्वर्यसंपादक पितर हमें शिक्षा प्रदान करें, (परासः उत्) उत्तम श्रेणी के ऐश्वर्य संपादक पितर हमें शिक्षा प्रदान करें, (मध्यमाः उत्) और मध्यम श्रेणी के पितर हमें शिक्षा प्रदान करें। एवं, प्रथम श्रेणी के उत्पादक पिता, मध्यम श्रेणी के गुरु लोग, और उत्तम श्रेणी के उपदेष्टा सन्यासिलोग हमें सुशिक्षित करें। (ये पितरः असुं ईयुः) एवं, जिन पितरों ने प्राण-विद्या को प्राप्त किया है, (अवृकाः ऋतज्ञाः) और जो सब के मित्र हैं, तथा सत्यज्ञाता या यज्ञज्ञाता हैं, (ते हवेषु नः अवन्तु) वे हमारे निवेदनों पर, हमारे समीप पधारें।

अवृक = अनमित्र। अवन्तु = आगच्छन्तु ॥ ६ । १६ ॥

१३. अथर्वाणः
१४. भृगवः

अङ्गिरसो व्याख्याताः। पितरो व्याख्याताः। भृगवो व्याख्याताः। अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः, थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः। तेषामेषा साधारणा भवति—

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १०.१४.६

अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वाऽथर्वाणो भृगवः सोम्याः सोमसम्पादिनः, तेषां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतौ यज्ञियानाम्, अपि चैषां भद्रे भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्यामेति ॥ ७ । १७ ॥

अङ्गिरस् (६७५ पृ०) पितर (६७५ पृ०) और भृगु (२१७ पृ०) की व्याख्या कर चुके हैं। अथर्वन् लोग अचलता वाले अर्थात् स्थिरप्रकृति होते हैं। उनकी गतियें क्षण क्षण में बदलने वाली नहीं होती, प्रत्युत वे अचल अटल होते हैं। 'थर्व' धातु चलनार्थक है, उसका प्रतिषेध अथर्वन् है, नञ्+थर्व+कनिन् (उणा० १. १५९)। उन चारों का 'अङ्गिरसो नः पितरो' आदि मंत्र में सांझा वर्णन है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(नः अंगिरसः) जो हमारे प्राणप्रिय ब्रह्मचारी, (नवग्वाः पितरः) प्रशस्य-कर्मा या नवनीत की तरह शुभ्र कर्मों वाले पितर, (अथर्वाणः) स्थिरमति वनस्थ,

(सोम्यासः भृगवः) और योगैश्वर्य-संपादक तपस्वी सन्यासी लोग हैं, (वयं यज्ञियानां तेषां सुमतौ) हम आश्रम-यज्ञ के संपादकों उन चारों की कल्याणी मति में, (अपि भद्रे सौमनसे स्याम) अपिच उनके भद्र सौमनस्य में वर्तमान हों। अर्थात्, इन चारों आश्रमिओं का सत्कार करते हुए, उनसे सुमति और सौमनस्य को प्राप्त करें।

नवग्वा=नवगति, नवनीतगति। नव=नवनीत। भद्र=भन्दनीय (स्तुत्य) भाजनवत् (योग्य मनुष्य के पास रहने वाला)—देखिये २५५ पृ० ॥ ७। १७ ॥

माध्यमिको देवगण इति नैरुक्ताः । पितर इत्याख्यानम् । अथाप्यृषयः स्तूयन्ते—

सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।
वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः ॥ ७.३३.८

इति यथा ॥ ८ । १८ ॥

नैरुक्त कहते हैं कि ऋभवः अङ्गिरसः भृगवः और अथर्वाणः, ये सब भिन्न २ मध्यमस्थानीय देवतागण हैं, अतएव निघण्टु में इन्हें पृथक् २ पढ़ा है। परन्तु ये सब पितरों के विशेषण हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार ऋ० ७. ३३. सूक्त में, पितर शब्द के होने पर (७.३३. ४) भी, वसिष्ठ नाम से ऋषिओं की ही स्तुति की जाती है, पितरों की नहीं, उसीप्रकार यहां भी 'अङ्गिरसः' आदि भिन्न २ देवता ही समझने चाहिएं, पितरों के विशेषण नहीं। उदाहरण के लिए आचार्य ने 'सूर्यस्येव वक्षथो' आदि मंत्र दिया है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(एषां ज्योतिः सूर्यस्य वक्षथः इव) इन ऋषि लोगों का तेज सूर्य के तेज की तरह होता है (महिमा समुद्रस्य इव गभीरः) इन की महिमा समुद्र की गहराई की तरह अथाह होती है, (प्रजवः वातस्य इव) और इनका बल वायु के बल के समान होता है। (वसिष्ठाः वः स्तोमः) एवं, सदा परमेश्वर में निवास करने वाले ऋषि लोगो! आप का यह गुणसमूह (अन्येन अन्वेतवे न) इतर जन से अनुगम्य नहीं ॥ ८ । १८ ॥

१५. आप्त्याः

आप्त्या आप्नोतेः । तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि—

स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम् । आदर्षते शवसा सप्तदानून्प्रसाक्षते प्रतिमानानि भूरि ॥१०,१२०.६

स्तोतव्यं, बहुरूपम्, उरुभूतम्, ईश्वरतमम्, आप्तव्यम् आप्तव्यानाम्, आदृणाति यः शवसा बलेन सप्तदातृनिति वा सप्तदानवानिति वा, प्रसाक्षते प्रतिमानानि बहूनि । साक्षतिराप्नोतिकर्मा ॥६।१६॥

आप्त्य = महात्मा सन्त लोग, आप्तव्य—आप्त्य । यह देवता 'स्तुषेय्य पुरुवर्पसं' आदि ऐन्द्री ऋचा में निपातभाक् के तौर पर प्रयुक्त है । मंत्रार्थ इस प्रकार है—

(स्तुषेय्यं, पुरुवर्पसं) मैं स्तोतव्य, अग्नि वायु आदित्य विष्णु मित्र वरुण आदि अनेक रूपों वाले, (ऋभ्वं इनतमं) सर्वव्यापी, और राजाओं के राजा परमेश्वर की, (आप्त्यानां आप्त्यं) और आप्त पुरुषों में के आप्त महात्मा की उपासना करता हूं । (सप्तदानून्) जो परमेश्वर सातों ज्ञानप्रदाता इन्द्रियों को (शवसा आदर्षते) अपनी महिमा से पराभूत करता है, अर्थात् जो इन्द्रियातीत है, (भूरि प्रतिमानानि प्रसाक्षते) तथा जो अनेक उपमाओं को पाता है । और, एवं जो आप्त सातों राजसवृत्ति वाली ज्ञानेन्द्रियों को आत्मिक बल से पराभूत करता है, तथा जो अनेक उपमाओं को पाता है ।

स्तुषेय्य = स्तोतव्य । ऋभ्वम् = उरुभूतम् । आदर्षते = आदृणाति । सप्तदानु = सप्तदाता, सप्तदानव (१२. २५ अ०) । दानु = दाता, दानव । साक्षति = आप्नोति, यहां 'साक्ष' धातु प्राप्त्यर्थक मानी गयी है ॥८ । १९ ॥

* तृतीय पाद *

१६. अदिति

अथातो मध्यस्थानाः स्त्रियः । तासामदितिः प्रथमागामिनी भवति । अदितिर्व्याख्याता । तस्या एषा भवति—

दक्षस्य वाऽदिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि ।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥१०.६४ ५

दक्षस्य वाऽदिते ! जन्मनि व्रते कर्मणि राजानौ मित्रावरुणौ परिचरसि । विवासतिः परिचर्यायाम्, 'हविष्माँ आविवासति' इत्याशास्तेर्वा । अतूर्तपन्था अत्वरमाणपन्था बहुरथो अर्यमादित्योऽरीन्नियच्छति । सप्तहोता सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति, सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा, विषमरूपेषु जन्मसु कर्मसूदयेषु ।

आदित्यो दक्ष इत्याहुः, आदित्यमध्ये च स्तुतः । अदितिर्दाक्षायणी । 'अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि' इति च ।

तत्कथमुपपद्येत ? समानजन्मानौ स्याताम् । अपिवा देवधर्मेणेतरेतरजन्मानौ स्यातामितरेतरप्रकृती ॥ १ । २० ॥

अब, मध्यमस्थानीय स्त्रीलिंग शब्दों की व्याख्या की जाती है। उन में 'अदिति' देवता पहले आने वाली है। अदिति की व्याख्या २८६ पृ० पर कर आए हैं। यहां इसका अर्थ अहोरात्र की सन्धिवेला है। इस समय ओस पड़ती है, अतः रसानुप्रदान के कारण यह मध्यमस्थानीय है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अदिते ! दक्षस्य जन्मनि व्रते) हे सन्धिवेला ! तू आदित्य के उदय-कर्म के समय, (वा) अथवा आदित्य के अस्त-कर्म के समय (राजाना मित्रावरुणा विवाससि) दिन और रात, इन दोनों राजाओं को सेवती है, अथवा उन दोनों को चाहती है। (अतूर्त्तपन्थाः) वह सूर्य नियमित गति वाला है, (पुरुरथः) बहुत वेग से गति करने वाला है, (अर्यमा) अन्धकार और मलिनता आदि का नाशक है, (विषुरूपेषु जन्मसु) तथा दक्षिणायण और उत्तरायण के कारण प्रतिदिन विषम स्वरूप वाले उदयों में आता हुआ (सप्तहोता) सप्तहोता है।

व्रत = कर्म । मित्रावरुणौ = दिन रात, जैसे कि ऐ० ब्रा० में लिखा है, **'अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुणः'** (४. १०)। 'वि' पूर्वक 'वास' धातु परिचर्या और इच्छा या प्रार्थना, दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है। इस की पुष्टि के लिए आचार्य 'हविष्माँ आविवासति' प्रमाण देते हैं, जिसका संपूर्ण मंत्र और अर्थ इस प्रकार है—

यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति। तस्मै पावक मृडय॥ १.१२.६

देवता—अग्नि। (यः हविष्मान्) जो हव्य सामग्री को ग्रहण किये हुआ या भक्तिमान् मनुष्य (देववीतये) दिव्य पदार्थों या दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये (अग्निं आविवासति) यज्ञाग्नि को सेवता है या जगदीश्वर की प्रार्थना करता है, (पावक तस्मै मृडय) हे पावक अग्नि या परमेश्वर! तू उस यज्ञकर्ता या भक्त के लिये कल्याण कर।

अतूर्त्तपन्थाः = अत्वरमाणपन्थाः = न जल्दी मार्ग वाला अर्थात् नियमित गति वाला। **अर्यमा** = आदित्य, अरीन् नियच्छतीति अर्यमा, अरि + यम् + कनिन् —अरियमन्—अर्यमन्। जन्म = उदय।

सप्तहोता—सात रश्मियें इसके लिये रसों को झुकाती हैं, अथवा सात ऋतुयें सूर्य का स्तवन करती हैं। मलमास (अंहसस्पति) को मिला कर सूर्य १३ मास या सात ऋतुओं को पैदा करता है, जैसा कि यजु० २२. ३१ में बतलाया है। वे सात ऋतुयें ही सप्तर्षि हैं। अतएव सायण ने लिखा है, 'सप्तहोता ह्वयतेरर्चतिकर्मण इदं रूपम्……मलिम्लुचांहसस्पतिसहिताः सप्तर्तवो यस्य होतारो भवन्ति, तादृशः'। सप्तहुता को सप्तनामा के साथ मिलाइए (२९७ पृ०)। सप्तरश्मयः अस्मै जुहूति ददतीति सप्तहोता। अथवा, सप्तर्षयो जुहूति स्तुवन्त्येनमिति सप्तहोता, 'हुञ्' धातु स्तवनार्थक निघण्टुपठित है।

'दक्ष' अदिति का पुत्र होने से आदित्य है, ऐसा देवता-तत्त्व-दर्शी कहते हैं। और, यह आदित्यवाची नामों में स्तुत भी है (१२.२४. श०) तथा 'अदिति' को दक्ष की पुत्री होने से दाक्षायणी कहा जाता है। जैसे कि निम्नलिखित मंत्र में वर्णित है—

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥ १०. ७२. ४

(उत्तानपदः भूः जज्ञे) ऊर्ध्व विस्तृत द्युलोक स्थान में रहने वाले आदित्य से भूमि पैदा हुई, (भुवः आशाः अजायन्त) और फिर भूमि से सब दिशायें तथा उपदिशायें उत्पन्न हुईं। (अदितेः दक्षः अजायत) एवं, सन्ध्या के पश्चात् सूर्य उदित हुआ (उ दक्षात् परि अदितिः) और सूर्य से सन्ध्या पैदा हुई।

(प्रश्न) यह किसप्रकार उपपन्न हो सकता है कि 'दक्ष' अदिति का पिता और पुत्र, दोनों है? (उत्तर) ये अपने समान रूपों से पैदा होने

वाले हैं, उसी एक सूर्य से पैदा होने वाले नहीं। अर्थात् प्रातःकालीन सन्ध्या से तो बालकिरण सूर्य पैदा होता है, और अस्तमन सूर्य से सायंकालीन संध्या उत्पन्न होती है। अथवा, व्यावहारिक धर्म के अनुसार एक दूसरे से उत्पन्न होने वाले एक दूसरे के कारण हैं। अर्थात्, सूर्य से संध्या पैदा होती है, और संध्या से सूर्य पैदा होता है, यह वर्णन व्यवहारिक दृष्टि से है, वस्तुतः सूर्य ही संध्या आदि काल का निर्माता है।

यहां पर दुर्गाचार्य ने जो 'समानजन्मानौ' का अर्थ 'समनन्तरजन्मानौ' किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि 'समान' का अर्थ 'समनन्तर' कभी नहीं होता॥ १। २०॥

अग्निरप्यदितिरुच्यते। तस्यैषा भवति—

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता।
यम्भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम॥१.६४.१५

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददास्यनागास्त्वम् अनपराधत्वम् अदिते सर्वासु कर्मततिषु। आग आङ्पूर्वाद् गमेः। एन एतेः। किल्विषं किल्भिदं-सुकृतकर्मणो भयं, कीर्त्तिमस्य भिनत्तीति वा। यं भद्रेण शवसा बलेन चोदयसि, प्रजावता च राधसा धनेन ते वयमिह स्यामेति॥ २। २१॥

अग्नि को भी अदिति कहा जाता है, जैसे कि 'यस्मै त्वं सुद्रविणो' आदि मंत्र में प्रयुक्त है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(सुद्रविणः अदिते!) हे उत्तमोत्तम धनों को देने वाली अक्षीण यज्ञाग्नि! (त्वं सर्वताता) तू सब यज्ञकर्मों के विस्तारों में (यस्मै अनागास्त्वं ददाशः) जिस यज्ञकर्ता को निर्दोषता प्रदान करती है, (यम् भद्रेण शवसा) और जिस को भद्र सामर्थ्य से (प्रजावता राधसा) तथा श्रेष्ठ सन्तान रूपी धन से (चोदयासि) संयुक्त करती है, (ते स्याम) वे हम तेरे हों, अर्थात् अग्नि-विद्या को भलीप्रकार जानकर तेरे से पूर्ण लाभ ग्रहण करें।

इसीप्रकार इस मंत्र का अर्थ आध्यात्मिक पक्ष में परमेश्वरपरक भी होता है। इस संपूर्ण सूक्त का देवता 'अग्नि' है, और उस अग्नि का विशेषण 'अदिति' है, अतः अदिति अग्निवाचक है।

ददाशः = ददासि, 'दाशृ' दाने । सर्वताति = सर्वकर्मतति । आगस् = अपराध, दोष, [illegible] आगच्छति दुःखमनेनेति आगः, आ + गम् + असुन् (उणा० [illegible]) । इसीप्रकार पापवाचक 'एनस्' शब्द 'इण्' धातु से 'असुन्' प्रत्यय और नुडागम करने पर सिद्ध होता है (उणा० [illegible]) । तीसरा शब्द 'किल्बिष' भी उसी अर्थ वाला है । किल्भिद—किल्बिष । (क) सुकृतकर्मणः भयं ददातीति किल्भिदम्, पाप सुकर्मा जन से भय प्रदान करता है, अतएव पापी मनुष्य पुण्यात्माओं से सदा डरते रहते हैं । (ख) कीर्त्तिमस्य भिनत्तीति किल्भिदम्, पाप मनुष्य की कीर्त्ति को नष्ट करता है ॥ २ । २१ ॥
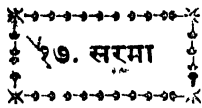
१७. सरमा

सरमा सरणात् । तस्या एषा भवति—

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः । कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि ॥ १०.१०८.१

किमिच्छन्ती सरमेदं प्रानट् दूरे ह्यध्वा, जगुरिर्जङ्गम्यतेः, पराञ्चनैरञ्चितः । का तेऽस्मास्वर्थहितिरासीत् ? किं परितकनम् । परितक्म्या रात्रिः, परित एनां तक्म । तक्मेत्युष्णनाम, तकत इति सतः । कथं रसाया अतरः पयांसीति, रसा नदी रसतेः शब्दकर्मणः । कथं रसानि तान्युदकानीति वा । देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम् ॥ ३ । २२ ॥

सरमा = वाणी, सृ + अमच् + टाप् (उणा० ५.६८) । यह फैलने वाली होती है । '**वाग् वै सरमा**' यह ब्राह्मणवचन दुर्गाचार्य ने दिया है ।

मंत्र का अर्थ करने से पूर्व 'सरमा' के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है । ऋग्वेद के १० वें मण्डल का १०८वां सूक्त सरमा–पणि–सूक्त कहलाता है । इस में असुर पणियों और सरमा देवशुनी का संवाद है, अतएव यास्क ने प्रथम मंत्र का अर्थ करते हुए लिखा है 'देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम्' । अर्थात्, इन्द्र से भेजी हुई देवशुनी सरमा ने असुर पणियों से संवाद किया—यह आर्षकथन या मंत्राशय है ।

ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर सायणाचार्य ने ऋ० १. ६२. ३ तथा १०. १०८. १ के भाष्य में लिखा है कि असुर पणिलोग देवों की गौवें चुराकर लेगये, और किसी सुदूरवर्ती गुप्त स्थान में छिपा कर उन्हें रख छोड़ा। इन्द्र ने सरमा नामी देवों की कुतिया को कहा कि जा, तू उन गौओं का पता ले कि वे कहां हैं। सरमा ने उत्तर दिया कि यदि मेरी सन्तान को उन गौओं का दुग्धादि दोगे तो मैं जाऊंगी। इन्द्र ने इसे स्वीकार कर लिया। सरमा नदी को पार करके उन चोर वनिओं के पास पहुंच गई और गौओं का पता ले लिया। तब इन्द्र ने उन असुर वनिओं को दण्डित किया और गौएं छीन लीं। एवं, प्रस्तुत १०.१०८ सूक्त में असुर पणियों और सरमा का संवाद है।

अब, आप इस कथा के रहस्य की ओर आइये और देखिये कि वेद क्या आज्ञा दे रहा है। (१) 'सरमा' वेदवाणी है, और यह सदा देव लोगों के ही पास रहती है, असुरों के पास नहीं, अतः यह 'देवशुनी' है। इस 'सरमा' की दो सन्तानें हैं, जिनका वर्णन ऋ० १०. १४. १० में इसप्रकार है—'**अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा**'। इस मंत्र में 'पितृयाण' गति को पाने वाले श्रेष्ठ मनुष्यों को मृत्यु पर कहा है कि हे श्रेष्ठ मनुष्यो! तुम साधु मार्ग से चारों तरफ आंखों वाले और चित्र विचित्र विद्या तथा कर्म, इन दोनों वेदवाणीजन्य साथिओं को पितृयाण की ओर साथ ले जाओ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के ४. ४. २ में लिखा है—'**तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते**'। अर्थात्, मरने पर मनुष्य के विद्या और कर्म आत्मा के साथ जाते हैं। सो, 'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः' इस मनुवचन के अनुसार अपने जीवनों को उत्तम बनाने वाले आत्माओं के साथी वेदवाणीजन्य श्रेष्ठ ज्ञान और कर्म, ये ही होंगे। महाभारत के महाप्रस्थानिक पर्व में (३,१७) 'धर्म' को 'श्वन्' कहा है। एवं, पता लगता है कि यहां 'श्वन्' शब्द कुत्ते का वाचक नहीं, अपितु साथी का वाचक है। 'श्वन्' की सिद्धि भी गत्यर्थक 'श्वि' धातु से होती है। संभव है कि जिसप्रकार स्वामिभक्त कुत्ता सदा स्वामी के पास रहता हुआ उस की रक्षा करता है, एवं वेदवाणी भी देव लोगों की सदा रक्षा करती है अतः उसे देवशुनी कहा गया हो, और इसीप्रकार श्रेष्ठ विद्या और कर्म, ये दोनों परजन्म में आत्मा के रक्षक संगी होते हैं, अतः उन्हें सारमेय श्वान कहा है।

(२) 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः' इस मंत्र में (४५० पृ०) बतलाया गया है कि राजा को चाहिये कि वह यज्ञों को न करने वाले अनार्य तथा अधिक ब्याज खाने वाले वनियों से गौओं तथा धन को छीन कर आर्य लोगों में विभक्त करे। उसी की शिक्षा इस सरमा–पणि–सूक्त में दी गयी है। इस से पहला १०७वां

दक्षिणासूक्त है, उस में दाताओं की प्रशंसा की गयी है । और, इस १०८ वें सूक्त में कृपण असुर बनिओं से संपत्ति छीन लेने का वर्णन है । इन्द्र–राजा ने देवसंगिनी वेदवाणी को, अपने राज्य में असुर बनिओं को ढूंढने के लिए कहा । वेदवाणी की सन्तान सब देवजन हैं, अतः उस वाणी ने कहा कि यदि वह छीना हुआ धन मेरी सन्तान में बांटोगे, तब मैं ढूंढने के लिये जाऊंगी । यही बात 'आनो भर प्रमगन्दस्य वेदः' में कही है ।

ऐ० ब्रा० २. ३. में लिखा है—'आसुरी वै दीर्घजिह्वी देवानां प्रातः-सवनमवालेट्' । अर्थात्, असुर बनिओं की दीर्घजिह्वी नामी कुतिया देवजनों की यज्ञ–हवि को खागयी । यहां असुरों की वाणी को दीर्घजिह्वी कहा है, जो कि कृपणता की शिक्षा देती है, और इतनी लम्बी जिह्वा वाली है कि देवों की यज्ञ–हवि भी खा जाती है । यही भाव ४५० पृ० पर 'न तपन्ति घर्मम्' में दर्शाया है ।

अब, इतनी भूमिका के पश्चात् 'किमिच्छन्ती सरमा' मंत्र का अर्थ शीघ्र समझ में आ सकेगा । सरमा देववाणी असुर बनियों के पास जाती है, और वे असुर उससे इसप्रकार पूछते हैं—(किम् इच्छन्ती सरमा इदं प्रानट्) यह वेदवाणी किस इच्छा से यहां आयी है ? (हि दूरे अध्वा) यह मार्ग तो देवजनों से बड़ी दूरी पर है, (पराचैः जगुरिः) और उनसे पराङ्मुख चलने वालों से प्राप्त है । अतः, यहां हमारी ओर वेदवाणी के आने का क्या काम है । (अस्मे का हितिः) हे वेदवाणी ! तेरा कौन सा प्रयोजन हमारे में निहित है, जिसकी सिद्धि के लिये तू यहां आयी है ? (का परितक्म्या) यह हमारी ओर आगमन क्यों हुआ है ? अथवा, यहां रात में क्यों आना हुआ ? देवजन तो पुण्यप्रकाश में रहते हैं, हम उस प्रकाश में नहीं रहते प्रत्युत रात्रि में रहते हैं, यहां कैसे तू आगयी ? (रसायाः पयांसि कथं अतरः) तूने मार्गवर्ती नदी के जल को कैसे तरा ? अर्थात्, इस दुर्गम स्थान में कैसे पहुंच गयी ? अथवा, (या रसा पयांसि, कथं अतरः) जो स्वादु जल हैं, उन्हें क्यों तैरकर यहां आयी ?

यहां, वेदवाणी को धारण किए हुआ राजपुरुष असुर बनियों को वेदाज्ञा के अनुसार राजा की आज्ञा सुनाने आया है, परन्तु कहा ऐसा गया है कि स्वयं वेदवाणी उनके पास आयी ।

उत्तर में 'सरमा' ने कहा कि असुर बनिओ ! मैं राजा की भेजी हुई दूती तुम्हारे बड़े ख़जानों की इच्छा से आयी हूं । सुखाये जाने के भय से, उस नदीजल ने मुझे कष्ट नहीं दिया, अतः मैं उस को सुगमतया तैर आयी हूं ।

इस पर असुर बनिए कहते हैं— हे सरमा ! तू जिस राजा की दूती बन कर सुदूरवर्ती स्थान से यहां आयी है, वह कैसा राजा !! और, उस को क्या शकल है

कि वह हमारे से धन छीन सके। जा जा दौड़। बनियों ने उसे तो इसप्रकार अभिमानभरे वचन कह दिए, परन्तु उन के अन्तरात्मा में भीति का संचार होने लगा। वे परस्पर में सोचते हैं कि यह दूती आगई है, इसे कुछ रिश्वत देकर उपस्थित संकट को दूर करना चाहिए।

सरमा उन के अभिमानभरे वचनों को सुनकर कहती है— असुरो! तुम उस राजा को नहीं जीत सकते, परन्तु वह तुम्हें अवश्यमेव नष्ट कर देगा। तुम्हारी ये मार्गवर्ती गहरी नदियें उसे नहीं हटा सकतीं। बनियो! तुम राजा से शीघ्र मारे जाकर सदा के लिये भूमि पर शयन करोगे।

इस पर फिर भी वे बनिए सरमा पर अपना प्रभाव डालने के लिये कहते हैं— हे सरमा! देवराज के समीप से आयी हुई जो तू इन धनों की इच्छा करती है, वह सब व्यर्थ है। बिना युद्ध किये हमारे से यह धन कोई नहीं छीन सकता। परन्तु हमारे शस्त्रास्त्र बड़े तीक्ष्ण हैं, हमें जीतना कोई सरल कार्य नहीं।

इस पर सरमा कहती है— हे बनियो! तुम्हारे ये वचन सैन्यरहित हैं और तुम्हारे पापी शरीर शस्त्रास्त्र धारण करने के योग्य नहीं। यह पापमार्ग, जिस पर कि तुम चल रहे हो, अब इस पर नहीं चल सकोगे। राजा तुम्हारे शस्त्रास्त्रों तथा तुम्हारे शरीरों का अब कोई कल्याण नहीं करेगा।

इस पर असुर कहते हैं—सरमा! यह गौओं घोड़ों तथा अन्य धनों से भरपूर ख़ज़ाना दुर्गम स्थान में भलीप्रकार सुरक्षित है, और सुरक्षक पहरेदार बनिए इसकी रक्षा कर रहे हैं, तू ऐसे शङ्कित स्थान में निरर्थक आयी है।

सरमा ने कहा— असुरो! यहां योगैश्वर्य से तीक्ष्ण तेजस्वी सन्यासी, अश्रान्त वनस्थ, और नये २ कर्मों को प्राप्त करने वाले ब्रह्मचारी आवेंगे, वे इस संपूर्ण धन को बांट लेंगे, तब तुम्हारे ये अभिमानभरे वचन सब निकल जावेंगे। इस पर बनिये उस को रिश्वत देते हैं और कहते हैं कि ले, तू राजा के पास खबर देने मत जा कि हम इस स्थान पर रहते हैं। परन्तु सरमा ने उसे स्वीकार नहीं किया और उनका धन छीन कर ब्राह्मणादिकों में बांट दिया गया।

पाठक इतने से सूक्त के भाव को समझ सकेंगे। अब, यास्क–व्याख्या की ओर आइए—'जगुरि' यह यङ्लुगन्त 'गम्' धातु से 'उरिन्' प्रत्यय (उणा० २.७३) करने पर सिद्ध होता है, और उसका अर्थ 'अचितः' अर्थात् 'प्राप्त' किया गया है। पराचैः=पराञ्चनैः। हिति=अर्थहिति=प्रयोजन का निधान। **परितक्म्या=** (क) परितकनम्, 'परि' पूर्वक गत्यर्थक 'तक्' धातु से 'मन्' प्रत्यय और यकार का आगम। (ख) रात्रि, इस के दोनों ओर (तवम) उष्णता होती है, परन्तु

यह ठंडी होती है। परि+तक्म, यकार का आगम। **तक्म** = उष्णता, ‘तक्’ गतौ +मन्, उष्णता नीचे ताप परिमाण की ओर गति करती है, और यह सब शरीरों में गयी हुई है, इस के बिना उनकी स्थिति नहीं। परितक्म्या = परितक्म्यायाम् = रात्री, यहां ‘ङि’ का लोप है। रसा = नदी, यह चलती हुई शब्द करती है, ‘रस’ शब्दे + घ ॥ ३ । २२ ॥
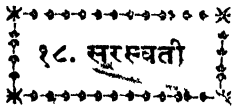
१८. सरस्वती

सरस्वती व्याख्याता । तस्या एषा भवति—

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ १. ३. १०

पावका नः सरस्वत्यन्नैरन्नवती यज्ञं वष्टु धियावसुः कर्मवसुः ॥४।२३॥

सरस्वती की व्याख्या १५१ पृ० पर कर आये हैं। यहां इसका अर्थ अगाध ज्ञान-सरोवर वाली वेदवाणी है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(पावका) पवित्र व्यवहार को बतलाने वाली (वाजिनीवती) अन्नादि ऐश्वर्यसमृद्धि को देने वाली (धियावसुः) और कर्मयोग में बसाने वाली (सरस्वती) वेदवाणी (अग्नैः नः यज्ञं वष्टु) अन्नादि ऐश्वर्यों के साथ हमारे प्रत्येक शुभ कर्म का संचालन करे।

पावनं पावः शुद्धिस्तं कायति शब्दायतीति पावका। वाजिनीवती = अन्न-वती, वाजमन्नं तदस्यामस्तीति वाजिनी अन्नसमृद्धिस्तद्वती। धियावसु = कर्मवसु। ‘वष्टु’ का अर्थ ब्राह्मण ने इस प्रकार किया है—यज्ञं वष्ट्विति यदाह यज्ञं वहत्वित्येव तदाह ॥ ४ । २३ ॥

तस्या एषाऽपरा भवति—

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना ।
धियो विश्वा विराजति ॥ १. ३. ११

महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा, इमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति । वागर्थेषु विधीयते तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते ॥ ५ । २४ ॥

उस 'सरस्वती' का एक मंत्र और दिया गया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(सरस्वती केतुना) वेदवाणी कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के साथ (महः अर्णः) महान् शब्द-समुद्र को (प्रचेतयति) बतलाती है, (विश्वाः धियः विराजति) और संपूर्ण सत्यविद्याओं को प्रकाशित करती है।

एवं, इस मंत्र में स्पष्टतया दर्शाया गया है कि वेदवाणी भाषा, ज्ञान और तदनुसार कर्म, इन तीनों की शिक्षा देती है, तथा ये वेद सब सत्यविद्याओं के पुस्तक हैं।

महस् = महत्। केतु = कर्म, प्रज्ञा। धियः = प्रज्ञानानि।

वाणी शब्दों में विहित की जाती है, और शब्द गुण आकाश का है, अतः 'सरस्वती' वाणी को मध्यमस्थानीय मानते हैं। 'अर्थ' शब्द विषयवाची है, और वाणी का विषय 'शब्द' है, अतः 'अर्थ' शब्दवाची है ॥ ५। २४ ॥
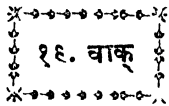
१६. वाक्　　वाग् व्याख्याता। तस्या एषा भवति—

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा। चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्वस्विदस्याः परमं जगाम ॥ ८।१००।१०

यद्वाग् वदन्त्यविचेतनान्यविज्ञातानि, राष्ट्री देवानां, निषसाद मन्द्रा मदना, चतस्रोऽनुदिश ऊर्जं दुदुहे पयांसि। क्वस्विदस्याः परमं जगामेति, यत् पृथिवीं गच्छतीति वा यदादित्यरश्मयो हरन्तीति वा ॥ ६ । २५ ॥

'वाक्' की व्याख्या १५१ पृ० पर कर आये हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(यत् अविचेतनानि वदन्ती) जब अज्ञात पदार्थों को बतलाने वाली (देवानां राष्ट्री) विद्वान् लोगों की स्वामिनी और (मन्द्रा) प्रसन्नता को देने वाली (वाक् निषसाद) दिव्यवाणी प्राप्त होती है, (चतस्रः ऊर्जं पयांसि दुदुहे) तब वह अपने प्रभाव से चारों दिशाओं में अन्न और रस को दोहती है। (अस्याः परमं क्वस्वित् जगाम) देखो, मनुष्य इस वाणी के प्रभाव से उत्पन्न परम रस को कहां २ पाता है। मनुष्य इस वाणी के प्रभाव से, जो पृथिवी में रस विद्यमान है, उसे पाता

है, और जिस रस को सूर्य की रश्मियें आहरण करती हैं, उसे भी प्राप्त करता है।

अप्रिचेतन = अविज्ञात। मन्द्रा = मदना = हर्षकरी। इस मंत्र में 'स्वित्' शब्द पदपूरक है॥ ६। २५॥

तस्या एषाऽपरा भवति—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥ ८. १००. ११

देवीं वाचमजनयन्त देवाः, तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च। सा नो मदनाऽन्नं च रसं च दुहाना धेनुर्वागस्मान् उपैतु सुष्टुता॥ ७। २६॥

उस 'वाक्' की एक ऋचा और दीगई है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(तां विश्वरूपाः पशवः वदन्ति) वैसे तो उस वाणी को सब प्रकार के पशु पक्षी और मूर्ख मनुष्य, सभी बोलते हैं, (देवाः देवीं वाचं अजनयन्त) परन्तु विद्वान् लोग उत्कृष्ट दिव्यवाणी का उच्चारण किया करते हैं। (सा मन्द्रा) अतः, वह प्रसन्नता-प्रदायिनी, (नः इषं ऊर्जं दुहाना) और हमारे लिये सब प्रकार के उत्तम अन्नों और रसों को दोहने वाली (धेनुः वाक्) प्रशस्त दिव्य वाणी (अस्मान् उपैतु) हमें प्राप्त हो।

एवं, इन दो मंत्रों में शिक्षा दी गयी है कि मनुष्यों को सदा उत्तम वाणी का ही उच्चारण करना चाहिये। ऐसा करने से किसी तरह का कष्ट नहीं होता।

पशुपक्षी आदि प्राणिओं की वाणी अव्यक्त कहलाती है, और मनुष्यों की व्यक्त। अतः, 'विश्वरूपाः' का उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

प्रथम मंत्र में यास्काचार्य ने 'ऊर्ज्' का अर्थ अन्न किया है, और इस मंत्र में रस। अतः, विदित होता है कि 'ऊर्ज्' शब्द वेद में अन्न रस, दोनों के लिए प्रयुक्त है॥ ७। २६॥

२०. अनुमति

अनुमति राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः, पौर्णमास्याविति याज्ञिकाः। 'या पूर्वा पौर्णमासी साऽनुमतिः, योत्तरा सा राका' इति विज्ञायते।

अनुमतिरनुमननात्। तस्या एषा भवति—

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि। क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंषि तारिषः॥ ३४. ८

अनुमन्यस्वानुमते त्वं, सुखं च नः कुरु, अन्नं च नोऽपत्याय धेहि, प्रवर्द्धय च न आयुः॥ ८। २७॥

अनुमति और राका, ये दो नाम विद्वान् मनुष्य की पत्नी के हैं, ऐसा नैरुक्त मानते हैं। परन्तु, याज्ञिक इनका अर्थ पौर्णमासी करते हैं। ऐ० ब्रा० ७. २. १० में लिखा है कि पौर्णमासी का पहला भाग अनुमति कहलाता है, और अन्तिम भाग राका। चतुर्दशी तिथि का अन्तिम आठवां प्रहर और पौर्णमासी के आठ प्रहर, ये नौ प्रहर चन्द्रमा के पूर्णकाल के शास्त्रप्रसिद्ध हैं। उन में से पहले दो प्रहरों में चन्द्रमा की कला कुछ न्यून रहती है, और अन्तिम दो प्रहरों में पूर्णकालयुक्त चन्द्रमा होता है। अतः, पहले दो प्रहरों से युक्त पौर्णमासी का नाम अनुमति है, और अन्तिम दो प्रहरों वाली पौर्णमासी को राका कहते हैं।

'मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु' इस प्रतिज्ञा के अनुसार जो द्विजपत्नी पति के अनुकूल मनन करती है, उसे 'अनुमति' कहा जाता है। अनुकूलं मनुते चिन्तयतीति अनुमतिः। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अनुमते! त्वं अनुमन्यासै) हे अनुकूल मति रखने वाली पत्नी! तू मेरे चित्त के अनुकूल चिन्तन कर, (नः शं च कृधि) तू हम सब पारिवारिक व्यक्तियों को सुख दे, (नः क्रत्वे दक्षाय हिनु) तू हमारी सब की सन्तान के लिये बुद्धिप्रद अन्न प्रदान कर, (नः आयूंषि प्रतारीः) और एवं तू हम सब की आयुओं को सुदीर्घ कर।

इत्=पदपूरक। क्रत्वे=क्रतवे=अपत्याय, यहां यास्काचार्य ने 'क्रतु' शब्द अपत्य के लिए प्रयुक्त किया है। दक्षाय=अन्नम्, यहां 'दक्ष' अन्नवाचक है, और विभक्तिव्यत्यय है। हिनु=धेहि, यहां 'धा' धातु को 'हि' आदेश किया गया है॥ ८। २७॥
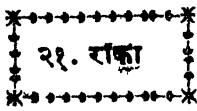
२१. राका

राका रातेर्दानकर्मणः । तस्या एषा भवति—

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥२.३२.४

राकामहं सुह्वानां सुष्टुत्याह्वये । शृणोतु नः सुभगा, बोधतु आत्मना । सीव्यत्वपः प्रजननकर्म सूच्याऽच्छिद्यमानया । सीव्यतेः । ददातु वीरं शतप्रदम् उक्थ्यम् वक्तव्यप्रशंसम् ॥९।२८॥

राका = दानशीला पत्नी, 'रा' दाने + क (उणा० ३.४०) । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अहं सुहवां राकां सुष्टुती हुवे) मैं प्रेमपूर्वक बुलाने के योग्य दानशीला पत्नी को आदर पूर्वक अपने समीप बुलाता हूं, (सुभगा नः शृणोतु) सौभाग्य की इच्छा रखने वाली वह मेरी पत्नी मेरे कथन का ध्यान देकर सुने, (त्मना बोधतु) और आप भी अपने कर्तव्य को जाने । (अच्छिद्यमानया सूच्या अपः सीव्यतु) तद्वत्, जिसप्रकार न टूटने वाली दृढ़ सूई से वस्त्र को सीकर पहिरने के योग्य बना लिया जाता है, उसीप्रकार अपनी कुशाग्र स्थिर बुद्धि से सन्तानोत्पत्तिकर्म को भलीप्रकार उत्तम बनावे । अर्थात्, गर्भ को सुरक्षापूर्वक इसप्रकार धारण करे कि सन्तान बल और बुद्धि, दोनों में सुयोग्य उत्पन्न होसके । (शतदायं उक्थ्यं वीरं ददातु) और फिर, बहुत दानी और प्रशस्य वीर बालक को प्रदान करे ।

सुहवा = सुह्वाना । अपस्—प्रजननकर्म, यहां स्त्री को सन्तति-शास्त्र के पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति का आदेश किया गया है । 'सूची' से सीया जाता है, 'षिवु' + चट् और 'इव्' को ऊकार (उणा० ४.९३) शतदायम् = शतप्रदम् । उक्थ्यम् = वक्तव्यप्रशंसम् ॥ ९ । २८ ॥
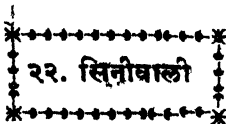
२२. सिनीवाली

सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः । अमावास्ये इति याज्ञिकाः ।

'या पूर्वाऽमावास्या सा सिनीवाली, योत्तरा सा कुहूः' इति विज्ञायते।

सिनीवाली सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि, वालं पर्व वृणोतेः, तस्मिनन्नवती, वालिनी वा, वालेनेवास्यामणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा। तस्या एषा भवति—

> सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
> जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ २.३२.६

सिनीवालि पृथुजघने, स्तुकः स्त्यायतेः संघातः, पृथुकेशस्तुके, पृथुस्तुते वा, या त्वं देवानामसि स्वसा, स्वसा सु असा स्वेषु सीदतीति वा, जुषस्व हव्यमदनं प्रजां च देवि दिश नः॥१०।३१॥

सिनीवाली और कुहू, ये दोनों नाम विद्वान् द्विज की पत्नी के हैं, ऐसा नैरुक्त मानते हैं। परन्तु, याज्ञिक इनका अर्थ अमावस्या करते हैं। ऐ० ब्रा० ७. २. १० में लिखा है कि अमावास्या का पहला भाग सिनीवाली कहलाता है, और अन्तिम भाग कुहू। इसका विस्तृत विवरण अनुमति राका की तरह ही समझना चाहिए।

सिनीवाली—(क) 'सिन' का अर्थ अन्न है, क्योंकि यह प्राणियों को बांधता है, अतएव बृहदारण्यकोपनिषद् ने १. ४. १ में 'अन्नं दाम' लिखते हुए अन्न को रज्जु बतलाया है, 'षिञ्' बन्धने + नक् और पुनः 'मतुप्' अर्थ में छन्दसीवनिपौ वक्तव्यौ (पा० ५.२.१०९ वा०) से ईकार प्रत्यय और ङीप्। और, वाल का अर्थ (पर्वन्) उत्सव है, क्योंकि उत्सवों का वरण किया जाता है, वरणं वारः—वालः। एवं, उत्सवों के दिनों में प्रशस्त भोजनों को बनाने वाली द्विजपत्नी को सिनीवाली कहेंगे, सिनी प्रशस्तान्नवती वाले उत्सवे या सा सिनीवाली। (ख) अथवा, 'वाली' भी 'वाल' से ईकार और ङीप् करने पर सिद्ध होता है। एवं, जो प्रशस्तान्नवती और उत्सवों को मनाने वाली द्विजपत्नी है, उसे 'सिनीवाली' कहा जावेगा।

(ग) अथवा, इस पत्नी में वाल की तरह सूक्ष्म इडा नाड़ी सेवनीय होती है। अर्थात्, जब पत्नी की इडा नाड़ी (चन्द्र नाड़ी) में प्राण सञ्चार कर रहे हों,

तब गर्भाधान करने से अवश्य सन्तान की प्राप्ति होती है, और तभी स्त्री से संभोग करना चाहिए। अर्थात्, एकमात्र सन्तानोत्पत्ति के लिये जिस पत्नी से संभोग किया जाता है, उस देवपत्नी को सिनीवाली कहा जावेगा। सेवितव्या बालमिव सूक्ष्मा इडा यस्यां सा सिनीवाली। सेवनीया इति सिनी, सेवनी-सेनी-सिनी। शिवस्वरोदय ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इसप्रकार किया है—

ऋतुकालभवा नारी पंचमेऽह्नि यदा भवेत्।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगे सेवनात्पुत्रसंभवः ॥ २८६ ॥

ऋत्वारम्भे रविः पुंसां स्त्रीणां चैव सुधाकरः।
उभयोः संगमे प्राप्ते वंध्या पुत्रमवाप्नुयात् ॥ २६१ ॥

अर्थात्, ऋतुस्नान के अनन्तर जब स्त्री को पांचवां दिन हो जाये, और उस समय यदि पुरुष का सूर्यस्वर तथा स्त्री का चन्द्रस्वर चलता होवे, तो उस समय स्त्री का सेवन करने से सन्तान की प्राप्ति होती है। और, यदि ऋतु के प्रारम्भ में पुरुष का सूर्यस्वर तथा स्त्री का चन्द्रस्वर चले, तो दोनों का संग होने पर वंध्या स्त्री भी सन्तान का लाभ करती है।

एवं, याज्ञिक पक्ष में अमावस्या के पहले भाग में सूक्ष्म बाल की तरह सूक्ष्म कला वाला चन्द्रमा होता है, अतः उस अमावास्या को सिनीवाली कहते हैं—

अब, मंत्रार्थ देखिए—(पृथुष्टुके) विशाल जघनप्रदेश वाली, लम्बे २ केश-समूह वाली, या अत्यन्त पूजनीय (सिनीवालि) ऋतुगम्या पत्नी, (या देवानां स्वसा असि) जो तू विद्वान् भाईयों की बहिन है, अर्थात् सुकुलीन है, (आहुतं हव्यं जुषस्व) वह तू गर्भाधान संस्कार में आहुत शेष हव्य का, भोज्य पदार्थ का, प्रीति से सेवन कर, (देवि) और फिर हे देवि ! (नः प्रजां दिदिड्ढि) गर्भाधान पूर्वक हमें उत्तम सन्तान को दे।

पृथुष्टुका—(क) 'स्तुका' शब्द जघन प्रदेश के लिये प्रयुक्त होता है, अतः पृथुजघना अर्थ है। (ख) 'स्तुक' शब्द केशसमूह के लिये प्रयुक्त होता है, अतः पृथुकेशसमूहा है। यहां यास्क ने 'स्तुक' शब्द सामान्यतः संघातार्थक माना है। जघन प्रदेश में मांसादि की अधिक राशि होने से, उसे स्तुक कहा गया है, और इसीप्रकार केशसमूह भी स्तुक कहलाता है। 'स्त्यै' संघाते+कुकन्–स्त्युक–स्तुक। (ग) 'स्तुका' का तीसरा अर्थ स्तुता है, स्तुतका—स्तुका। **स्वसृ**—(क) सु+अस्+ऋन् (उणा० २.९६) बहिन मर्यादा पूर्वक विद्यमान रहती है, वह

सगोत्र वाले से संबन्ध नहीं करती। सु+नञ्+सृ, यह सगोत्र भाई से गमन नहीं करती। (ख) यह अपने भाई आदिकों में स्थित रहती है, अर्थात विवाह हो जाने पर भी उन से प्रेम रखती है। स्व+सद्+अस् और द्विर्भाव। हव्य = अदन = भोज्य पदार्थ। दिदिड्ढि = दिश = देहि ॥ १० । २९ ॥

२३. कुहू

कुहूर्गूहतेः, क्वाभूदिति वा, क्व सती हूयत इति वा, क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा। तस्या एषा भवति—

कुहूमहं सुवृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि। सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम॥ अथ०७.४७.१

कुहूमहं सुकृतं विदितकर्माणम् अस्मिन् यज्ञे सुह्वानामाह्वये। सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां पित्र्यं धनमिति वा, पित्र्यं यश इति वा। तस्यै ते देवि! हविषा विधेमेति व्याख्यातम्॥११।३०॥

कुहू—(क) देवपत्नी गुह्य बातों को गुप्त रखती है, अर्थात् बड़ी गम्भीर होती है, गुह्+कु (उणा० १. ३७) और स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय। (ख) देवपत्नी के सौम्य स्वभाव को देख कर स्वभावतः यह प्रश्न किया जाता है कि यह देवी किस कुल में रहती थी, क्व+भू-कुहू। (ग) देवपत्नी जहां कहीं हो, उसे दूसरे कुल वाले अपने उत्सवादिकों में आदरपूर्वक बुलाते हैं, क्व+ह्वेञ्। (घ) यह देवी किस कुल में आहुत हव्यशेष का ग्रहण करती है, ऐसा देवपत्नी के बारे में प्रश्न किया जाता है, क्व+हु। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अहं सुवृतं) मैं साधुकर्मकारिणी, (विद्मनापसं) अपने कर्तव्यों को जानने वाली (सुहवां कुहूं) आदर-पूर्वक बुलाने के योग्य गम्भीर पत्नी को (अस्मिन् यज्ञे जोहवीमि) इस गृहस्थ यज्ञ में स्वीकार करता हूं। (सा नः पितॄणां श्रवणं ददातु) वह श्रेष्ठपत्नी हमारे कुलक्रमागत ऐश्वर्य और यश को प्रदान करे। (देवि तस्यै ते हविषा विधेम) हे देवि! ऐसे गुणों से संपन्न तेरी हम उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा करते हैं, या तुझे उत्तम पदार्थ देते हैं।

सुवृत् = सुकृत्, जैसे कि 'व्रत' कर्मवाचक है। विद्मनापसम् = विदितकर्माणम्। अप्नस् = धन, यश। 'विधेम' की व्याख्या ६३३ पृष्ठ पर कर चुके हैं॥ ११। ३०॥

२४. यमी

यमी व्याख्याता (६२६ पृ०)। तस्या एषा भवति—

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥१०.१०.१४

अन्यमेव हि त्वं यमि! अन्यस्त्वां परिष्वङ्क्ष्यते लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छ, स वा तव। अधानेन कुरुष्व संविदं सुभद्रां कल्याणभद्राम्। यमी यमं चकमे, तां प्रत्याचचक्षेत्याख्यानम्॥ १२। ३१॥

इसकी व्याख्या दैवतकाण्ड के अन्त में यमयमीसूक्त में की जावेगी॥१२।३१॥

* चतुर्थ पाद *

२५. उर्वशी

उर्वशी व्याख्याता। तस्या एषा भवति—

विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि।
जनिष्ठो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरते दीर्घमायुः॥१०.९५.१०

विद्युदिव या पतन्त्यद्योतत हरन्ती मे अप्या काम्यान्युदकान्यन्तरिक्षलोकस्य। यदा नूनमयं जायेताद्भ्यो ऽध्यप इति नर्यो मनुष्यो नृभ्यो हितो(नरापत्यमिति)वा, सुजातः सुजाततरः, अथोर्वशी प्रवर्द्धते दीर्घमायुः॥ १। ३२॥

उर्वशी की व्याख्या ३४० पृ० पर कर आये हैं कि यह शब्द विद्युत् तथा पत्नी का वाचक है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(मे अप्या काम्यानि भरन्ती, या पतन्ती विद्युत् न दविद्योत्) जिसप्रकार अन्तरिक्षस्थ काम्य उत्तम जलों को प्रदान करती हुई, अर्थात् वृष्टि करती हुई, गिरती हुई विद्युत् द्योतमान होती है, उसीप्रकार जो मेरी प्राप्तव्या प्रिया काम्य सुखों को प्रदान करती हुई, गर्भाधानकाल में अपने उत्तम स्वरूप को दर्शाती है, (अपः नर्यः सुजातः जनिष्ठः) और, जब निश्चय से अन्तरिक्षस्थ जलों से जल-प्रपात की तरह उस रज वीर्य से यह अधिककर्मा, मनुष्यों के लिये हितकारी अर्थात् परोपकारी या मनुष्य की सन्तान, और माता पिता से भी अधिक गुणी पुत्र उत्पन्न होता है, (अथ उर्वशी दीर्घं आयुः प्रतिरते) तब स्त्री उस बच्चे के सम्यक्तया धारण पोषण से उस की आयु को सुदीर्घ बनाती है।

भरन्ती = हरन्ती । अप्या = अप्यानि = अन्तरिक्षस्थानि, अपोऽन्तरिक्षं तत्र भवानि । अथवा, अप्या = प्राप्तव्या । काम्यानि = उदकानि, सुखानि । अपः = अध्यपः = जल-प्रपात, क्योंकि इस में जल बहुत होता है, अथवा अधिक-कर्मा, क्योंकि 'अपस्' कर्मवाचक भी है। नर्यः = मनुष्यः । नृभ्यो हितः, नरापत्यम्, हित या अपत्य अर्थ में 'यत्' प्रत्यय । सुजातः = सुजाततरः ॥ १ । ३२ ॥
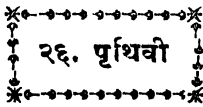
२६. पृथिवी

पृथिवी व्याख्याता । तस्या एषा भवति-

बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि ।
प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि ॥

सत्यं त्वं पर्वतानां मेघानां खेदनं छेदनं बलमत्र धारयसि पृथिवि ! प्रजिन्वसि या भूमिं प्रवणवति ! महत्त्वेन महतीत्युदकवतीति वा ॥ २ । ३३ ॥

पृथिवी की व्याख्या ६४ पृ० पर कर आये हैं। यहां यह विद्युद्वाचक है। मन्त्रार्थ इसप्रकार है—

(प्रवत्वति ! महिनि ! पृथिवि) नीचे पृथिवी की ओर आने वाली और महान् गुणों वाली या मेघजलवर्ती विद्युत् ! (या मह्ना भूमिं प्रजिनोषि) जो

तू वृष्टिकर्म के महत्त्व से भूमि को तृप्त करती है (बट् इत्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि) सो तू सचमुच उस अन्तरिक्ष में मेघों के छेदन-बल को धारण करती है।

बट् = सत्यम् । इत्था = अमुत्र । खिद्र = खेदन = छेदन, यहां 'खिद्' धातु छेदनार्थक मानी है । प्रवत् = प्रवण = निम्न प्रदेश । महिनि = महति, उदकवति॥२।३३॥

२७. इन्द्राणी

इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी । तस्या एषा भवति-

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् । नह्यस्या अपरञ्च
जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १०. ८६.११

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमशृणवं, नह्यस्या अपरामपि समां जरया म्रियते पतिः । सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद्ब्रूमः ॥ ३ । ३४ ॥

आत्म-सहचारिणी, अर्थात् आत्मा को कभी न भुलाने वाली स्त्री को 'इन्द्राणी' कहा है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(आसु नारिषु अहं इन्द्राणीं सुभगां अशृणवम्) इन सब स्त्रियों में मैं आत्म-सहचारिणी, अर्थात् आत्मा के विरुद्ध कभी कार्य न करने वाली विदुषी स्त्री को सौभाग्यवाली सुनता हूं, (अस्याः पतिः अपरञ्चन जरसा न मरते) क्योंकि इसका पति आत्मा कभी भी बुढ़ापे से नहीं मरता, अर्थात् आत्म-घात के न करने से उसका आत्मा कभी पतित नहीं होता, अतः ऐसी स्त्री सदा सुहागिनी है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) और ऐसी स्त्री का आत्मा सम्पूर्ण प्राकृतिक जगत् से ऊपर उठा हुआ होता है।

अपरञ्चन = अपरामपि समाम् = निकृष्ट वर्ष में भी, अर्थात् ऐसे काल में भी जब कि पतित होने के लिये अनेक प्रलोभन उपस्थित हों । इसी सूक्त के और मंत्र २४ तथा ४५० पृ० पर देखिए । तमेतद्ब्रूमः = जो आत्मा संपूर्ण प्राकृतिक जगत् से उच्च है, उसको लक्ष्य में रख कर हम विद्वान् लोग ऐसी व्याख्या करते हैं ॥ ३ । ३४ ॥

तस्या एषाऽपरा भवति—

नाहमिंद्राणि रारण सख्युर्वृषाकपे ऋते । यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १०.८६.१२

नाहमिन्द्राणि ! रमे सख्युर्वृषाकपे ऋते, यस्येदम् अप्यं हविरप्सु शृतम् अद्भिः संस्कृतमिति वा, प्रियं देवेषु निगच्छति । सर्वस्माद् य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूमः ॥ ४ । ३५ ॥

उस 'इन्द्राणी' का एक मन्त्र और दिया गया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(इन्द्राणि ! अहं सख्युः वृषाकपेः ऋते न रारण) हे श्रेष्ठ आत्मा वाली पत्नी ! मैं मित्रसमान वर्तमान धर्मश्रेष्ठ पुत्ररत्न के बिना रमण नहीं करता, (यस्य अप्यं इदं प्रियं हविः देवेषु गच्छति) जिस की जल में पकायी हुई या जल से परिशोधित यह उत्तम हवि विद्वानों में जाती है। अर्थात्, हे पत्नी ! मुझे ऐसे धर्मश्रेष्ठ पुत्ररत्न के बिना सुख नहीं, जो कि उत्तम अन्नों के द्वारा विद्वानों का सदा सत्कार करता है । (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) हे पत्नी ! तेरा आत्मा संपूर्ण प्राकृतिक जगत् से ऊपर उठा हुआ है, अतः ऐसा पुत्ररत्न अवश्य प्राप्त होगा ।

रारण=रमे । 'वृषाकपि' का अर्थ धर्मश्रेष्ठ है, (२१६ पृ० भी देखिए) जैसा कि महाभारतान्तर्गत मोक्षधर्म पर्व के निम्न श्लोक से (३४२ अ० ८७ श्लो०) विदित होता है—

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः ॥

अप्यम्=अप्सु शृतम्, अद्भिः संस्कृतम्, शृत या संस्कृत अर्थ में 'अप्' से 'यत्' प्रत्यय ॥ ४ । ३५ ॥

२८. गौरी

गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । अयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव प्रशस्यो भवति । तस्या एषा भवति—

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी । अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥ १.१६४.४१

गौरीर्निर्मिमाय सलिलानि तक्षती कुर्वत्येकपदी मध्यमेन, द्विपदी मध्यमेन चादित्येन च, चतुष्पदी दिग्भिः, अष्टापदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च, नवपदी दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्चादित्येन च, सहस्राक्षरा बहूदका परमे व्यवने ॥ ५ । ३६ ॥

गौरी = विद्युत्, 'रुच्' दीप्तौ + घञ् + ङीष्, रौची—चौरी—गौरी । प्रशस्य होने से शुक्ल वर्ण को 'गौर' कहा जाता है, वह भी इसी 'रुच्' धातु का पुल्लिङ्ग रूप है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(सलिलानि तक्षती गौरीः मिमाय) वृष्टि के द्वारा जल को उत्पन्न करती हुई विद्युत् सस्यादि का निर्माण करती है । (सा एकपदी) यह विद्युत् मेघों में रहने से एक स्थान वाली है, (द्विपदी) मेघ और सूर्य में रहने से दो स्थानों वाली है, (चतुष्पदी) चारों दिशाओं में रहने से चार स्थानों वाली हो, (अष्टापदी) चारों दिशाओं और चारों उपदिशाओं में रहने से आठ स्थानों वाली है, (नवपदी) और चारों दिशाओं चारों उपदिशाओं तथा आदित्य में रहने से नौ स्थानों वाली है । (बभूवुषी) इसप्रकार विद्यमान होती हुई यह विद्युत् (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट सर्वगत आकाश में (सहस्राक्षरा) प्रभूत जल को धारण करती है ।

तक्षती = कुर्वती । सहस्राक्षरा = बहूदका, सहस्र = बहुत, अक्षर = जल । व्योमन् = व्योम्नि = व्यवने ॥ ५ । ३६ ॥

तस्या एषाऽपरा भवति—

तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति ॥ १.१६४.४२

तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति वर्षन्ति मेघाः, तेन जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि । ततः क्षरत्यक्षरमुदकं, तत्सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति ॥ ६ । ३७ ॥

उस गौरी का एक मंत्र और दिया गया है । जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(तस्याः समुद्राः अधिविक्षरन्ति) उस विद्युत् के सामर्थ्य से मेघ बरसते

हैं, (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) और उस वर्षा से चारों दिशाओं में रहने वाले प्राणी जीवन धारण करते हैं। (ततः अक्षरं क्षरति) और फिर वह जल प्रभूत सस्यादिक को उत्पन्न करता है, (तत् विश्वं उपजीवति) और उस सस्य को संपूर्ण प्राणिजगत् भक्षण करके जीवन धारण करता है।

समुद्र = मेघ । अधिविक्षरन्ति = वर्षन्ति । प्रदिशः = दिगाश्रयाणि भूतानि, यहां तास्थ्योपाधि है ॥ ६ । ३७ ॥

२६. गो
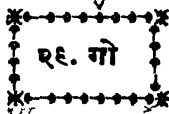
गौर्व्याख्याता । तस्या एषा भवति—

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ । सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥१.१६४.२८

गौरन्वमीमेद्वत्सं निमिषन्तम् अनिमिषन्तमादित्यमिति वा, मूर्द्धानमस्याभिहिङ्ङकरोन्मननाय । सृक्वाणं सरणं, घर्मं हरणम्, अभिवावशाना मिमाति मायुं प्रप्यायते पयोभिः, मायुमिवादित्य-मिवेति वा । वागेषा माध्यमिका, घर्मधुगिति याज्ञिकाः ॥ ७।३८॥

'गो' की व्याख्या ११२ तथा १२० पृ० पर कर आये हैं। यहां यह मेघ का वाचक है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(गौः मिषन्तं वत्सं अनु अमीमेत्) मेघ-गाय वृष्टिरूप क्षीर के अभाव से निमीलिताक्ष भूलोक-वत्स को देख कर शब्द करती है, (उ मातवै मूर्धानं हिङ् अकृणोत्) और निश्चय दिलाने के लिए कि अब मेघ-गाय अपने भूलोक-वत्स को जल-दुग्ध प्रदान करेगी वह मेघ-गाय भूलोक-वत्स के भूपृष्ठ-शिर पर हिङ्कार शब्द करती है। (सृक्वाणं घर्मं अभिवावशाना) और फिर चलने वाले रस-हरण-शील भूलोक-वत्स से प्यार करती हुई (मायुं मिमाति) गर्जन-शब्द करती है, (पयोभिः पयते) तथा जल-दुग्ध से उसे परिपुष्ट करती है।

यास्काचार्य ने दूसरे पक्ष में 'मिषन्तम्' का अर्थ 'अनिमिषन्तम् आदित्यम्' और 'मायुम्' का 'मायुमिवादित्यमिव' किया है। उस के अनुसार मंत्रार्थ इसप्रकार होगा—मेघ-गाय भूलोक-वत्स को तपाते हुए सूर्य को देख कर शब्द करती है,··· भूलोक-वत्स से प्यार करती हुई, जैसे सूर्य किरणों की वर्षा करता है, एवं यह

मेघ-गाय वृष्टि-दुग्ध का निर्माण करती है, और उससे उसे परिपुष्ट करती है।

मिषत् = निमिषत् (आंख बन्द किये हुआ) अनिमिषत् (निरन्तर आंख खोले हुआ)। सूर्य का 'अनिमेष' अधिक चमकना और उससे संतप्त करना ही है। मातवै = मननाय, सृक्व = सरणशील। घर्म = हरणशील। मायु = शब्द, आदित्य।

नैरुक्त कहते हैं कि यहां 'गो' शब्द (माध्यमिका वाणी) मेघ का वाचक है, परन्तु याज्ञिकों का मत है कि इसका अर्थ यज्ञ के लिये दूध को दोहने वाली गाय है। गो-पक्ष में मंत्र का अर्थ स्पष्ट है ॥ ७ । ३८ ॥

३०. धेनु
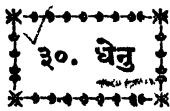
धेनुर्धयतेर्वा, धिनोतेर्वा। तस्या एषा भवति-

उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् । श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षुप्रवोचम् ॥ १.१६४.२६

उपह्वये सुदोहनां धेनुमेतां, कल्याणहस्तो गोधुगपि च दोग्ध्येनां, श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु नः—इत्येष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकं, यद्वा पयो यजुष्मत्। अभीद्धो घर्मस्तं सुप्रब्रवीमि। वागेषा माध्यमिका घर्मधुगिति याज्ञिकाः ॥ ८ । ३९ ॥

धेनु = मेघ। (क) यह भूलोक-वत्स को जल-दुग्ध पिलाती है, 'धेट्' पाने + नु (उणा० ३.३४)। (ख) अथवा, यह जल से भूमि को तृप्त करती है, 'धिवि' + नु। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(एतां सुदुघां धेनुं उपह्वये) मैं इस प्रचुर वृष्टि-दुग्ध को दोहने वाली मेघ-धेनु को वृष्टि के लिये बुलाता हूं। (उत सुहस्तः गोधुक् एनां दोहत्) अपिच सिद्धहस्त सूर्य-गोधुक् इसे दोहे। (सविता श्रेष्ठं सवं नः साविषत्) एवं, सर्वप्रेरक परमेश्वर श्रेष्ठ जल-दुग्ध को हमारे लिये उत्पन्न करे। (घर्मः अभीद्धः) क्योंकि ग्रीष्मकाल बड़ा संतप्त है, (तत् उ सुप्रवोचम्) इस लिये प्रभु से इस प्रकार प्रार्थना कर रहा हूं।

साविषत् = सुनोतु। सब रसों में वृष्टिजल या यज्ञसंबन्धी दुग्ध सर्वोत्तम है। सव = जल, दुग्ध।

नैरुक्त कहते हैं कि यहां 'धेनु' शब्द मेघ का वाचक है, परन्तु याज्ञिकों का मत है कि इसका अर्थ यज्ञ के लिये दूध दोहने वाली गाय है। गो–पक्ष में मंत्र का अर्थ स्पष्ट है॥ ८। ३९॥
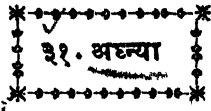
३१. अघ्न्या

अघ्न्या ऽहन्तव्या भवति, अघघ्नीति वा। तस्या एषा भवति—

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम। अद्धि तृण-मघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ १. १६४. ४०

सूयवसादिनी भगवती हि भवाथ, इदानीं वयं भगवन्तः स्याम। अद्धि तृणमघ्न्ये सर्वदा, पिब च शुद्धमुदक-माचरन्ती॥ ९। ४०॥

अघ्न्या = मेघ, गाय। (क) ये दोनों अहन्तव्य हैं, नञ्+हन्+यक्। मनुष्यों को ऐसे दुष्कर्म नहीं करने चाहियें, जिन से कि राष्ट्र में अनावृष्टि हो। और, इसीप्रकार गाय सर्वथा अवध्य है, अतएव महाभारत में (शान्ति०२६१.४८)लिखा है—अघ्न्येति गवां नाम क एतां हन्तुमर्हति'। (ख) अघ+हन्+यक् (उणा० ४. ११२)—अघघ्न्य—अघ्न्य। मेघ दुष्कालजन्य पापों तथा रोगों का नाश करता है, और गाय के दूध आदि रोगों के नाश करने में सर्वोत्तम औषध हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(अघ्न्ये सूयवसाद् भगवती हि भूयाः) हे मेघ! तू उत्तम जल को धारने वाला बनकर ऐश्वर्यवान् हो, (अथो वयं भगवन्तः स्याम) फिर हम भी ऐश्वर्य-वान् होगें। (तृणं अद्धि) मेघ! तू जल का पान कर, (आचरन्ती) और इधर उधर मडहलाते हुए (विश्वदानीं शुद्धं उदकं पिब) सर्वदा पवित्र जल का पान कर।

गो–पक्ष में मंत्र का अर्थ स्पष्ट है। सूयवसाद् = सुयवसादिनी। विश्वदानीम् = सर्वदा॥ ९। ४०॥

तस्या एषाऽपरा भवति—

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्। दुहाम-श्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्द्धतां महते सौभगाय॥१.१६४.२७

इति सा निगदव्याख्याता ॥ १० । ४१ ॥

'अघ्न्या' का एक मंत्र और दिया गया है, जिस का अर्थ इसप्रकार है—

(वसूनां वसुपत्नी) [illegible] वस्तुओं का [illegible] मेघ (मनसा वत्सं इच्छती) दिल से भूलोक-वत्स की इच्छा रखता हुआ (हिङ्कृण्वती अभ्यागात्) गर्जना के साथ आता है । (इयं अघ्न्या) तब यह मेघ (अश्विभ्यां पयः दुहाम्) व्याप्त स्थावर तथा जंगम, दोनों के लिये जल को दोहता है । (सा महते सौभगाय वर्द्धताम्) वह हमारे महान् सौभाग्य के लिये वृद्धि-लाभ करे ।

मंत्रार्थ स्पष्ट है, अतः यास्क ने इसकी व्याख्या नहीं की । गो-पक्ष में भी इसी तरह अर्थ समझिये ॥ १० । ४१ ॥

३२. पथ्या
३३. स्वस्ति

पथ्या स्वस्तिः पन्था अन्तरिक्षं तन्निवासात् । तस्या एषा भवति—

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति । सा नो अमा सो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥ १०.६३.१६

स्वस्तिरेव हि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वती धनवत्यभ्येति या वसूनि वननीयानि । सा नो ऽमा गृहे, सा निरमणे सा निर्गमने पातु स्वावेशा भवतु देवी गोप्त्री, देवान् गोपायत्विति, देवा एनं गोपायन्त्विति वा ॥ ११ । ४२ ॥

इस से पहले मंत्र 'स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु' और इस मंत्र का देवता 'पथ्या स्वस्ति' है । यास्काचार्य ने भी इसको एक ही देवता मानकर व्याख्या की है । परन्तु निघण्टु में 'पथ्या' और 'स्वस्ति' ये दो पद पृथक् २ परिगणित हैं, जोकि चिन्त्य है ।

पथ्या = पथि अन्तरिक्षे निवसतीति पथ्या मेघः, 'पथिन्' से निवास अर्थ में 'यत्' प्रत्यय । स्वस्ति = कल्याण, इसकी व्याख्या २३७ पृ० पर कर आए हैं, अतः यहां नहीं की गयी । एवं, पथ्या स्वस्ति का अर्थ हुआ, अन्तरिक्षस्थ कल्याणकारी मेघ । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(या वामं अभ्येति) जो प्रशस्त जल को धारण करता है, (प्रपथे स्वस्तिः इत् हि) वह अन्तरिक्षस्थ कल्याणकारी मेघ ही (श्रेष्ठा रेक्णस्वती) श्रेष्ठ धनवान् है। (सा नः अमा) वह मेघ हमारी घर में, (सा उ अरणे) और वही हमारी अरण्य में या देशान्तर में (पातु) रक्षा करे। (देवगोपा) सुखप्रदाता और भूमिरक्षक, या देवभावों का रक्षक, अथवा यज्ञकर्त्ता देवजनों से रक्षणीय मेघ (स्वावेशा भवतु) हमारा उत्तम निवासक हो।

इत् = एव। वामम् — वननीयानि वसूनि। अमा = गृहे। अरण = निरमण (रमण रहित अरण्य) निर्गमन (घर के बाहर देशान्तर)। देवगोपा = देवी चासौ गोप्त्री, देवान् गोपायतु इति देवगोपा, देवाः यनां गोपायन्तु इति देवगोपा ॥ ११ । ४२ ॥
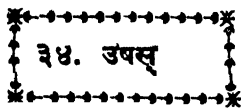
३४. उषस्

उषा व्याख्याता। तस्या एषा भवति—

अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह विभ्युषी।
नियत्सीं शिश्नथद्वृषा॥ ४. ३०.१०

अपासरदुषा अनसः सम्पिष्टान्मेघाद्विभ्युषी। अनो वा वायुरनितेः, अपिवोपमार्थे स्याद् अनस इव शकटादिव। अनः शकटम् आनद्धमस्मिंश्चीवरम्, अनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मणः उपजीवन्त्येनत्। मेघोऽप्येतस्मादेव। यदभिरशिश्नथद् वृषा वर्षिता मध्यमः॥ १२ । ४३ ॥

'उषस्' की व्याख्या १४५ पृ० पर कर आये हैं। यहां इसका अर्थ विद्युत् है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

कवि अशनिपात का वर्णन करता है—(यत् वृषा निशिश्नथत्) जब वृष्टिकर्ता वायु ने इस मेघ को ताड़ित किया, (विभ्युषी उषाः) तब डरती हुई उषा, (अनसः संपिष्टात्) वायु के द्वारा संचूर्णित उस मेघ से (अपसरत्) भाग निकली।

अथवा, 'अनसः' यहां लुप्तोपमा तथा श्लेष मानकर मंत्र का अर्थ इसप्रकार होगा—(यत् वृषा निशिश्नथत्) जब वृष्टिकर्ता वायु-सांड ने इस मेघ-शकट पर प्रहार किया, (बिभ्युषी उषाः) तब उस पर बैठी हुई शकटस्वामिनी विद्युत् भयभीत होकर (अनसः संपिष्टात्) उस संचूर्णित मेघ-शकट से (अपसरत्) भाग निकली।

अनस् = (क) वायु, यह जीवन का आधार है, अन् + असुन्। (ख) शकट, इसकी छत पर कपड़ा बंधा हुआ होता है, आ + नह् + असुन् और ह्रिद्भाव—अनस्। अथवा, शकट जीविका का एक साधन है (३८४ पृ०) अतः उसे 'अनस्' कहा जाता है, अन् + असुन्। (ग) मेघ, यह भी जीवनाधार होने 'अनस्' है, अतएव इसी 'अन्' धातु से निष्पन्न होता है। नि = निर्, शिश्नथत् = अशिश्नथत्, सरत् = असरत्। वृषा = वर्षिता मध्यमस्थानीय वायु। 'अह' और 'सीम्' पदपूरक हैं ॥ १२ । ४३ ॥

तस्या एषा ऽपरा भवति—

एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या।
ससार सीं परावतः ॥ ४. ३०. ११

एतदस्या अन आशेते सुसम्पिष्टम् इतरदिव विपाशि विमुक्तपाशि। ससारोषाः परावतः प्रेरितवतः परागताद्वा ॥ १३ ।४४ ॥

उस उपमा की एक और ऋचा दी गयी है, जिस का अर्थ इसप्रकार है—

(एतत् अस्याः सुसंपिष्टं विपाशि अनः आशये) देखो, इस विद्युत् का यह भूमितल पर संचूर्णित तथा टूटे हुए बन्धनों वाला मेघ-शकट पड़ा है, (परावतः ससार) और विद्युत् टकराये हुये या दूर आकर पड़े हुये इस मेघ-शकट से निकल भागी है।

यहां भूमितल पर पड़े हुए वृष्टि-जल को देख कर कवि ने कहा है कि देखो अब वायु-सांड ने उस मेघ-शकट को तोड़ दिया, तब वह टूटा हुआ मेघ-शकट यहां भूमि पर आ पड़ा है, और शकटस्वामिनी विद्युत् कहीं भाग गई है।

परावत् = प्रेरितवत्, परागत ॥ १३ ॥ ४४ ॥

३५. इळा

इळा व्याख्याता । तस्या एषा भवति—

अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु ।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणाना अभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः ॥
सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः ॥ ५. ४१. १९

अभिगृणातु न इळा यूथस्य माता सर्वस्य माता, स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु, उर्वशी वा बृहद्दिवा महद्दिवा गृणानाऽभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्य प्रभृतस्यायोरयनस्य ज्योतिषो वोदकस्य वा, सेवतां नोऽन्नस्य पुष्टेः ॥१४।४५॥

'इडा' की व्याख्या ५४१ पृ० पर कर चुके हैं । यहां इसका अर्थ प्रशस्त या चमकने वाली विद्युत् है । अनुक्रमणिकाकार ने 'अभि न इडा०' तथा 'सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः' ये दो मंत्र माने हैं । परन्तु 'तस्या एषा भवति' यहां एकवचन के प्रयोग से विदित होता है कि यास्काचार्य इन दोनों को मिलाकर एक ही मंत्र गिनते हैं । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(यूथस्य माता उर्वशी वा इडा) मेघमाला का निर्माण करने वाली और रूपवती विद्युत् (स्मत् नदीभिः नः अभिगृणातु) प्रशस्त जलों से हमारे पर अनुग्रह करे । (उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणाना) और इसप्रकार यह रूपवती विद्युत् प्रभूत दिव्य जल से अनुग्रह करती हुई (प्रभृथस्य आयोः अभ्यूर्ण्वाना) सम्भृत ज्योति या जल को आच्छादन करके (ऊर्जव्यस्य पुष्टेः) अन्न की पुष्टि के लिये (नः सिषक्तु) हमारी सेवा करे, अर्थात् उत्तम वृष्टि के द्वारा हमारे अन्नों को परिपुष्ट करती हुई हमारी सेवा करे ।

वा=च । स्मत् = प्रशस्त । प्रभृथ = प्रभृत । आयु = अयन = ज्योति, उदक । 'प्रभृथस्य आयोः' यहां कर्म में षष्ठी है ॥ १४ । ४५ ॥

३६. रोदसी

रोदसी रुद्रस्य पत्नी । तस्या एषा भवति—

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे । आ यस्मिन्
तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी ॥ ५.५६.८

रथं क्षिप्रं मारुतं मेघं वयं श्रवणीयमाह्वयामहे, आ यस्मिन् तस्थौ सुरमणीयान्युदकानि बिभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी ॥ १५ । ४६ ॥

रोदसी = रुद्र अर्थात् वायु की सहचारिणी विद्युत् । मंत्रार्थ इसप्रकार है—(वयं मारुतं श्रवस्युं रथं नु आहुवामहे) हम वायु के प्रेरित श्रवणीय मेघ-रथ को शीघ्र बुलाते हैं, (यस्मिन् सुरणानि बिभ्रती रोदसी) जिस में कि सुरम्य जलों को धारण करती हुई विद्युत् (मरुत्सु सचा आतस्थौ) वायु के साथ आस्थित है ।

नु = क्षिप्रम् । मारुतं मरुत्प्रेरितम् । श्रवस्यु = श्रवणीय । रथ = रमणीय जल । मरुत्सु = मरुद्भिः ॥ १५ । ४६ ॥

द्वादश अध्याय ।

* प्रथम पाद *

१. अश्विनौ

अथातो द्युस्थाना देवताः । तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः । अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः । अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः ।

तत्कावश्विनौ ? द्यावापृथिव्यावित्येके । अहोरात्रावित्येके । सूर्याचन्द्रमसावित्येके । राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः । तयोः काल ऊर्ध्वमर्द्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनु, तमोभागो हि मध्यमः ज्योतिर्भाग आदित्यः ॥ १ ॥

अब, यहां से द्युलोकस्थानीय देवताओं की व्याख्या की जाती है । उन में अश्वि पहले आने वाले हैं । अश्विनौ—(क) यस्मात् सर्वं व्यश्नुवाते व्याप्नुतस्तस्माद् अश्विनौ, जिस से ये सब को व्यापन करते हैं, एक रस से और दूसरा प्रकाश से, अतः ये 'अश्विनौ' कहलाते हैं । 'अशूङ्' व्याप्तौ + विनि । (ख) और्णवाभ निरुक्तकार कहता है कि 'अश्व' से 'मतुप' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय करने पर 'अश्विनौ' की सिद्धि होती है । एवं, इस पक्ष में 'अश्विनौ' का अर्थ 'वेगवन्तौ' या 'अश्ववन्तौ' होगा ।

सो, ये अश्वि देवता कौन से हैं ? (क) कई कहते हैं कि ये द्यावापृथिवी हैं, क्योंकि सूर्य प्रकाश से और पृथिवी अन्नरस से सब को व्यापन करती है, अथवा सूर्य तथा पृथिवी, ये दोनों वेगवान् हैं । (ख) कई मानते हैं कि ये दिन और रात हैं, जिन में से दिन प्रकाश से और रात्रि ओस-रस से सब को व्याप्त करती है, तथा ये दोनों वेगवान् हैं । (ग) कई कहते हैं कि 'अश्विनौ' का अर्थ सूर्य तथा चन्द्रमा है, क्योंकि सूर्य प्रकाश से और चन्द्रमा आह्लाद-रस से सब को व्यापन करता है, और ये दोनों लोक वेगवान् हैं । (घ) और, ऐतिहासिक विद्वान् कहते हैं कि ये मनुष्य-समाज

से पुण्यकर्मा राजा हैं। अर्थात्, अध्यापक और उपदेशक, भिषक् और शल्य-चिकित्सक, राजा और रानी आदि 'अश्विनौ' कहलाते हैं। ये सब प्रशस्त इन्द्रियों वाले हैं, अतः द्वितीय निर्वचन से इन की सिद्धि होती है।

उन अश्विओं का काल आधी रात के पश्चात् प्रकाश के अनशः फटने के साथ साथ है। अर्थात्, यद्यपि 'अश्विनौ' शब्द सामान्यतः अहोरात्र के लिये प्रयुक्त होजाता है, परन्तु मुख्यतया यह शब्द अर्धरात्रि के पश्चात् से लेकर सूर्योदय पर्यन्त तक के अहोरात्र-काल का नाम है, जबकि अन्धेरे को फाड़ता हुआ थोड़ा २ प्रकाश उस में मिलता रहता है। इस काल में जो तमोभाग है, वह मध्यम देवता है, और जो ज्योतिर्भाग है, वह आदित्य का है, अर्थात् वह उत्तमस्थानीय है ॥ १॥

तयोरेषा भवति—

"वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वाविव।
कदेदमश्विना युवमभि देवाँ अगच्छतम् ॥"

इति सा निगदव्याख्याता।

तयोः समानकालयोः समानकर्मणोः संस्तुतप्राययोरसंस्तवे-नैषोऽर्द्धर्चो भवति—'वासात्यो अन्य उच्यते उषः पुत्रस्तवान्यः' इति ॥ २ ॥

उन अश्विओं की स्वरूप-सिद्धि के लिये 'वसातिषु स्म चरथः' आदि किसी शाखा की ऋचा है, जिस में उपर्युक्त अश्विकाल की परिपुष्टि की गई है। उसका अर्थ इसप्रकार है—

(अश्विना! असितौ पेत्वौ इव वसातिषु चरथः) हे अश्विओ! जो तुम कृष्ण मेघों की तरह रात्रियों में विचरते हो, (युवं इदं कदा देवान् अभ्यगच्छतम्) वे तुम इस ब्रह्म-ध्यान के लिए कब देवजनों को प्राप्त हुए?

एवं, यहां बतलाया गया है कि अश्विओं का काल उस रात्रि-भाग में है, जब कि कृष्ण मेघों की तरह बहुत थोड़ा सा प्रकाश भी रहता है, और ध्यानी लोग ब्रह्म का ध्यान करते हैं।

उस अश्विकाल की सिद्धि के लिये 'वासात्यो अन्य उच्यते' आदि एक अन्य किसी शाखा की आधी ऋचा दी गयी है, जिस में कि समकालीन

समानकर्मा और प्रायः करके इकट्ठी स्तुति वाले अश्विभों की पृथक् २ स्तुति की गयी है। उस में कहा गया है कि हे सूर्य ! तेरा (वासात्यः) रात्रि-पुत्र अश्वी एक है, और उषा-पुत्र दूसरा है। अर्थात्, रात्रि और प्रकाश, दोनों के मेल का नाम 'अश्विनौ' है॥ २॥

तयोरेषाऽपरा भवति—

इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा नामभिः स्वैः। जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्य सुभगः पुत्र ऊहे॥ १.१८१.४

इहचेह जातौ संस्तूयेते पापेनालिप्यमानया तन्वा नामभिश्च स्वैः। जिष्णुर्वामन्यः सुमहतो बलस्येरयिता मध्यमः, दिवो अन्यः सुभग पुत्र ऊह्यत आदित्यः॥ ३॥

उस अश्विकाल की सिद्धि में एक मंत्र और दिया गया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(इह इह जाता) यहां मध्यम स्थान में और यहां उत्तम स्थान में उत्पन्न हुए अन्धकार और प्रकाश अश्वी (अरेपसा तन्वा) पाप से अलिप्यमान स्वरूप से (स्वैः नामभिः) और अपने कर्मनामों से (समवावशीताम्) इकट्ठे स्तुत किए जाते हैं। (वाम् अन्यः जिष्णुः सुमखस्य सूरिः) हे अश्विभो ! तुम्हारे में से एक अन्धकार या चन्द्रमा जिष्णु तथा सुमहान् बल का प्रेरक है, (अन्यः सुभगः दिवः पुत्रः ऊहे) और दूसरा उषा या द्युलोक का पुत्र प्रसन्नताप्रद प्रकाश या आदित्य त्रित वायु के द्वारा चलाया जाता है।

एवं, इस मंत्र में अन्धकार और प्रकाश, तथा चन्द्र और सूर्य इन दोनों के मेल को 'अश्विनौ' बतलाया है। इन अश्विकाल में किसी तरह का भी पापकर्म नहीं करना चाहिए, प्रत्युत इन में परमात्मा का ध्यान आदि श्रेष्ठ कर्म ही करने चाहिएँ। इन में से अन्धकार के भाग को पापादिकों का जेता और सुमहान् बल का प्रेरक बनाना चाहिए, तथा प्रकाश से सौभाग्य का लाभ करना चाहिए।

समवावशीताम् = संस्तूयेते। सुमखस्य = सुमहतो बलस्य। सूरि = ईरयिता। ऊहे = ऊह्यते॥ ३॥

तयोरेषाऽपरा भवति—

प्रातर्युजा विबोधयाश्विनावेह गच्छताम् ।
अस्य सोमस्य पीतये ॥ १. २२. १

प्रातर्योगिनौ विबोधयाश्विनाविहागच्छताम्, अस्य सोमस्य पानाय ॥ ४ ॥

उन अश्विओं का एक मंत्र और दिया गया है । पहले मंत्र में तो अश्विओं का विभिन्न वर्णन था, परन्तु यहां उनकी इकट्ठी स्तुति की गयी है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(प्रातर्युजा अश्विनौ) प्रातःकाल से योग करने वाले अर्थात् सूर्योदय से मिलने वाले अश्विओ ! (विबोधय) उद्बुद्ध होवो, (अस्य सोमस्य पीतये इह आगच्छताम्) और इस योगैश्वर्य के पान के लिये यहां भूलोक में आवो ।

यहां, तत्सहचरितोपाधि से अश्विओं का वर्णन करते हुए आज्ञा दी गयी है कि सब मनुष्य अश्विकाल (ब्रह्ममुहूर्त्त) में उठा करें और योग का अभ्यास किया करें ॥ ४ ॥

Arvind तयोरेषाऽपरा भवति—

प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम् । उतान्यो अस्मद्यजते वि चावः पूर्वःपूर्वो यजमानो वनीयान् ॥ ५.७७.२

प्रातर्यजध्वमश्विनौ, प्रहिणुत, न सायमस्ति देवेज्या, अजुष्टमेतत् । अप्यन्यो अस्मद्यजते, वि चावः, पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान् वनयितृतमः॥ तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तः, तस्मिन्नन्या देवता ओप्यन्ते ॥ ५ ॥

अश्विओं का एक मंत्र और दिया गया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(अश्विना प्रातः यजध्वम्) हे मनुष्यो ! तुम अश्विओं की प्रातःकाल संगति करो, (हिनोत) और परमेश्वर को भक्ति-हवि पहुंचाओ। (देवया सायं

में अस्ति) देवपूजा प्रातःकाल के पश्चात् अर्थात् सूर्योदय के अनन्तर ठीक नहीं होती, (अजुष्टम्) सूर्योदय के पश्चात् देवपूजन अनासेवित है। (उत अस्मत् अन्यः यजते) अपिच हमारे में से जो कोई इस काल में देवपूजन करते हैं, (वि आवः च) और विशेष भक्ति करते हैं, (पूर्वः पूर्वः यजमानः वनीयान्) उनमें से पहला पहला यजमान उत्तम भक्ति वाला होता है।

एवं, इस मंत्र में अश्विकाल को देवपूजन के लिये सर्वोत्तम बतलाया गया है। और साथ ही यह भी दर्शाया गया है कि इस अश्विकाल का प्रारम्भिक काल ईश्वर-भक्ति के लिये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। इस अश्विकाल में भक्ति करने से परमेश्वर हमारी भक्ति को अवश्य स्वीकृत करता है, अतएव इस काल का प्रसिद्ध नाम ब्रह्म-मुहूर्त्त है, और यह समय परब्रह्म से मिलने के लिये सर्वोत्तम है।

देवयाः = देवेज्या। वनीयान् = वनयितृतमः। (तयोः कालः०) इन अश्विओं का काल सूर्योदय पर्यन्त है, और इस काल में अन्य देवता भी डाले जाते हैं। अर्थात् उषा, सूर्या, सरण्यू, त्वष्टा, सविता और भग, ये छै देवता भी इसी अश्विकाल के अन्तर्गत है ॥ ५ ॥
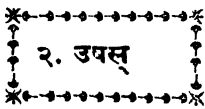
२. उषस्

उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः, उच्छतेरितरा माध्यमिका। तस्या एषा भवति—

उषस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यं वाजिनीवति।
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ १. ९२.१३

उषस्तच्चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनमाहरास्मभ्यम्, अन्नवति! येन पुत्रांश्च पौत्रांश्च दधीमहि ॥ ६ ॥

उषस् = सूर्योदय से पूर्व की प्रभातवेला। (क) कान्त्यर्थक 'वश' के संप्रसारणरूप 'उश्' से 'असि' प्रत्यय (उणा० ४.२३४) उषाकाल बड़ा कमनीय होता है। (ख) 'उच्छी' विवासे + असि, यह अन्धकार को दूर करती है। विद्युत् का वाचक मध्यमस्थानीय 'उषस्' शब्द केवल इसी 'उच्छी' धातु से निष्पन्न होता है 'वश' से नहीं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(वाजिनीवति उषः) हे प्रशस्तान्नवती उषा! (अस्मभ्यं तत् चित्रं आभर) तू हमें उस श्रेष्ठ धन को दे, (येन तोकं च तनयं च धामहे) जिस से कि हम पुत्रों और पौत्रों को धारण करें।

चित्रं = चायनीयं = मंहनीयम् धनम् । वाजिनीवति = अन्नवति । धामहे = दधीमहि ॥ ६ ॥

तस्या एषा ऽपरा भवति—

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्द्धे रजसो भानुमञ्जते । निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रतिगावो ऽरुषीर्यन्ति मातरः ॥१.९२.१

एतास्ता उषसः केतुमकृषत प्रज्ञानम्, एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात्, पूर्वे अर्द्धे अन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना, निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः । निरित्येष समित्येतस्य स्थाने—'एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव' इत्यपि निगमो भवति । प्रतियन्ति गावो गमनात्, अरुषीरारोचनात्, मातरो भासो निर्मात्र्यः ॥ ७ ॥

उस उषा का एक मंत्र और दिया गया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(एताः त्याः उषसः) यह वह उषा (रजसः पूर्वे अर्द्धे भानुं अञ्जते) अन्तरिक्ष लोक के सूर्य-सम्मुखवर्ती आधे भाग में प्रकाश से प्रकाशित हो रही है, (केतुं अकृषत) जिसने कि हमें पृथिवीस्थ पदार्थों का बोधन कराया है । (धृष्णवः आयुधानि इव निष्कृण्वाना:) जिसप्रकार योद्धालोग अपने आयुधों को संस्कृत करते हुए उन्हें चमकाते हैं, उसीप्रकार पृथिवीस्थ पदार्थों पर से तमोमल को दूर करके उन्हें चमकाती हुई, (गावः, अरुषीः, मातरः) गतिशील, प्रकाशमान, तथा प्रभात को बनाने वाली उषा (प्रतियन्ति) प्रतिदिन प्राप्त होती है ।

उ = पदपूरक । केतु = प्रज्ञान । 'उषा' एक है, परन्तु यहाँ पूजा में उसी एक का बहुवचनान्त प्रयोग है । रजसः = अन्तरिक्षलोकस्य । भानुम् = भानुना । गो = उषा, क्योंकि यह स्थिर नहीं प्रत्युत गतिशील है । अरुषी = प्रकाशमान उषा, आ + 'रुच्' दीप्तौ + क — आरुच — अरुष । इसीतरह 'अरुण' की सिद्धि है । (३५७ पृ०) । मातरः = भासो निर्मात्र्यः । निष्कृण्वाना = संस्कुर्वाणा, यहां 'निर्' उपसर्ग 'सम्' के स्थान पर है, अर्थात् 'निर्' का अर्थ 'सम्' है, जैसे कि 'एमीदेषां निष्कृतम्' में प्रयुक्त है । संपूर्ण मंत्र और उसका अर्थ इसप्रकार है—

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽवहीये सखिभ्यः ।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥ १०.३४.५

(यदा आदीध्ये एभिः न दविषाणि) जब मैं यह संकल्प करता हूं कि इन जुआरिओं के साथ अब कभी नहीं खेलूंगा, (परायद्भ्यः सखिभ्यः अवहीये) क्योंकि इन विरुद्धाचारी जुआरी मित्रों के संग से मैं अत्यन्त हीनता को पाता हूं । (च न्युप्ताः बभ्रवः वाचं अक्रत) परन्तु, जब नीचकर्म को बोए हुआ द्यूत शब्द करता है, अर्थात् नीचकर्म का वपन किए हुए जुआरी कोलाहल करते हैं, (जारिणी इव) तब उस कोलाहल को सुनकर व्यभिचारिणी स्त्री की तरह (एषां निष्कृतं एमि इत्) इन जुआरिओं के संस्कृत स्थान में, द्यूतशाला में चला ही जाता हूं । अर्थात्, जैसे अनेक संकल्प करने पर भी व्यभिचारिणी स्त्री का व्यभिचार छूटना बड़ा दुष्कर है, उसीप्रकार यह द्यूतव्यसन है ॥ ७ ॥
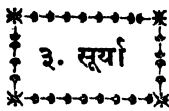
३. सूर्या

सूर्या सूर्यस्य पत्नी, एषैवाभिसृष्टकालतमा । तस्या एषा भवति—

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् । आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥ १०.८५.२०

सुकाशनं शल्मलं सर्वरूपम् । अपिवोपमार्थे स्यात् सुकिंशुकमिव शल्मलिमिति । किंशुकं क्रंशतेः प्रकाशयतिकर्मणः, शल्मलिः सुशरो भवति शरवान् वा । आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकमुदकस्य, सुखं पत्ये वहतुं कुरुष्व । 'सविता सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा' इति च ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

उदयकालीन आदित्य का नाम 'सूर्य' है, तत्सहचारिणी प्रभा 'सूर्या' कहलाती है । अतएव यास्क ने कहा कि यह उषा ही अधिक काल छोड़ चुकने पर 'सूर्या' बन जाती है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(सूर्ये ! सुकिंशुकं शल्मलिं) हे सूर्यप्रभा ! तू चमकीले और निर्मल, अथवा सुपुष्पित सेंबल की तरह लालिमायुक्त, (विश्वरूपं हिरण्यवर्णं) नानारूपों वाले, सुनहरे रंग वाले (सुवृतं, सुचक्रम्) शोभन रश्मियों से आवृत, तथा सुन्दर चक्राकार

(अमृतस्य लोकं आरोह) जल के स्थान अन्तरिक्षलोक में आरूढ़ हो, (वहतुं पत्ये स्योनं कृणुष्व) और इस विवाह को अन्तरिक्ष-पति के लिए सुखदाती बना।

सूर्योदय से कुछ ही काल पूर्व पूर्वदिशा के अन्तरिक्ष-भाग में विशेष चमकाहट और लालिमा आजाती है, जिसे यहां इसप्रकार वर्णित किया गया है कि जैसे कोई सींबल का वृक्ष अच्छीप्रकार खिला हो और उस के रक्तपुष्पों से आकाशमण्डल रञ्जित हो गया हो। उस लालिमा से कहीं २ अन्तरिक्ष सुनहरा भी दीख पड़ता है। ऐसे सुहावने निर्मल आकाश-मण्डल में सूर्योदय होने पर सूर्यप्रभा आरूढ़ होती है, और अन्तरिक्ष की शोभा को शतगुणित कर देती है। यही सूर्या का अन्तरिक्ष-पति के लिए सुख का आधान है।

सुकिंशुक—(क) सुकाशन = चमकीला, सु + 'काशृ' दीप्तौ + उकन्। (ख) सुकिंशुक = सुन्दर पुष्पों वाला = सुपुष्पित, किंशुक शब्द यद्यपि पलाश के पुष्पों के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु यहां सींबल के पुष्पों के लिये प्रयुक्त है। 'सु' पूर्वक प्रकाशनार्थक 'क्रंश' धातु से 'उकन्' प्रत्यय, क्रंशुक—किंशुक, पलाश या सींबल का फूल चमकीला होता है। शल्मलि—(क) शद्रुमल = नष्टमल = निर्मल, 'शद्लृ' शातने + मल — शद्रुमल-शल्मलि। (ख) सींबल, यह मृदु होने के कारण (सुशर) सुगमतया काटा जा सकता है, 'शृ' हिंसायाम् से 'मलि' प्रत्यय। अथवा, यह (शरवान्) कांटेदार वृक्ष होता है, 'शर' से 'मतुप्' अर्थ में 'मलि' प्रत्यय, शरमलि—शल्मलि। अमृतस्य लोकम् = अन्तरिक्षम्।

यहां 'पत्ये' शब्द से सूर्या का पति 'सूर्य' अभिप्रेत नहीं, प्रत्युत अन्तरिक्षलोक है। इस की पुष्टि में यास्काचार्य 'सविता सूर्यां प्रायच्छत्' आदि कहीं का ब्राह्मण वचन देते हैं। इस में बतलाया गया है कि आदित्य ने 'सूर्या' को नक्षत्रराट् चन्द्रमा या प्रजापति अन्तरिक्षलोक के लिए प्रदान किया। एवं, सूर्या के अर्थ सुषुम्णा-रश्मि और सूर्यप्रभा उषा, ये दोनों हैं। आदित्य सुषुम्णा के द्वारा चन्द्रमा को प्रकाशित करता है, और सूर्यप्रभा उषा से अन्तरिक्ष को आलोकित करती है। ऐ० ब्रा० ४.२.१ में इसप्रकार पाठ पाया जाता है—प्रजापतिर्वै सोमाय राज्ञे दुहितरं प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम्॥ ८॥

४. वृषाकपायी

वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी, एषैवाभिसृष्टकालतमा। तस्या एषा भवति—

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे। घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १०.८६.१३

वृषाकपायि रेवति सुपुत्रे मध्यमेन, सुस्नुषे माध्यमिकया वाचा। स्नुषा साधुसादिनीति वा, साधु सानिनीति वा, स्वपत्यं तत् सनोतीति वा। प्राश्नातु त इन्द्र उक्षण एतान् माध्यमिकान् संस्त्यायान्। उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः, उक्षन्त्युदकेनेति वा। प्रियं कुरुष्व सुखाचयकरं हविः। सर्वस्माद्य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम्॥ ६॥

अस्त होते हुए आदित्य का नाम 'वृषाकपि' है, तत्सहचारिणी संध्याकालीन प्रभा वृषाकपायी कहलाती है। अतएव यास्क ने कहा है कि यह 'सूर्या' ही अत्यधिक काल छोड़ चुकने पर 'वृषाकपायी' बन जाती है। एवं, उदय होते हुए आदित्य की प्रभा सूर्या, और अस्त होते हुए आदित्य की प्रभा वृषाकपायी है। वृषाकपेः पत्नी वृषाकपायी, वृषाकपि+ङीप् और ऐकारादेश (पाणि० ४.१.३७) मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(रेवति सुपुत्रे आत् उ सुस्नुषे वृषाकपायि) हे धनवती! हे सध्यान्धकार-पुत्र वाली! अपिच हे निस्तब्धता-पुत्रवधू वाली संध्याकालीन प्रभा! (ते उक्षणः इन्द्रः घसत्) तेरी ओस को आदित्य भक्षण करे। अर्थात्, तू ओस का निर्माण करने वाली है, जिसे कि आदित्य अपनी रश्मियों से हर लेता है। (प्रियं काचित्करं हविः) हे वृषाकपायि! तू उस प्रिय तथा अत्यधिक सुखसंपादक ओस-हवि का निर्माण कर। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) और जो आदित्य प्रकाश्य और प्रकाशक, इन दोनों प्रकार के लोकों से सर्वोत्कृष्ट है, उससे हम यह कहते हैं कि वह इस ओस का भक्षण करे।

पहले उषा को 'वाजिनीवति' और अब यहां 'वृषाकपायि' को 'रेवति' कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि ये दोनों संध्यायें मनुष्य के लिये धनवती बनें। प्रातःकालीन संध्या से मनुष्य धनोपार्जन प्रारम्भ करता है, और सायंकालीन संध्या के समय समाप्त करता है। एवं, ये दोनों संध्यायें धनवती बनानी चाहियें।

'वृषाकपायी' मध्यमस्थानीय अन्धकार के कारण (तमोभागो हि मध्यमः—७०८ पृ०) सुपुत्रवती है, और अन्धकार-सहचारिणी माध्यमिका वाणी अर्थात् निस्तब्धता उसको पुत्रवधू है। 'माध्यमिका वाक्' का अर्थ निस्तब्धता है, यह भाषा में प्रयुक्त 'सन्नाटा छा गया' से स्पष्ट है। यहां सन्नाटे का अन्तरिक्ष में छाना प्रकट किया गया है।

स्नुषा—(क) साधुसादिनी, पुत्रवधू कुल में साधुतया स्थित होती है, अतएव विवाह में शिलारोहण कराते समय कन्या से 'अश्मेव त्वं स्थिरा भव' यह कहा जाता है। सु+सद्+ड—सुषा—स्नुषा। (ख) साधुसानिनी, यह साधुतया यथायोग्य अन्नादि पदार्थों को बांटती है, अतएव गृहपत्नी को 'अन्नः सत्' भी कहा है। सु+षण+ड। (ग) 'सु' अर्थात् अपत्य को देनेवाली है, सु+'षणु' दाने +ड। यहां यास्काचार्य ने 'सु' शब्द अपत्यवाची माना है, जिसका निर्वचन 'सूयते इति सुः' होगा। उक्षण=माध्यमिक ओस-समूह। (क) 'उक्ष' वृद्धौ +कनिन्, ओस ओषधि वनस्पतियों को बढ़ाने वाली है। (ख) 'उक्ष' सेचने+कनिन्, ओस जल से सिक्त करती है। काचित्कर=सुखाचयकर=अत्यधिक सुखकारी, कस्य सुखस्य आचितं सञ्चयं करोतीति काचित्करम्। आचित्=आचय=सञ्चय ॥ ९ ॥
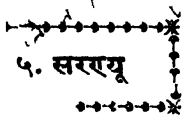
५. सरण्यू — सरण्यूः सरणात्। तस्या एषा भवति—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते। उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ १०.१७.२

अप्यगूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते। अप्यश्विनावभरद्यत्तदासीद् अजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यूर्मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः, यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः।

तत्रेतिहासमाचक्षते—त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार। सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधायाश्वं रूपं कृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव। ततोऽश्विनौ जज्ञाते, सवर्णायां मनुः ॥१०॥

जब प्रभा भूलोक से चली जाती है, तब उस छाया या रात्रि को 'सरण्यू' कहा जाता है। एवं, इस सरण्यू का काल वृषाकपायी के पश्चात् से लेकर 'उषा' से पूर्व तक का है। सृ+अन्युच् (उणा० ३.८१) और फिर स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्'प्रत्यय।

मंत्रार्थ करने से पूर्व 'त्वष्टा' के स्वरूप को भी जान लेना अत्यावश्यक है। इस के यथार्थ ज्ञान के बिना ऐतिहासिक वर्णन का समझना कठिन है। प्रस्तुत प्रकरण से विदित होता है कि सरण्यू-समकालीन अस्तंगत आदित्य का नाम 'त्वष्टा' है। भागवत ६ स्क० ९ अ० में लिखा है—**येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना। स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः॥** और, द्वादशविध आदित्यों में 'त्वष्टा' भी एक आदित्य है, अतः निस्सन्देह यह रात्रिगत आदित्य ही है।

मत्स्यपुराण ११. ५ में लिखा है-'**त्वाष्ट्री स्वरूपेण नाम्ना छायेति भामिनी**'। और, यास्काचार्य ने '**जाया' विवस्वतः**' का अर्थ '**रात्रिरादित्यस्य**' किया है, अतः 'सरण्यू' शब्द छाया या रात्रि का वाचक है।

महाभारत १.६६. ३५ में '**त्वाष्ट्री तु सवितुः भार्या**' से त्वाष्ट्री सरण्यू को सविता की भार्या कहा है, इसी बात का प्रतिपादन 'जाया विवस्वतः' शब्द कर रहे हैं। 'त्वष्टा' से छाया या रात्रि की उत्पत्ति है, अतः 'सरण्यू' त्वष्टा की पुत्री है। और, जिसप्रकार सूर्य की सहचारिणी सूर्या सूर्यपत्नी है, उसीप्रकार यह 'सरण्यू' त्वष्टा की पत्नी भी है, 'त्वष्टा' का पर्यायवाची ही 'विवस्वत्' प्रयुक्त किया गया है। इसप्रकार के वर्णन वेद में बहुत्र पाये जाते हैं, जैसे कि 'अत्रा पिता दुहितार्गर्भमाधात्' आदि मंत्र में पीछे (२८३ पृ०) दर्शा चुके हैं। परन्तु इससे पाठक यह न समझलें कि वेद भाई बहिन के विवाह-सम्बन्ध का पोषक है, क्योंकि उसका निषेध तो यमयमी सूक्त में बड़े प्रबल शब्दों में किया है।

अब, मंत्रार्थ देखिए—(अमृतां मर्त्येभ्यः अपागूहन्) ईश्वरीय नियमों ने अमृतस्वरूपा पूर्वकालीन सरण्यू को मनुष्यों से छिपा दिया, (सवर्णां कृत्वी विवस्वते अददुः) और तत्सवर्णा अन्तकालीन सरण्यू बनाकर त्वष्टा को प्रदान की। (उत यत् आसीत् तत्) और तब जो सरण्यू का दूसरा स्वरूप था उसने (अश्विनौ अभरत्) अश्विकालवर्ती अहोरात्र को धारण किया, (उ सरण्यूः द्वा मिथुना अजहात्) और उस पूर्वकालीन सरण्यू ने अन्धकार और निस्तब्धता, ये दोनों मिथुन पैदा किए।

एवं, इस मंत्र में सरण्यू के दो स्वरूप दर्शाये गये हैं। एक तो अर्धरात्रि से पहले का स्वरूप, और दूसरा अर्धरात्रि के पश्चात् का स्वरूप। पहले स्वरूप से तो अन्धकार और निस्तब्धता का जोड़ा पैदा होता है, और दूसरे स्वरूप से अश्विकालवर्ती दिन तथा रात उत्पन्न होते हैं।

नैरुक्त 'द्वा मिथुना' का अर्थ मध्यम (अन्धकार) तथा माध्यमिका वाक् (निस्तब्धता) करते हैं, और ऐतिहासिक इन्हें ही यम तथा यमी कहते हैं,

क्योंकि 'त्वष्टा दुहित्रे' में 'यमस्य माता' शब्द प्रयुक्त है।

जो विद्वान् यम यमी का अर्थ दिन रात करते हैं, वह सर्वथा भूल में हैं। इस में दो हेतु हैं—(१) पहला तो यह कि यम यमी की उत्पत्ति 'सरण्यू' से बतलायी गयी है, और यास्क ने 'जाया विवस्वतः' का अर्थ 'रात्रिरादित्यस्य' करते हुए 'सरण्यू' को ही रात्रि माना है। (२) और दूसरा यह कि सरण्यू से यम यमी, और दो अश्वी पैदा हुए हैं, जिन में से 'अश्विनौ' का अर्थ अहोरात्र है। अतः यमयमी दिन रात नहीं हो सकते, कोई अन्य ही होने चाहिएँ। अतः हमारी सम्मति में यम का अर्थ अन्धकार और यमी का अर्थ निस्तब्धता ही उचित जान पड़ता है।

इसी प्रसङ्ग से कथावाचक ऐतिहासिकों ने कथा का निर्माण इसप्रकार किया है कि "त्वष्टा की पुत्री सरण्यू ने विवस्वान् से यम यमी के जोड़े को उत्पन्न किया। और फिर वह दूसरी सवर्णा को अपनी प्रतिनिधि बनाकर स्वयं अश्व रूप धारण करके भाग गयी। तब उस विवस्वान् आदित्य ने भी अश्व का रूप धारण करके उस सरण्यू का पीछा किया और उससे संबन्ध किया। तब दो अश्वी पैदा हुए। और, उस सवर्णा से मनु उत्पन्न हुआ।" एवं, इस संपूर्ण कथा का वही अभिप्राय है जो कि अभी पीछे उल्लिखित किया जा चुका है। सवर्णा से मनु की उत्पत्ति का वर्णन पूर्वोक्त मंत्र में नहीं है। यहां कथा में इसका क्या अभिप्राय है, यह विचारणीय है ॥ १० ॥

६. त्वष्टा

तदभिवादिन्येषर्ग् भवति—
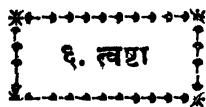
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ १०.१७.१

त्वष्टा दुहितुर्वहनं करोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति, इमानि च सर्वाणि भूतान्यभिसमागच्छन्ति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते ॥ ११ ॥

'सरण्यू' त्वष्टा की पुत्री है, और उसने यम यमी पैदा किए, इसकी बुद्धि

में 'त्वष्टा दुहित्रे' आदि मंत्र है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति) रात्रिकालीन सूर्य दूरतक फैली हुई पुत्री सरण्यू अर्थात् रात्रि का विवाह करता है, (इति इदं विश्वं भुवनं समेति) इसलिये ये सब प्राणी इकट्ठे हो रहे हैं। (पर्युह्यमाना यमस्य माता) और फिर यह ब्याही हुई अन्धकार की माता (महः विवस्वतः जाया) और महान् त्वष्टा की स्त्री रात्रि (ननाश) आदित्य के उदय होने पर नष्ट हो जाती है।

एवं, इस मंत्र में त्वष्टा और सरण्यू के काल को स्पष्टतया दर्शाया गया है। इन दोनों का काल सूर्यास्त से प्रारम्भ होता है और उषा से पहले तक रहता है। उषा के रूप में सूर्योदय के होते ही सरण्यू नष्ट हो जाती है। जिसप्रकार किसी के विवाह के उपस्थित होने पर दूर २ से आकर लोग इकट्ठे होते हैं, इसीप्रकार सरण्यू का विवाह उपस्थित होने पर रात्रि के समय सब प्राणी अपने २ स्थानों में इकट्ठे हो जाते हैं।

दुहित्रे = दुहितुः। वहतुम् = वहनम्। जाया विवस्वतः = रात्रिः आदित्यस्य, ननाश = आदित्योदये ऽन्तर्धीयते। आदित्य के उदय होने पर (सरण्यू) रात्रि क्योंकि नष्ट हो जाती है, अतएव इस का नाम 'अहल्या' भी है, अहनि लीयते इति अहल्या।

त्वष्टा से अजएकपात् तक आदित्य के १२ नामों का उल्लेख है। 'त्वष्टा दुहित्रे' आदि मंत्र के देवता त्वष्टा और सरण्यू, दोनों हैं। पहली आधी ऋचा का देवता त्वष्टा है, और दूसरी आधी का सरण्यू ॥ ११ ॥

* द्वितीय पाद *

७. सविता

सविता व्याख्यातः। तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति। तस्यैषा भवति—

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥ ५.८१.२

सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते । मेधावी कविः क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा । प्रसुवति भद्रं द्विपाद्भ्यश्च चतुष्पाद्भ्यश्च । व्यचिख्यपन्नाकं सविता वरणीयः प्रयाणमनूषसो विराजति ॥ १ । १२ ॥

'सविता' की व्याख्या ६४० पर पृ० कर आये हैं। यहां यह उदय से पूर्व के आदित्य का वाचक है। यह सब प्राणिओं के लिए भद्रता को उत्पन्न करता है, अतएव मंत्र में 'प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे' यह निर्वचन दिया हुआ है। इस सविता का काल वह है जबकि अन्तरिक्ष में अन्धेरा दूर होगया हो, और उस में आदित्य-रश्मियें पड़ रही हों। अर्थात्, जब अन्तरिक्ष में तो प्रकाश हो और नीचे भूमि पर अभी अन्धेरा हो, वह काल सविता का है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(कविः विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते) मेधा-शक्ति को बढ़ाने वाला सविता सब पदार्थ-स्वरूपों अर्थात् ज्ञानों को डालता है, (द्विपदे चतुष्पदे भद्रं प्रासावीत्) और यह मनुष्यों तथा पशुओं के लिये कुशलता को पैदा करता है। (वरेण्यः सविता नाकं व्यख्यत्) वरणीय सविता अन्तरिक्ष को प्रकाशित करता है, (उषसः प्रयाणमनु विराजति) और उषा के प्रारम्भ के साथ प्रकाशित होता है।

एवं, इस मंत्र में सविता का स्वरूप दर्शाया गया है, जो कि इसतरह है—
(१) यह मेधा-शक्ति को बढ़ाने वाला है। इस काल में मनुष्य की बुद्धि उत्तम होती है, और यही कारण है कि इस समय ध्यान करने से मनुष्य को कई यथार्थ ज्ञान उपलब्ध हो जाते हैं, जोकि अन्य किसी समय में नहीं सूझते। इसीप्रकार गायत्री मंत्र में भी 'सविता' से 'धियो यो नः प्रचोदयात्' की प्रार्थना की गयी है।
(२) यह काल मनुष्यों तथा पशुओं के लिये स्वास्थ्य-वर्धक तथा कुशलताप्रद है। इसीप्रकार 'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव' यहां भी भद्रता का उल्लेख है। (३) इस समय केवल अन्तरिक्ष में ही प्रकाश होता है, नीचे भूमि पर अन्धकार ही रहता है। (४) बुद्धिवर्धक और भद्रताप्रद होने के कारण मनुष्यों को यह सविता अवश्य सेवना चाहिये। इस समय सोए पड़े रहना बड़ी मूर्खता है। (५) और, इस सविता के साथ ही उषा का प्रारम्भ होता है।

रूपाणि = प्रज्ञानानि। कवि = मेधावी, गत्यर्थक 'क्रम' या 'कव' धातु से 'इन्' प्रत्यय। इस ने तत्त्वदर्शन प्राप्त किया हुआ होता है। 'सविता' क्योंकि मेधा-शक्ति को बढ़ाने वाला है, अतः उस में मेधा का आरोप करके उसे मेधावी कहा गया है। प्रासावीत् = प्रसुवति = उत्पादयति। द्विपदे चतुष्पदे = द्विपाद्भ्यश्च चतुष्पाद्भ्यश्च। व्यख्यत् = व्यचिख्यपत् = प्रकाशयति ॥ १ । १२ ॥

'अधोरामः सावित्रः' इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति ? अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात् सामान्यात्। अधस्ताद् रामोऽधस्तात् कृष्णः। कस्मात् सामान्यादिति ? 'अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्'। रामा रमणायोपेयते न धर्माय, कृष्ण-जातीया, एतस्मात्सामान्यात्।

'कृकवाकुः सावित्रः' इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति ? कालानुवादं परीत्य। कृकवाकोः पूर्वं शब्दानु-करणं वचेरुत्तरम् ॥ २ । १३ ॥

सविता के काल को परिपुष्ट करने के लिये यास्काचार्य अधोराम और कृक-वाकु, पक्षिओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वैदिक पशुप्रकरण में (यजु० २४ अध्याय तथा २९.५८, ५९ मंत्र) 'अधोरामः सावित्रः' (यजु० २९.५८) ऐसा पाया जाता है, जिस में कि अधोराम पक्षी को सावित्र कहा गया है। भाषा में इस पक्षी को कालचो या चौसला कहते हैं। अधोराम को 'सावित्र' किस समानता से कहा गया ? क्योंकि उस सवितृकाल में जैसे नीचे भूमि पर अन्धकार होता है, उसीप्रकार उस पक्षी की टांगें तो काली होती हैं और धड़ कुछ श्वेत होता है, अतः इस स्वरूप की समानता से अधोराम पक्षी को 'सावित्र' कहा है।

अधस्तात् रामोऽधस्तात् कृष्ण इति अधोरामः। यहां 'राम' का अर्थ 'कृष्ण' किस समानता से है ? 'अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्' यह किसी शास्त्र का वचन है। इस में कहा गया है कि अग्नि का चयन करके अर्थात् द्विजत्व का लाभ करके किसी भी अवस्था में रामा अर्थात् शूद्रा से विवाह न करे। इसी धर्म का प्रतिपादन मनु ने ३ अ० १४–१९ श्लोकों में किया है। जो द्विज शूद्रा से विवाह करता है, वह एकमात्र रमण अर्थात् विषयभोग के लिये ही करता है, धर्माचरण के लिये नहीं। 'रमणाय उपेयते गम्यते या सा रामा शूद्रा। यह शूद्रा अविद्या-मल से ग्रस्त होने के कारण कृष्णजातीया होती है, अतएव इस को 'कृष्णा' भी कहा जाता है। एवं, रामा क्योंकि 'कृष्णा' होती है, अतः इस समानता से 'राम' शब्द कृष्ण का वाचक है।

इसीप्रकार यजुर्वेदीय पशुप्रकरण में 'कृकवाकुः सावित्रः' (२४.३५) ऐसा पाया जाता है। यहां कुक्कुड़ पक्षी को 'सावित्र' कहा गया है। यह किस समानता से है ? काल के अनुवाद को समझ कर ऐसा कहा है। कुक्कुड़ प्रातः जिस समय

बोलता है, वह सविता आदित्य का काल है। एवं, यह पक्षी उस समय बोलता हुआ सवितृकाल का ही अनुवाद कर रहा होता है। सविता के प्रादुर्भाव और कुक्कुट के बोलने का समय क्योंकि एक ही है, अतः कुक्कुट को 'सावित्र' कहा गया है। कृकवाकु—कृक कृक इति वक्तीति कृकवाकुः, वच्+ञुण्—वाकु। यह पक्षी कृक कृक इसप्रकार शब्द करता है, अतः इसे कृकवाकु कहा जाता है। यहां शब्दानुकरण 'कृक' पद पहले है, और 'वच' का वाकु उसके आगे है ॥ २।१३॥

८. भग
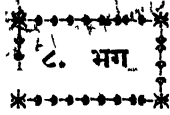
भगो व्याख्यातः। तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात्। तस्यैषा भवति—

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता। आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजाचिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ ७. ४१. २

प्रातर्जितं भगमुग्रं ह्वयेम वयं पुत्रदितेर्यो विधारयिता सर्वस्य। आध्रश्चिद् यं मन्यमानः आढ्यालुर्दरिद्रः। तुरश्चित्, तुर इति यमनाम तरतेर्वा, त्वरतेर्वा। त्वरया तूर्णगतिर्यमः। राजाचिद् यं भगं भक्षीत्याह।

अन्धो भग इत्याहुरनुत्सृप्तो न दृश्यते। 'प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान' इति च ब्राह्मणम्। 'जनं भगो गच्छति' इति जनं गच्छत्यादित्य उदयेन ॥ ३। १४ ॥

'भग' की व्याख्या २१२ पृ० पर कर आए हैं। यहां इसका अर्थ आदित्य है, जिसका काल सूर्योदय से पूर्ववर्ती है (उत्सर्पण = उदय)। विभजति स्वास्थ्यादिकं ददातीति भगः, अतएव मंत्र में 'यं भगं भक्षीत्याह' ऐसा कहा हुआ है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(वयं अदितेः पुत्रं) हम उषा के पुत्र, (जितं) जितेन्द्रियता को देने वाले (उग्रं भगं) और उदय के लिये उद्यत भग का (प्रातः हुवेम) प्रातःकाल आह्वान करते हैं, (यः विधर्ता) जो कि सब प्राणियों का पोषण करने वाला है, (मन्यमानः आध्रश्चित्) और जिस के महत्त्व को जानता हुआ दरिद्र मनुष्य भी (यं 'भक्षि' इति आह) उस से प्रार्थना करता है कि हे भग ! तू मुझे ऐश्वर्य

प्रदान कर, (तुरश्चित् राजाचित् यं) तथा इसीप्रकार न्यायाधीश भी और राजा भी जिस से प्रार्थना करता है कि हे भग ! तू मुझे ऐश्वर्य प्रदान कर ।

यहां भग का स्वरूप बड़ी स्पष्टता से दर्शाया गया है । (१) उषा–काल के प्रारम्भ होचुकने पर ही भग का काल है, अतः यह उषा का पुत्र है । (२) यह काल सन्ध्या वन्दन की समाप्ति का समय है, अतः उस में जितेन्द्रियता आती है । (३) और 'उग्र' शब्द से स्पष्टतया बोध हो रहा है कि यह उदय होने के लिये उद्यत है ।

उग्र = उद्यत । आध्र = आढ्यालु = दरिद्र । तुर = यम = नियन्ता न्यायाधीश, शीघ्रार्थक 'तु' या 'त्वर' के संप्रसारणरूप 'तुर्' से इसकी सिद्धि होती है । न्याय करने में शीघ्रता के कारण न्यायाधीश त्वरित गति वाला है । भक्षि = विभज = देहि ।

भग = अनुदित आदित्य । (क) 'भग' अन्धा है, प्रकाशरहित है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं, जिसका अभिप्राय यही है कि वह अनुदित होने के कारण दिखलायी नहीं पड़ता । ब्राह्मण ने इस के अन्धत्व का कारण यह बतलाया है कि प्राशित्र ने इसकी आंखे फोड़ दीं, अर्थात् प्राशित्र ने इसे प्रकाशरहित बनाया । गोपथ ब्राह्मण (२. १. २) ने प्राशित्र के द्वारा आंखें फोड़े जाने का वर्णन करते हुए लिखा है—तस्मादाहुरन्धो वै भगः' । यहां प्राशित्र से क्या अभिप्रेत है, यह विचारणीय है । (ख) और, इसीप्रकार लोक में 'जनं भगो गच्छति' इस वाक्य का बड़ा व्यवहार होता है, जिसका शब्दार्थ यह है कि 'भग' मनुष्य की ओर जारहा है । इसका अभिप्राय भी यही है कि आदित्य अभी अनुदितावस्था में है, वह उदय से मनुष्य को प्राप्त हो रहा है । इन दो प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'भग' अनुदित आदित्य का वाचक है ॥ ३ । १४ ॥
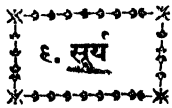
६. सूर्य

सूर्यः सर्तेर्वा, सुवतेर्वा, स्वीर्य्यतेर्वा । तस्यैषा भवति—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १. ५०. १

उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति कमन्यमादित्यादेवमवक्ष्यत् ॥ ४ । १५ ॥

सूर्य = उदयकालीन आदित्य। 'सृ' गतौ, 'षू' प्रेरणे, या 'सु' पूर्वक 'ईर' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय (पा० ३. १.११४)। सरत्यन्तरिक्षे, सुवति प्रेरयति जनान् कर्मसु, स्वीर्य्यते प्रेर्यते त्रितेन वायुनेति वा सूर्यः। उदित सूर्य अन्तरिक्ष में सरकने लगता है, सूर्योदय होने पर मनुष्य अपने २ कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं, और त्रित वायु के द्वारा यह भूलोक के प्रति प्रेरित किया जाता है, अर्थात् त्रित वायु इसकी किरणों को भूमि पर पहुंचाने लगती है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(त्यं जातवेदसं देवं सूर्यं) देखो, पदार्थरूप–ज्ञापक उस प्रकाशमान सूर्य को (विश्वाय दृशे) संपूर्ण प्राणिओं के दर्शन के लिये (केतवः उद्वहन्ति) रश्मियें उदित कर रही हैं।

यहां, उदित होते हुए सूर्य का निर्देश करते हुए कहा कि यह सूर्य सब प्राणिओं के दृष्टिगोचर अब हुआ है, यह उदित होगया है, और इस काल में सब पदार्थों के रूप भलीप्रकार विदित हो रहे हैं। एवं, इस मंत्र में 'सूर्य' का स्वरूप दर्शाया गया है।

केतवः = रश्मयः। (कमन्यं०) एवं, यहां वेद आदित्य के सिवाय अन्य किस का, ऐसा वर्णन कर सकता है। अर्थात्, जातवेदस् के प्रयोग से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये कि यह मंत्र शायद 'अग्नि' (५०७ पृ०) का प्रतिपादक हो ॥४।१५॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावा-पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ १.११५.१

चायनीयं देवानामुदगमदनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चापूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षं च महत्त्वेन, तेन सूर्य आत्मा जङ्गमस्य स्थावरस्य च ॥ ५ । १६ ॥

सूर्य के स्वरूप को दर्शाने के लिये एक मंत्र और दिया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(चित्रं देवानां अनीकं उदगात्) देखो, यह दर्शनीय रश्मि–पुञ्ज सूर्य उदित हुआ है। (मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) यह प्राण, अपान, और यज्ञाग्नि का ख्यापक है। अर्थात्, सूर्योदय के होने पर मनुष्य को प्राण तथा अपान वायुयें भली-

प्रकार गति करती हैं, और इसीसमय यज्ञ के लिये यज्ञाग्नि प्रदीप्त की जाती है। अतएव ऐतरेय ब्राह्मण में विधान है कि प्रातःकाल सूर्योदय के होने पर ही हवन करना चाहिये, इस से पहले नहीं। (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं आप्राः) इस उदित सूर्य ने द्युलोक पृथिवीलोक और अन्तरिक्षलोक, इन तीनों को अपने बड़प्पन से रश्मियों के द्वारा पूरा किया है। अर्थात् सूर्योदय से पहले पृथिवी पर रश्मियें नहीं पड़ती थी, अब वे वहा भी पड़ने लगी हैं। (सूर्यः जगतः तस्थुषः च आत्मा) एवं, उस से अब यह सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा जङ्गम और स्थावर, सब के अन्दर घुस गया है ॥ ५ ॥१६ ॥

१०. पूषन्

अथ यद्र रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति। तस्यैषा भवति—

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते॰अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि। विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥ ६.५८.१

शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यद्, यजतं ते अन्यद् यज्ञियं ते अन्यद्, विषमरूपे ते अहनी कर्म। द्यौरिव चासि। सर्वाणि प्रज्ञानान्यवसि। अन्नवन्! भाजनवती ते पूषन्निह दत्तिरस्तु॥६।१७॥

जब आदित्य रश्मियों से सब को परिपुष्ट करता है, तब सूर्योदय के पश्चात् और मध्याह्न से पहले, पूर्वाह्णकालीन आदित्य का नाम पूषा है। रश्मिपोषं पुष्यति रश्मिभिः पुष्यतीति पूषा। मन्त्रार्थ इसप्रकार है—

(पूषन्! शुक्रं ते अन्यत्) हे पूषा! तेरा एक स्वरूप लोहित है, (यजतं ते अन्यत्) और तेरा दूसरा स्वरूप यज्ञिय धूम्र को तरह कृष्ण है। (विषुरूपे अहनी) एवं, ये विषमस्वरूप दिन, तेरा कर्म है, (द्यौः इव असि) और तू अन्तरिक्ष की तरह अपनी रश्मियों से सर्वत्र फैला हुआ है। (स्वधावः! विश्वाः हि मायाः अवसि) हे उदकान्न को धारण किए हुए पूषा! तू स्वरूप-प्रदर्शन से प्राणियों के सब प्रज्ञानों की रक्षा करता है, अर्थात् उन्हें वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान कराता है। (ते इह भद्रा रातिः अस्तु) हे पूषा! तेरा हमें यहां यथायोग्य पुष्टि-दान प्राप्त हो।

पूषाकाल में आतप कुछ रक्त और कुछ कालिमा लिए होती है, अतः विषम स्वरूप वाले इन दोनों प्रकार के दिनों का निर्माण करना, पूषा का कर्म है।

शुक्र = लोहित, यजत = यज्ञिय = यज्ञिय धूम्रवत् कृष्ण। भद्र = भाजनवती = पात्र के अनुकूल, अर्थात् यथायोग्य (२५५ पृ०)। राति = दत्ति = दान ॥ ६ । १७ ॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानडर्कम्। स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियं धियं सीषधाति प्रपूषा ॥ ६. ४९.८

पथस्पथोऽधिपतिं वचनेन कामेन कृतोऽभ्यानडर्कम् अभ्यापन्नोऽर्कमिति वा। स नो ददातु चायनीयाग्राणि धनानि, कर्म कर्म च नः प्रसाधयतु पूषेति ॥ ७ । १८ ॥

उस पूषा का एक मंत्र और दिया गया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(वचस्या कामेन कृतः) वचन और मनन से परिशुद्ध हुए २ प्रत्येक मनुष्य ने (पथः पथः परिपतिं) मार्ग मार्ग के रक्षक (अर्कं अभ्यानट्) अनुग्राहक पूषा को प्राप्त किया है, (सः पूषा नः शुरुधः चन्द्राग्रा) अतः वह पूषा हमें दुःखनाशक तथा पूजनीय अग्रों वाले धनों को (रासत्) प्रदान करे। (धियं धियं प्रसीषधाति) और एवं, धर्म से प्राप्त तथा धर्म में ही व्यय किये जाने वाले उन धनों से हमारे प्रत्येक कर्म को भलीप्रकार सिद्ध करे।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि पूषाकाल में व्यवहारी मनुष्यों को धनोपार्जन में लग जाना चाहिए, और उन के सब व्यवहार मन वचन से भी सच्चे होने चाहियें। एवं, अपने आप को परिशुद्ध करके धर्मानुकूल द्रव्य का उपार्जन तथा व्यय करना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य के सब काम बिना किसी विघ्न बाधा के सिद्ध हो जाते हैं।

वचस्या = वचनेन। कृतः = संस्कृतः = परिशुद्धः (महाभाष्य ६. १. ९)। चन्द्र = चायनीय। सीषधाति = साधयतु ॥ ७ । १८ ॥

११. विष्णु
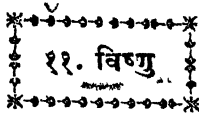
अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा, व्यश्नोतेर्वा। तस्यैषा भवति—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूळ्हमस्य पांसुरे॥ १.२२.१७

यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुः, त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते, अपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा॥ ८। १६॥

विष्णु = मध्याह्नकालीन आदित्य। 'विष्लृ' व्याप्तौ, 'विश' प्रवेशने, या 'वि' पूर्वक 'अशूङ्' व्याप्तौ से 'णु' प्रत्यय और किद्भाव (उणा० ३.३९)। मध्याह्नकालीन आदित्य रश्मियों से सर्वत्र व्याप्त होता है और सब के अन्दर प्रविष्ट होता है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(इदं विष्णुः विचक्रमे) यह मध्याह्नकालीन आदित्य, इस भूभाग पर जो कुछ यह है, उस सब में विक्रम दर्शाता है, अर्थात् भूमि के प्रत्येक पदार्थ को पूर्णतया तपाता है। (त्रेधा पदं निदधे) यह पृथिवी में, अन्तरिक्ष में, और द्युलोक में, एवं तीन प्रकार से प्रकाश-किरण को धारण करता है। अर्थात्, यह विष्णु आदित्य उपर्युक्त तीनों लोकों में पूर्णतया प्रकाशित होता है। (अस्य पांसुरे समूढम्) इस आदित्य की एक प्रकाश-किरण अन्तरिक्ष में गुप्त है, अर्थात् वह दृष्टिगोचर नहीं होती। अथवा, जैसे पाँ मट्टी वाले स्थान में पादचिह्न स्पष्टतया दृष्टिगोचर नहीं होता, उसीप्रकार अन्तरिक्ष में इसका प्रकाश पूर्णतया दृष्टिगोचर नहीं होता द्युलोक तथा भूलोक पर अधिक स्पष्ट दीखता है।

विचक्रमे = विक्रमते। त्रेधा = त्रिधा। समारोहण = द्युलोक, जिस में कि आदित्य का आरोहण है। विष्णुपद = अन्तरिक्ष-मध्य, जिस में कि मध्याह्नकालीन आदित्य की स्थिति है। एवं, 'विष्णुपद' का मुख्य अर्थ यद्यपि अन्तरिक्ष-मध्य

है, परन्तु सामान्यतः अन्तरिक्ष के लिये प्रयुक्त होता है, जैसे कि अमरकोश में अन्तरिक्षवाची नामों में 'विष्णुपद' भी पठित है। गयशिरस्=मकानों की छत, मध्याह्नकाल में आदित्य संपूर्ण मकानों के ठीक ऊपर देदीप्यमान हुआ करता है। निघण्टु में 'गय' पद गृहवाची पठित है।

पांसुर=(क) अन्तरिक्ष, यह वृष्टिके द्वारा सब की वृद्धि करता है, प्यायी+उरच्—प्यायुर—पांसुर। (ख) पांसुल=पाँ मट्टी वाला स्थान, पाँसु+ल (पा० ५. २.९७)। पाँसु=पाँ मट्टी। (क) यह पैरों से पैदा होती है। जिस मार्ग पर पैदल आना जाना बहुत होता होता हा, वहां की मट्टी पैरों से कुचली जाकर पाँ बन जाती है, पाद+सु—पाँसु। (ख) पददलित होकर पड़ी होती है, पन्न+शीङ्+उ—पन्नशु—पाँसु। (ग) पाँ नाशनीय होती है, 'पसि' नाशने+उ (उणा०१.२७)। पाँ मट्टी बड़ी खराब होती है, अतः उसे शीघ्र दूर करना चाहिए।

कई पुस्तकों में जो 'पंसनीयाः' पाठ पाया जाता है, वही ठीक है, 'पिंशनीयाः' नहीं, क्योंकि एक तो दुर्गाचार्य ने इसका अर्थ 'ध्वंसनीयाः' किया है जो कि 'पंसनीयाः' का ही हो सकता है 'पिंशनीयाः' का नहीं, और दूसरा उणादिकोश में भी 'पसि' धातु से ही इसकी सिद्धि की गयी है।

एवं, इस मंत्र के आधार पर पौराणिकों ने जो त्रिविक्रम वामनावतार की अशुद्ध कल्पना की है, वह एकमात्र अज्ञानता का ही परिणाम है ॥ ८।१९ ॥

* तृतीय पाद *

१२. विश्वानर

विश्वानरो व्याख्यातः। तस्यैष निपातो भवत्यैन्द्र्यामृचि—

विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥ ८. ६८.४

विश्वानरस्यादित्यस्यानानतस्य शवसो महतो बलस्य, एवैश्च कामैरयनैरवनैर्वा चर्षणीनां मनुष्याणाम्, ऊत्या च पथा रथानाम् इन्द्रमस्मिन् यज्ञे ह्वयामि ॥ १ । २० ॥

'विश्वानर' की व्याख्या ५०८ पृ० पर कर आए हैं। मध्याह्नवत् प्रखर किरणों से युक्त मध्याह्नोत्तरकालीन आदित्य को यहां 'विश्वानर' कहा गया है, क्योंकि यह भी सब भूतों के अन्दर गया हुआ होता है (प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि)। उस 'विश्वानर' का इन्द्रदेवताक मंत्र में निपातभाक् के तौर पर वर्णन है, जिस का अर्थ इसप्रकार है—

(विश्वानरस्य) मैं मध्याह्नकालीन आदित्य के (अनानतस्य शवसः पतिं वः) प्रखर किरणों वाले महान् बल के पति तुम्हारे इन्द्र को, अर्थात् मध्याह्न-कालीन आदित्य की तरह प्रतापी तुम्हारे राजा को (चर्षणीनां एवैः च) प्रजाजनों की कामनाओं, गतिओं या रक्षाओं के साथ (रथानां ऊती) रथों के मार्ग से (हुवे) इस यज्ञ में बुलाता हूं।

अनानतस्य = महतः। शवसः = बलस्य। एव = कामना, गति (अयन) रक्षा (अवन)। 'इण' या 'अव' धातु से 'एव' की सिद्धि की गई है। ऊत्या = पथा, अवति गच्छत्यनेत्यूतिः मार्गः ॥ १ । २० ॥
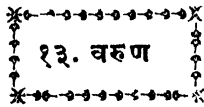
१३. वरुण

वरुणो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति—

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ २. ५०. ६

भुरण्युरिति क्षिप्रनाम। भुरण्युः शकुनिर्भुरिमध्वानं नयति स्वर्गस्य लोकस्यापि वोळ्हा, तत्सम्पाती भुरण्युः। अनेन पावक! ख्यानेन भुरण्यन्तं जनाँ अनु त्वं वरुण पश्यसि तत्ते वयं स्तुम इति वाक्यशेषः ॥ २ । २१ ॥

'वरुण' की व्याख्या ६०९ पृ० पर कर आए हैं। यहां इसका अर्थ रश्मिजाल से आच्छादन करने वाला या रोगनिवारक आदित्य है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(पावक वरुण) हे शोधक आदित्य! (त्वं येन चक्षसा) तू जिस प्रकाश से (भुरण्यन्तं) शीघ्रगामी या सुपर्णसमान रश्मिजाल को (जनान् अनु) प्राणिओं की ओर (पश्यसि) प्रकाशित कर रहा है, हम तेरे उस प्रकाश की प्रशंसा करते हैं।

भुरण्यु=(क) शीघ्र (निघण्टु)। स्कन्दस्वामी ने इसी मंत्र की व्याख्या करते हुए 'भुरण्यु' धातु शीघ्रार्थक मानी है। (२) पक्षी, क्योंकि यह बहुत मार्ग तै करता है, बहुत दूरतक उड़ता है, भूरि+णीञ्+क्यु—भूरिण्यु—भुरण्यु। सूर्यरश्मि को भी निघण्टु में सुपर्ण कहा गया है, जो कि सूर्यास्त के समय द्युलोक तक उड़ जाती है, अतः पक्षीसमान उड़ने वाली सूर्यरश्मि 'भुरण्यु' है। यहां आचार्य ने मंत्रार्थ को पूर्ण करने के लिये 'तत्ते वयं स्तुमः' इसका अध्याहार किया है ॥ २ । २१ ॥

अपि वोत्तरस्याम्—

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ १. ५०. ६

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ १. ५०. ७

व्येषि द्यां रजश्च पृथु महान्तं लोकम्, अहानि च मिमानो अक्तुभी रात्रिभिः सह पश्यञ्जन्मानि ज़ातानि सूर्य ॥ ३ । २२ ॥

अथवा, अगली ऋचा में इस का अन्वय है, जो कि इसप्रकार है—हे शोधक आदित्य! तू जिस प्रकाश से शीघ्रगामी या सुपर्णसमान रश्मिजाल को प्राणियों की ओर प्रकाशित कर रहा है, (सूर्य! अक्तुभिः अहा मिमानः) हे सूर्य! वह तू रात्रियों के साथ दिनों का निर्माण करता हुआ, (जन्मानि पश्यन्) और सब जात पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ, उस प्रकाश के साथ (पृथु द्यां रजः व्येषि) विस्तृत द्युलोक में बड़े वेग से गति कर रहा है।

पृथु=महान्, रजस्=लोक। जन्मन्=जात ॥ ३ । २२ ॥

अपि वा पूर्वस्याम्—

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ १. ५०. ६

प्रत्युङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् ।
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ १. ५०. ५

प्रत्यङ्ङिदं सर्वमुदेषि, प्रत्यङ्ङिदं सर्वमभिविपश्यसि ॥४।२३॥

अथवा, पहली ऋचा में इस का अन्वय है, जो कि इसप्रकार है—हे शोधक आदित्य ! तू जिस प्रकाश से शीघ्रगामी या सुपर्णसमान रश्मिजाल को प्राणिओं की ओर प्रकाशित कर रहा है, (देवानां विशः प्रत्यङ् उदेषि) उस प्रकाश के साथ विद्वानों को ओर जाता हुआ उदित होता है, (मानुषान् प्रत्यङ्) और उसी प्रकाश के साथ अन्य साधारण मनुष्यों की ओर जाता हुआ उदित होता है । (स्वः दृशे विश्वं प्रत्यङ्) एवं, हे सूर्य ! तू दर्शाने के लिये विद्वान् और मूर्ख, तथा राजा और रङ्क, सब की ओर समानभाव से जाता हुआ उदित हो रहा है ॥ ४ । २३ ॥

अपि वैतस्यामेव—

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ १. ५०. ६

तेन नो जनानभिविपश्यसि ॥ ५ । २४ ॥

अथवा, इसी ऋचा में इसका अन्य प्रकार से अन्वय हो सकता है, जोकि इस तरह है—हे शोधक आदित्य ! तू जिस प्रकाश से शीघ्रगामी या सुपर्णसमान रश्मिजाल को प्राणिओं की ओर प्रकाशित कर रहा है, उस प्रकाश के द्वारा तू हम मनुष्यों को प्रकाशित करता है ।

एवं, इस प्रसङ्ग में आचार्य ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि यदि किसी मंत्र का अर्थ तद्गत शब्दों से पूर्ण न होता हो तो अगले या पिछले मंत्र को देखना चाहिए कि कहीं उस से तो अन्वय नहीं होरहा । और यदि पूर्व अपर किसी मंत्र के साथ अन्वय न होता हो तो स्तुति या प्रार्थना के अनुसार अध्याहार कर लेना चाहिए । यहां आचार्य ने भिन्न २ दो वाक्यशेष इसीलिये दिखलाये हैं कि स्तुति या प्रार्थना परक वाक्यशेष को जोड़ कर मंत्रार्थ पूरा कर लिया जावे ॥ ५ । २४ ॥

१४. केशी
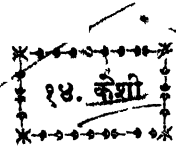
केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति, काशनाद्वा। तस्यैषा भवति—

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥ १०.१३६.१

केश्यग्निं च विषं च। विषमित्युदकनाम विष्णातेः, विपूर्वस्य वा सचतेः। द्यावापृथिव्यौ च धारयति। केशीदं सर्वमिदमभिविपश्यति। केशीदं ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यमाह॥ ६। २५॥

केशिन् = आदित्य। केश का अर्थ है रश्मियें, उनसे युक्त होने के कारण 'केशी' आदित्य का वाचक है। अथवा, यह प्रकाशमान होने से 'केशी' है, 'काशृ' दीप्तौ + इनि। मन्त्रार्थ इसप्रकार है—

(केशी अग्नि) आदित्य ताप को, (केशी विषं) आदित्य जल को, (केशी रोदसी बिभर्ति) और आदित्य अन्तरिक्षस्थ तथा पृथिवीस्थ प्राणियों को धारण करता है। (विश्वं स्वः दृशे केशी) तथा संपूर्ण जगत् को देखने के लिये यही आदित्य समर्थ बनाता है, अर्थात् सबको प्रकाशित करता है। (इदं ज्योतिः केशी उच्यते) यह सम्मुखवर्ती ज्योति केशी कहलाती है।

विष = जल। (क) वि + 'ष्णा' शौचे + ड, जल शारीरिक शुद्धि का मुख्य साधन है। (ख) वि + सच + ड, स्नान पान आदि के लिये जल का विशेष सेवन किया जाता है॥ ६। २५॥

१५. केशिनः
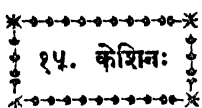
अथाप्येते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्यते, धूमेनाग्नी रजसा च मध्यमः। तेषामेषा साधारणा भवति—

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥ १.१६४.४४

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते काले कालेऽभिविपश्यन्ति । संवत्सरे वपत एक एषामित्यग्निः पृथिवीं दहति । सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्यः । गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य ॥ ७ । २६ ॥

अपिच अग्नि और वायु, ये इतर ज्योतियें भी केशी कहलाती हैं । अग्नि के केश धूआँ है, और वायु के केश रजःकण है । एवं, सूर्य अग्नि और वायु, इन तीनों केशिओं को 'त्रयः केशिन.' आदि साधारण ऋचा है, जिसका अर्थ इस प्रकार है—

(त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते) सूर्य वायु और अग्नि, ये तीन केशी समय समय अनुग्रह-दृष्टि रखते हे । (एषा एकः संवत्सरे वपते) उन में से एक केशी अग्नि वर्षभर पृथिवीस्थ ओषधि वनस्पतिओं को जलाता रहता है, (एकः शचीभिः विश्वं अभिचष्ट) और दूसरा आदित्य-केशी अपने प्रकाश वृष्टि आदि कर्मों से वर्षभर सारे जगत् को अनुग्रह-दृष्टि से देखता है, (एकस्य ध्राजिः ददृशे न रूपम्) और तीसरे वायु-केशी की गति दिखलायी पड़ती है रूप नहीं दीखता ।

ऋतुथा=काले काले । वपते=दहति । शची=कर्म । ध्राजि=गति । ददृशे=दृश्यते ॥ ७ । २६ ॥

१९. वृषाकपि

अथ यद् रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः । तस्यैषा भवति—

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै । य एष स्वप्ननंशनो-ऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १०. ८६. २१

पुनरेहि वृषाकपे सुप्रसूतानि वः कर्माणि कल्पयावहै । य एष स्वप्ननंशनः स्वप्नान्नाशयस्यादित्य । उदयेन, सोऽस्तमेषि पथा पुनः । सर्वस्माद् य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ॥ ८ । २७ ॥

वृषाकपि = अस्त होता हुआ आदित्य, वृषभिः रश्मिभिः अभिप्रकम्पयन्नेति गच्छतीति वृषाकपिः । उपसंहृत रश्मिओं से भूतों को कम्पायमान करता हुआ

अस्तंगत हो रहा होता है, अतः उसे 'वृषाकपि' कहते हैं, वृषन् + 'कपि' चलने + 'इण्'गतौ। रात्रि के समय प्राणियों को भय लगता है, अतः जब सूर्यास्त होने लगता है, तब रात्रि काल के प्रारम्भ को जानकर वे कंपायमान होते हैं। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(वृषाकपे ! यः पथः स्वप्ननंशनः) हे अस्त होते हुए वृषाकपि ! जो तू अन्य रूप में उदय के द्वारा निद्रा का नाशक है, (पुनः पथा अस्तमेषि) और इस समय अपने मार्ग से अस्त हो रहा है, (पुनः एहि) वह तू फिर आ, (सुविता कल्पयावहै) मैं वृषाकपायी संध्या और तू वृषाकपि, हम दोनों मिलकर उत्तम प्रेरणा देने वाले कर्मों को करेंगे, अर्थात् मनुष्यों को संध्यावन्दनादि श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित करेंगे। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) यह आदित्य प्रकाश्य और प्रकाशक, दोनों प्रकार के लोकों में उत्कृष्ट है।

सुवित = सुप्रसूत। वः = आवाम्॥ ८। २७॥
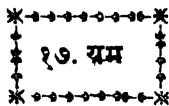
१७. यम यमो व्याख्यातः। तस्यैषा भवति—

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः। अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति॥ १०. १३५. १

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे स्थाने वृतक्षये वा, अपि वोपमार्थे स्याद् वृक्ष इव सुपलाशे इति। वृक्षो व्रश्चनात्, पलाशं पलाशदनात्। देवैः संगच्छते यमो रश्मिभिरादित्यः। तत्र नः सर्वस्य पाता वा पालयिता वा पुराणाननुकामयेत॥ ६। २८॥

'यम' की व्याख्या ६२६ पृ० पर कर आए हैं, यहां इस का अर्थ सायङ्कालीन अस्तंगत आदित्य है। अतएव देवराजयज्वा ने 'यम' का निर्वचन करते हुए लिखा है—'संगच्छते रश्मिभिरिति अस्तमयावस्थ आदित्य उच्यते।' यहां 'यम' धातु गमनार्थक मानी गयी है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(यस्मिन्) जिस काल में (यमः) अस्तंगत आदित्य (वृक्षे सुपलाशे) परमेश्वर-वृत मुक्तात्माओं के निवासस्थान सुपवित्र द्युलोक में, अथवा सुपुष्पित

पलाश वृक्ष की तरह रक्त द्युलोक में (देवैः सम्पिबते) रश्मियों के साथ संगत होता है, अर्थात् भूलोक और अन्तरिक्षलोक से रश्मिजाल को समेट लेता है, (अत्र) उस समय (नः विश्पतिः पिता) हमारा प्रजापालक पितृस्थानीय आदित्य (पुराणान् अनुवेनति) पुराने चन्द्र नक्षत्र आदि लोकों को अपने अस्त होने के पश्चात् प्रकाशित करने की इच्छा करे।

वृक्ष—(क) वृतक्षय का संक्षिप्तरूप 'वृक्ष' है, जिसका अर्थ है स्वीकृतों का निवास-स्थान, अर्थात् मुक्तात्माओं का निवास-स्थान (१३८पृ०)। (ख) वृक्ष, क्योंकि यह काटा जाता है (११६ पृ०)। 'पलाश' शब्द 'परा' पूर्वक 'शद्' धातु से निष्पन्न होता है, जोकि द्युलोक का वाचक है। देव = रश्मि। सम्पिबते = संगच्छते, यहां 'सम्' पूर्वक 'पिब' धातु संगमनार्थक मानी गयी है॥ ९। २८॥

१८. अज एकपात्

अज एकपाद् अजन एकः पादः, एकेन पादेन पातीति वा, एकेन पादेन पिबतीति वा, एकोऽस्य पाद इति वा। 'एकं पादं नोत्खिदति' इत्यपि निगमो भवति। तस्यैष निपातो भवति वैश्वदेव्यामृचि—

पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः। विश्वे देवासः शृणवन्वचांसि मे सरस्वती सह धीभिःपुरन्ध्या॥१०.८५.१३

पविः शल्यो भवति यद्विपुनाति कायं, तद्वत्पवीरमायुधं, तद्वानिन्द्रः पवीरवान्। 'अतितस्थौ पवीरवान्' इत्यपि निगमो भवति। तद्देवता वाक् पावीरवी, पावीरवी च दिव्या वाक् तन्यतुस्तनित्री वाचोऽन्यस्याः, अजश्चैकपाद् दिवो धारयिता, सिन्धुश्च, आपश्च समुद्रियाः, सर्वे च देवाः सरस्वती च सह पुरन्ध्या, स्तुत्या प्रयुक्तानि धीभिः कर्मभिर्युक्तानि शृण्वन्तु वचनानीमानीति॥ १०। २६॥

अज एकपात् = अस्तंगत आदित्य, जैसे कि देवराजज्वा ने लिखा है—'अस्तभावस्थ आदित्य उच्यते'। (क) अजः = अजनः = अस्तंगतः, 'अज' गतौ से पचाद्यच् और 'वी' का अभाव। एकः पादः इति एकपात्, 'पाद' के अकार का लोप (पा० ५. ४. १४०)। आदित्य ब्रह्माण्ड का चतुर्थांश है, जैसे कि छान्दोग्य ५. १८ में लिखा है—'तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। अग्निः पादो वायुः पादः आदित्यः पादो दिशः पादः'। एवं, 'अज एकपात्' का अर्थ हुआ अस्तंगत आदित्य। (ख) 'अज' का निर्वचन उपर्युक्त एक ही है, परन्तु 'एकपात्' के अन्य निर्वचन भी किए गये हैं। एकेन पादेन पातीति एकपात् आदित्य एक पैर से अर्थात् स्वपरिधि में घूमने से सब की रक्षा करता है, एक+'पा' रक्षणे+क्विप्। (ग) एकेन पादेन पिबति, यह एक पैर से, अर्थात् स्वपरिधि में घूमता हुआ पीता है, रसाहरण करता है, एक+'पा'+पाने+क्विप् (घ) एकोऽस्य पादः, इस आदित्य का एक ही पैर है दो नहीं, अतएव यह अपनी परिधि में ही घूमता है। आदित्य का एक पैर है, इसकी सिद्धि में आचार्य ने 'एकं पादं नोत्खिदति' यह मंत्रांश दिया है, जिस का संपूर्ण मंत्र और अर्थ इसप्रकार है—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदंग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन॥ अथ० ११.४.२१

(हंसः सलिलात् उच्चरन्) गतिशील सूर्य अन्तरिक्ष मे उदय होता हुआ (एकं पादं न उत्खिदति) एक पैर को नहीं उठाता। (अङ्ग यत् सः तम् उत्खिदेत्) हे मनुष्यो! यदि वह सूर्य उस एक पैर को उठाले, तो (नैव अद्य न श्वः स्यात्) न आज हो न कल हो, (न रात्रिः न अहः स्यात्) न रात हो न दिन हो, (न व्युच्छेत् कदाचन) और नाही कभी उषा हो।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि आदित्य का एक ही पैर है, और वह उस पैर को बिना उठाए गति कर रहा है, अर्थात् अपनी परिधि में घूम रहा है। यदि ऐसा न हो तो आज कल, दिन रात और उषा आदि कालों का निर्माण नहीं हो सकता।

उस 'अज एकपात्' का विश्वेदेव-देवताक मंत्र में निपातभाक् के तौर पर वर्णन पाया जाता है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(तन्यतुः पावीरवी) दमन दान और दया, इस दूसरी शिक्षा-वाणी का विस्तार करने वाली स्तनयित्नु-वाणी, (दिवः धर्ता अज एकपात्) प्रकाश का

धारण करने वाला अस्तंगत आदित्य, (सिन्धुः) बड़े २ नद और समुद्र, (समुद्रियः आपः) समुद्रिय जल, (विश्वेदेवासः) सब विद्वान् लोग (पुरन्ध्या सरस्वती) और प्रज्ञा के साथ वर्तमान वेदवाणी, ये सब (धीभिः सह मे वचांसि शृण्वन्तु) ईश्वर-स्तुति के साथ प्रयुक्त और शुभ कर्मों से युक्त मेरे शान्ति-प्रार्थना के इन वचनों को सुनें। अर्थात्, ये सब मुझे शान्ति प्रदान करें। परन्तु यह शान्ति तभी मिल सकती है जब कि मनुष्य ईश्वर-स्तुति और सुकर्म करता हुआ शान्ति की प्रार्थना करे।

इसी तरह की प्रार्थना 'शन्नो अजएकपाद् देवो अस्तु' आदि मंत्र में (७.३५.१३) की गयी है, पाठक उसका भी विचार करें।

पावीरवी = दिव्या वाक् = अन्तरिक्षस्थ स्तनयित्नु। विपुनाति विदारयति कायमिति पविः शल्यम् (३२२ पृ०) तद्वत् पवीरमायुधम्, 'पवि' से 'मतुप्' अर्थ में 'र' प्रत्यय और ईकार दीर्घ। उस अशनि-आयुध से युक्त होने के कारण विद्युत् 'पवीरवान्' है। पवीरवान् इन्द्रो ~~देवतायस्याः~~ स्तनयित्नु-वाच इति पावीरवी स्तनयित्नुवाक्, पवीरवत् से 'सास्य देवता' (पा० ४. २. २४) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय।

'पवीरवान्' इन्द्र का वाचक है, इसकी सिद्धि में आचार्य ने 'अतितस्थौ पवीरवान्' यह मंत्रखण्ड उद्धृत किया है, जिसका संपूर्ण मंत्र और अर्थ इसप्रकार है—

यो जनान् महिषाँ इवातितस्थौ पवीरवान्।
उतापवीरवान् युधा ॥ १०.६०.३

(यः पवीरवान् उत अपवीरवान्) जो अशनि-वज्र से युक्त या उससे रहित इन्द्र, अर्थात् अशनिपात करती हुई या न करती हुई विद्युत् (युधा) युद्ध से (महिषान् इव जनान्) भैंसों की तरह काले, उत्पन्न मेघों का (अतितस्थौ) संहार करता है, उसे हम प्राप्त करें।

एवं, सूक्तगत प्रथम मंत्र में प्रयुक्त 'अगन्म' क्रियापद से युक्त करके मंत्रार्थ पूर्ण किया जाता है। इसप्रकार यहां 'पवीरवान्' इन्द्र का विशेषण है। तन्यतु = तनित्री वाचो ऽन्यस्याः ॥ १० । २९ ॥

१६. पृथिवी

पृथिवी व्याख्याता। तस्या एष निपातो भवत्यैन्द्राग्न्यामृचि—

यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थः।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥ १.१०८.१०

इति सा निगदव्याख्याता ॥ ११ । ३० ॥

'पृथिवी' की व्याख्या ६४ और ६९५ पृ० पर कर आए हैं, यहां यह द्युलोक का वाचक है। यह इन्द्राग्नी-देवताक मंत्र में निपातभाक् के तौर पर प्रयुक्त है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(इन्द्राग्नी यत् परमस्यां पृथिव्यां) हे इन्द्राग्निओ ! जो तुम धनंजय वायु और आदित्याग्नि के रूप में उत्तम द्युलोक में विद्यमान हो, (मध्यमस्यां) वायु और विद्युदग्नि के रूप में मध्यम पृथिवी अर्थात् अन्तरिक्षलोक में विद्यमान हो, (उत अवमस्यां स्थः) तथा वायु और अग्नि के रूप में अधोवर्ती पृथिवी में विद्यमान हो, (अतः वृषणो ! परि आयातं हि) उस उस स्थान से हे सुखवर्षक इन्द्राग्निओ ! तुम हमें प्राप्त होओ, (अथ सुतस्य सोमस्य पिबतम्) और उत्पन्न रसों का पान करो। एवं, मंत्रार्थ के स्पष्ट होने के कारण यास्क ने इस की व्याख्या नहीं की ॥ ११ । ३० ॥

२०. समुद्र

समुद्रो व्याख्यातः । तस्यैष निपातो भवति पावमान्यामृचि—

पवित्रवन्तः परि वाचमासते पितैषां प्रत्नो अभि रक्षति व्रतम् ।
महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम् ॥९.७३.३

पवित्रवन्तो रश्मिवन्तो माध्यमिका देवगणाः पर्यासते माध्यमिकां वाचम् । मध्यमः पितैषां प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति व्रतं कर्म । महः समुद्रं वरुणस्तिरोऽन्तर्दधाति, अथ धीराः शक्नुवन्ति धरुणेषूदकेषु कर्मण आरम्भमारब्धुम् ॥ १२ । ३१ ॥

'समुद्र' की व्याख्या १२६ पृ० पर कर आए हैं, यहां 'समुद्द्रवन्त्यस्माद् रश्मयः' इस निर्वचन से आदित्य का वाचक है। यह 'सोम पवमान' देवता वाली ऋचा में निपातभाक् के तौर पर प्रयुक्त है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(पवित्रवन्तः वाचं पर्यासते) सूर्यरश्मिओं से युक्त अन्तरिक्षस्थ मेघमण्डल स्तनयित्नु वाणी को धारण करता है, (एषां प्रत्नः पिता वरुणः व्रतं अभिरक्षति) इन मेघसमूहों का पुरातन संरक्षक वायु, इन के वृष्टिकर्म की रक्षा करता है, (महः

समुद्रं तिरोदधे) जब कि यह वायु महान् आदित्य को इन मेघों से ढांप लेता है, और वृष्टि करता है। (धीराः धरुणेषु) तब बुद्धिमान् कृषक लोग जल के पड़ने पर (आरभं शेकुः) कृषिकर्म के प्रारम्भ करने में समर्थ होते हैं।

शेकुः = शक्नुवन्ति। धरुण = उदक। आरभम् = आरब्धुम् ॥ १२ । ३१ ॥

अज एकपाद् व्याख्यातः, पृथिवी व्याख्याता, समुद्रो व्याख्यातः। तेषामेष निपातो भवत्यपरस्यां बहुदेवतायामृचि—

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः। विश्वेदेवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु॥ ६.५०.१४

अपि च नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोतु, अजश्चैकपात्, पृथिवी च, समुद्रश्च। सर्वे च देवाः सत्यवृधो वा यज्ञवृधो वा हूयमाना मंत्रैः स्तुता मंत्राः कविशस्ता अवन्तु मेधाविशस्ताः॥१३।३२॥

अज एकपात्, पृथिवी, तथा समुद्र, इन की व्याख्या अभी कर चुके हैं, इन सब का 'उत नोऽहिर्बुध्न्यः' आदि एक अन्य बहुदेवताक ऋचा में निपातभाक् के तौर पर वर्णन है, जिस का अर्थ इसप्रकार है—

(उत नः) अपिच हमारे शान्ति–प्रार्थना के वचनों को (अहिर्बुध्न्यः) अन्तरिक्षस्थ मेघ, (अज एकपात्) अस्तंगत आदित्य, (पृथिवी) द्युलोक, (समुद्रः) और रश्मि–समुद्र आदित्य (शृणोतु) सुने। (ऋतावृधः) तथा सत्यवर्धक या यज्ञविस्तारक, (हुवानाः) निमंत्रण के योग्य, (स्तुताः) वेदाध्ययन से प्रशंसित, (मंत्राः) उत्तम विचारक, (कविशस्ताः) और मेधावी गुरुओं से प्रशासित (विश्वे देवाः) सब विद्वलोग (अवन्तु) हमारी रक्षा करें॥ १३। ३२॥

२१–२३ दध्यङ्, अथर्वा, मनु

दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा, प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा। अथर्वा व्याख्यातः। मनुर्मननात्। तेषामेष निपातो भवत्यैन्द्रयामृचि—

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत। तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥ १. ८०.१६

यामथर्वा च मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च धियमत-निषत, तस्मिन् ब्रह्माणि कर्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च सङ्गच्छन्ताम् अर्चन् योऽनूपास्ते स्वाराज्यम् ॥ १४ । ३ ३ ॥

दध्यच् अथर्वन् और मनु, ये तीनों पद आदित्य के वाचक हैं। दध्यञ्च्, यह ध्यान में (प्रकाशन में) लगा हुआ है। अथवा, इस में ध्यान लगा हुआ है, अतएव सूर्यावलोकन विशेषतया किया जाता है। 'ध्यान' पूर्वक 'अञ्चु' धातु से कर्ता या अधिकरण में 'क्विन्' प्रत्यय। 'अथर्वन्' की व्याख्या ६७६ पृ० पर कर आए हैं, यहां इसका अर्थ 'अचल' आदित्य है, जोकि अपने स्थान से विचलित कभी नहीं होता। मनु—आदित्य रोगादिकों का नाश करता है। यास्क ने ६३८ पृ० पर 'मन' धातु वधार्थक मानी है, उस से 'उ' प्रत्यय (उणा० १. १०)। उपर्युक्त तीनों का 'यामथर्वा' आदि इन्द्रदेवताक ऋचा में निपातभाक् के तौर पर वर्णन है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(अथर्वा, पिता मनुः, दध्यङ्) अचल, मानव जाति का रक्षक रोगनाशक, और सर्वप्रकाशक, इन तीनों स्वरूपों वाला आदित्य (यां धियं अत्नत) अपने जिस २ कर्म का विस्तार करता है, उसीप्रकार अचलता दुष्टनाशकता तथा ज्ञान-प्रकाशकता के कर्म को करने से (तस्मिन् इन्द्रे) उस राजा में (पूर्वथा ब्रह्माणि) सनातन वेदोक्त कर्म, (उक्था) और वेदोक्त ज्ञान (समग्मत) सम्यक्तया प्राप्त हों, (अर्चन् स्वराज्यं अनु) जिस से कि ईश्वरपूजा करता हुआ राजा स्वराज्य का अनुष्ठान करता है।

पूर्वथा = पूर्वाणि, यहां 'था' प्रत्यय इवार्थक नहीं प्रत्युत स्वार्थ में विहित है। ब्रह्माणि = ब्रह्माणि कर्माणि = वेदोक्तानि कर्माणि। समग्मत = संगच्छन्ताम्। 'उक्थ' का अर्थ वेद है, परन्तु यहां वेदोक्त ज्ञान अभिप्रेत है, क्योंकि यास्क ने 'ब्रह्माणि' का अर्थ वेदोक्त कर्म किया है ॥ १४ । ३३ ॥

* चतुर्थ पाद *

२४. आदित्याः

अथातो द्युस्थाना देवगणाः। तेषामादित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति। आदित्या व्याख्याताः। तेषामेषा भवति—

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि । शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ॥ २.२७.१

घृतस्नूर्घृतप्रस्नाविन्यः, घृतप्रस्नाविण्यः, घृतसारिण्यः, घृतसानिन्य इति वाहुतीरादित्येभ्यश्चिरञ्जुह्वा जुहोमि चिरं जीवनाय, चिरं राजभ्य इति वा । शृणोतु न इमा गिरो मित्रश्चार्यमा च भगश्च बहुजातश्च धाता वरुणो दक्षोऽशश्च । अंशो ऽशुना व्याख्यातः ॥ १ । ३४ ॥

अब, यहां से द्युस्थानीय देवगणों की व्याख्या की जाती है । उन में आदित्य–देवगण पहले आता है । 'आदित्य' की व्याख्या १३३ पृ० पर की जा चुकी है । 'आदित्याः' यह आदित्य–समूह का नाम है, जिन आदित्यों की ऋचा का अर्थ इसप्रकार है—

(सनात् राजभ्यः आदित्येभ्यः) मैं दीर्घ जीवन के लिये देदीप्यमान आदित्यों के अर्थ या चिरकाल से देदीप्यमान आदित्यों के अर्थ (घृतस्नूः) यज्ञाग्नि में घृत को डालने वाली आहुतिओं को अर्थात् घृताहुतिओं को (जुह्वा जुहोमि) स्रुचा से डालता हूं । (नः इमाः गिरः) हमारी स्वस्ति–याचना-विषयक इन वाणिओं को (मित्रः, अर्यमा, भगः, तुविजातः, वरुणः, दक्षः, अंशः, शृणोतु) मित्र, अर्यमा, भग, धाता, वरुण, दक्ष और अंश आदित्य सुने ।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि मनुष्य दीर्घ जीवन के लिये यज्ञ में घृत की आहुतियें दें । इस घी को भिन्न २ स्वरूपों वाले सब आदित्य अपनी रश्मिओं से धारण करते हैं, और पुनः पुष्टि तथा आरोग्यता आदि प्रदान करते हैं ।

इस मंत्र में जो मित्र आदि सात आदित्य बतलाये हैं, वे सब इस एक सूर्य के ही भिन्न २ सात स्वरूप हैं, जैसे कि १३३ तथा ६८० पृ० पर उल्लिखित प्रसङ्ग से पता लगता है । ७२२ पृ० पर 'भग' आदित्य का काल तो दर्शाया गया है, परन्तु शेष छै आदित्यों का कौन सा काल है, यह चिन्तनीय है ।

तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक में आठ आदित्यों का उल्लेख इसप्रकार किया है—'मित्रश्च वरुणश्च धाता चार्यमा च अंशुश्च इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्येते' । यास्काचार्य ने मंत्रोक्त 'तुविजात' का अर्थ 'धाता' और 'अंश' का अर्थ 'अंशु' किया है । एवं, पहले छै नाम मंत्रोक्त नामों के साथ समान हैं ।

'इन्द्र' संभवतः 'दक्ष' का पर्यायवाची है, क्यों कि दोनों में बल का भाव पाया जाता है ।

घृतस्नू—(क) घी को बहाने वाली, घृत+'स्नु' प्रस्रवणे+क्विप् और स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय । (ख) घृत+'स्नु' गतौ+क्विप्+ऊङ् । (ग) घृत+ष्ण+कु+ऊङ् । (घ) घृत को देने वाली, घृत+षणु+उ तथा उपधालोप और 'ऊङ्' । सनात्=चिरं । तुविजात=बहुजात=धाता आदित्य, । अंश=अंशु आदित्य, 'अंश' का निर्वचन ११४ पृ० पर लिखे 'अंशु' के समान है ॥ १ । ३४॥

२५. सप्त ऋषयः

सप्त ऋषयो व्याख्याताः । तेषामेषा भवति—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ ३४ । ५५

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे रश्मय आदित्ये । सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादं संवत्सरमप्रमाद्यन्तः । सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्ति । अत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ वाय्वादित्यौ—इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि । सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादं शरीरमप्रमाद्यन्ति । सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति । अत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्च—इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २ । ३५ ॥

'सप्तऋषि' की व्याख्या ६३४ पृ० पर की गयी है, और 'सप्तन्' २९७ तथा 'ऋषि' १३१ पृ० पर व्याख्यात है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(सप्तऋषयः शरीरे प्रतिहिताः) सप्तविध किरणें आदित्यमण्डल में निहित हैं (सप्त अप्रमादं सदं रक्षन्ति) और वे सातों प्रमाद रहित होकर संवत्सर की

रक्षा करती हैं। (सप्त आपः स्वपतः लोकं ईयुः) वे व्यापक होने वाली सातों किरणें आदित्य के अस्त होने पर उसके मण्डल में चली जाती हैं, (तत्र) और उस समय (अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ) कभी अस्त न होने वाले और संवत्सर की रक्षा के लिये स्थित रहने वाले वायु और आदित्य, ये दो देव (जागृतः) जागते रहते हैं।

यह मंत्र का अधिदैवत अर्थ है, अध्यात्म अर्थ इसप्रकार है—(सप्त ऋषयः शरीरे प्रतिहिताः) मन सहित ज्ञानेन्द्रियें और बुद्धि, ये सात ऋषि जीवात्मा में निहित हैं, (सप्त अप्रमादं सदं रक्षन्ति) और वे सातों प्रमाद रहित होकर शरीर की रक्षा करते हैं। (सप्त आपः स्वपतः लोकं ईयुः) वे विषयों में व्यापक होने वाले सात ऋषि जीवात्मा के सोजाने पर, उसके लोक में, अर्थात् उसी जीवात्मा में चले जाते हे, (तत्र) और उस समय (अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ) कभी न सोने वाले, और शरीर की रक्षा के लिये स्थित रहने वाले जीवात्मा और प्राण, ये दो देव (जागृतः) जागते रहते हैं। एवं, यह अर्थ जीवात्म-गति को बतलाता है।

एवं, यहां बतलाया गया है कि सूर्य का अस्त होना, और जीवात्मा का सोना, ये दोनों व्यावहारिक दृष्टि से हैं, वास्तव में न सूर्य कभी अस्त होता है, और न जीवात्मा कभी सोता है। यथार्थ में जब सूर्य अस्त होगा तब प्रलय होगी, और इसीप्रकार यथार्थ में जब जीवात्मा सो जाता है, तब मृत्यु होजाती है।

सप्तऋषि=सात किरणें, मन सहित छै ज्ञानेन्द्रियें और बुद्धि। परन्तु शतपथ ब्राह्मण ने (१४. ४. २ ब्रा०) 'तिर्यग्बिलश्चमसः' का पाठान्तर "**अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्राह्मणा संविदाना॥**" देते हुए दो कान दो आंख दो नाक और जिह्वा (मुख)—ये सात ऋषि बतलाये हैं। इन सातों ऋषियों के नाम क्रमशः गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि कहे हैं। जिन में से मुखवाची 'अत्रि' का निर्वचन तो 'अत्तीति अत्रिः' दिया गया है, परन्तु शेष छै ऋषियों के निर्वचन नहीं किये। उनके निर्वचन इस प्रकार होंगे—

गोतम—गो=वेदवाणी, गुरुमुख से सुनने पर ही वेदवाणी को उत्तमतया धारण किया जासकता है अन्यथा नहीं, अतः 'गोतम' कर्णेन्द्रिय है। **भरद्वाज**—वाज=ज्ञान, इसीतरह ज्ञान को भलीप्रकार धारण करने से दूसरा कान 'भरद्वाज' है। **विश्वामित्र**—वेद की आज्ञा है कि 'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्'। अतः 'विश्वामित्र' का अर्थ चक्षु है। **जमदग्नि**—इन्द्रियों में से एकमात्र नेत्रों में ही ज्योति चमकती है अन्य इन्द्रियों में नहीं, अतः दूसरी आंख 'जमदग्नि' है।

जमदग्नि = प्रज्वलिताग्नि (५१९ पृ०)। वसिष्ठ—प्राण वासकतम है, और प्राणसंचार का मार्ग नासिका है, अतः वसिष्ठ का अर्थ नाक है। कश्यप—प्राणों के वशीकरण से ही योगी आत्मदर्शी होता है (पश्यतीति कश्यपः) और प्राणों के संचार का मार्ग नासिका है, अतः 'कश्यप' दूसरी नाक का वाचक है ।

शरीर = आदित्य, जीवात्मा । सद् = संवत्सर, शरीर । सत्र = सद् + त्रैङ् + क । आपः = आपनाः = व्यापनाः । प्राज्ञ आत्मा = जीवात्मा, तैजस आत्मा = प्राण ॥ २ ॥ ३५ ॥

तेषामेषाऽपरा भवति—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । अत्रासत ऋषयः सप्तसाकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ अथ० १०.८.९

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा, तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् । अत्रासत ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयः, ये अस्य गोपा महतो बभूवुः—इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा, यस्मिन् यशो निहितं सर्वरूपम् । अत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि, यान्यस्य गोप्तॄणि महतो बभूवुः—इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ ३ । ३६ ॥

'सप्त ऋषयः' का एक मंत्र और दिया गया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(तिर्यग्बिलः चमसः ऊर्ध्वबुध्नः) यह आदित्य तिरछी रश्मिओं वाला है, जो जल का आहरण करता है और पुनः वृष्टि के द्वारा उसे प्रदान करता है । यह ऊपर द्युलोक में बंधा हुआ है या ऊपर रहता हुआ अपने प्रकाश के द्वारा पदार्थों का बोधन कराता है, (यस्मिन् विश्वरूपं यशः निहितं) और जिस में सर्वरूपक प्रकाश निहित है । (अत्र सप्तऋषयः साकं आसते) इस आदित्य में सात किरणें इकट्ठी स्थित हैं, (ये अस्य महतः गोपाः बभूवुः) जो कि इस महान् जगत् की रक्षक हैं ।

यह मंत्र का अधिदैवत अर्थ है, अध्यात्म अर्थ इसप्रकार है—(तिर्यग्बिलः चमसः ऊर्ध्वबुध्नः) यह सिर तिरछे इन्द्रिय-छिद्रों वाला है, जो कि इन्द्रियों

के द्वारा ज्ञानों का ग्रहण करता है, और जो शरीर के ऊपर बंधा हुआ है या शरीर के ऊपर रहता हुआ ज्ञानों का बोधन कराता है। (यस्मिन् विश्वरूपं यशः निहितं) इस सिर में सर्वपदार्थ-ज्ञापक ज्ञान निहित है। (अत्र सप्त ऋषयः साकं आसते) इस सिर में उपर्युक्त गोतम आदि सात ज्ञानेन्द्रियें इकट्ठी स्थित हैं, (ये अस्य महतः गोपाः बभूवुः) जो कि इन विशाल शरीर की रक्षा करने वाली हैं। एवं, यह अर्थ आत्मगति का प्रतिपादन करता है।'

अध्यात्मपक्ष में 'सप्त ऋषय.' का अर्थ 'इन्द्रियाणि' करते हुए आचार्य ने इस मंत्र में शतपथोक्त सात इन्द्रियें ही मानी हैं, ऐसा विदित होता है। चमस— चमनमुदकं सनोति सभजन्ते दद्यातीति वा चमस आदित्य., चमन ज्ञानामृतं सनोतीति चमसः शिर', अतएव ब्राह्मण ने 'चमस' का अर्थ सिर किया है। ऊर्ध्वबुध्न = ऊर्ध्वबन्धन, ऊर्ध्वबोधन। यशस् = प्रकाश, ज्ञान ॥ १ । ३६ ॥

२६. देवाः

देवा व्याख्याताः। तेषामेषा भवति—

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥१.८९.२

देवानां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतावृजुगामिनाम् ऋतुगामिनामिति वा। देवानां दानमभि नो निवर्त्तताम्। देवानां सख्यमुपसीदेम वयम्। देवाः न आयुः प्रवर्द्धयन्तु चिरञ्जीवनाय॥४।३७॥

'देव' की व्याख्या ५०० पृ० पर कर आए हैं, यहा यह सूर्यकिरणों का वाचक है। मन्त्रार्थ इसप्रकार है—

(ऋजूयतां देवाना भद्रा सुमतिः) हम ऋजुगामी या ऋतुओं के अनुसार गमन करने वाली सूर्य-किरणों की कल्याणी सुमति में हों, अर्थात् हम भी उनकी तरह ऋजुगामी तथा ऋतुगामी बनें। (देवानां रातिः नः अभिनिवर्त्तताम्) सूर्य-किरणों का प्रकाश, तथा सुवृष्टि आदि का दान हमारे में निरन्तर वर्तमान हो। (वय देवाना सख्य उपसेदिम) हम सूर्य-किरणों के सख्य को प्राप्त करें, अर्थात् हम भी उन के समान तेजस्वी बनें। (देवाः जीवसे नः आयुः प्रतिरन्तु) ये रश्मियें दीर्घ जीवन के लिये हमारी आयु को बढ़ावें।

इसीप्रकार अध्यात्मपक्ष में 'देव' इन्द्रियवाचक, तथा आधिभौतिक पक्ष में विद्वानों का वाचक है।

देव = सूर्यरश्मि, विद्वान्, इन्द्रिय। ऋजूयत् = ऋजुगामी, ऋतुगामी। ऋजु = ऋतु ॥ ४ । ३७ ॥

२७. विश्वे देवाः

विश्वेदेवाः सर्वे देवाः। तेषामेषा भवति—

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वेदेवास आगत।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥ १. ३. ७

अवितारो वा ऽवनीया वा, मनुष्यधृताः सर्वे च देवा इहागच्छत दत्तवन्तो दत्तवतः सुतमिति ॥५।३८॥

विश्वे देवाः = सर्वे देवाः = सूर्य–रश्मियें, सब विद्वान्, सब इन्द्रियें। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(ओमासः) हे सर्वरक्षक या प्रापणीय, (चर्षणीधृतः) मनुष्यों को पुष्टि करने वाली (दाश्वांसः विश्वे देवासः) और अनेक प्रकार के सुखों को देने वाली सूर्यरश्मिओ! (दाशुषः सुतं आगत) तुम हविर्दाता यज्ञकर्ता के उत्पन्न पदार्थों की रक्षा के लिये आवो।

इसीप्रकार अध्यात्मपक्ष में 'विश्वेदेवाः' इन्द्रियवाचक और आधिभौतिक पक्ष में सब विद्वानों का वाचक है।

ओम = अविता, अवनीय। दाश्वांसः = दत्तवन्तः ॥ ५ । ३८ ॥

तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु-किञ्चिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते। यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः। अनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति। 'बभ्रूरेकः' इति दश द्विपदा अलिङ्गाः। भूतांशुः काश्यप आश्विनमेकलिङ्गम्। अभितष्टीयं सूक्तमेकलिङ्गम् ॥ ६ । ३९ ॥

यास्काचार्य 'विश्वेदेवाः' का अर्थ सामान्यतः देवमात्र करते हैं, परन्तु

शाकपूणि इसे किन्हीं विशेष देवताओं का वाचक मानते हैं (सायण भाष्य १.३.७)। अतः, आचार्य शाकपूणि के मत का खण्डन इसप्रकार करते हैं—

सो, यह एक ही 'विश्वेदेवाः' देवत्य वाला तथा गायत्री छन्द वाला तीन ऋचाओं का समूह (१. ३. ७–९) ऋग्वेद में है। परन्तु यज्ञ में 'विश्वेदेवाः' देवता वाले अनेक मंत्रों की आवश्यकता होने पर, जो कोई गायत्री छन्द में बहुत देवताओं वाला प्रकरण है, वह 'विश्वे देवाः' देवता वालों के स्थान में प्रयुक्त किया जाता है। अतः, पता लगता है कि 'विश्वे देवाः' कोई विशेष देव नहीं, प्रत्युत सामान्यतया देवमात्र के लिये प्रयुक्त है। परन्तु शाकपूणि कहता है कि नहीं, यह विनियोग ठीक नहीं, जिस मंत्र में 'विश्व' शब्द पठित हो, जैसे कि ऋ० ८.३०.१ में है, उसे ही विनियुक्त करना चाहिए, अन्यों को नहीं।

यास्काचार्य कहते हैं कि शाकपूणि की यह प्रतिज्ञा कि जिस मंत्र में देवतावाची शब्द पठित हो, वही तद्देवताक मंत्र है, यह अनैकान्तिक दोष से युक्त है, 'बभ्रुरेको विषुणः' इत्यादि (८.२९) दश ऋचाओं वाले द्विपद सूक्त में किसी भी मंत्र में 'विश्वे देवाः' शब्द पठित नहीं, अतः यह सूक्त तद्देवताक नहीं होना चाहिये, परन्तु इस सूक्त को 'विश्वे देवाः' देवता वाला माना जाता है। भूतांश काश्यप ऋषि से दृष्ट सूक्त (१०. १०६) ११ मंत्रों का है, परन्तु उस में केवल ११ वें मंत्र में 'अश्विनोः' पद आया है, अन्य किसी मंत्र में अश्वि-पद प्रयुक्त नहीं, अतः अन्य दश मंत्र 'अश्विनौ' देवता वाले नहीं होने चाहियें। इसीप्रकार 'अभितष्टेव दीधया' आदि अभितष्टीय सूक्त (३. ३८) १० मंत्रों का है, परन्तु उस में केवल १० वें मंत्र में 'इन्द्रं' पद आया है, अन्य किसी मंत्र में इन्द्र-पद प्रयुक्त नहीं, अतः अन्य नौ मंत्र 'इन्द्र' देवता वाले नहीं होने चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं माना जाता, अतः शाकपूणि की प्रतिज्ञा अयुक्त है ॥ । ६ । ३९ ॥

२८. साध्याः

साध्या देवाः साधनात्। तेषामेषा भवति—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १. १६४.५०

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः अग्निनाग्निमयजन्त देवाः। 'अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्त' इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त, यत्र पूर्वे

साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः, पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम् ॥ ७ । ४० ॥

साध्याः = देवाः = सूर्यरश्मयः, ये प्रकाशादि के द्वारा लोकव्यवहार को सिद्ध करती है, साधयन्तीति साध्याः, साध + यत्। निघण्टु १. ५ में भी 'साध्याः' शब्द रश्मिवाची नामों में पठित है, और देवराजयज्वा ने उसका उदाहरण भी यही मंत्र दिया है। मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(देवाः यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) ग्रीष्म ऋतु में सूर्य किरणें अत्यन्त प्रचण्ड अग्नि की आहुतियें डाल कर उस अत्युष्णता से वृष्टि को करके भूमिस्थ 'अग्नि' को निकाल कर अपने में मिला लेती हैं। (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) रश्मिओं के ये प्रचण्ड गर्मी से सिद्ध होने वाले, वृष्टि आदि कर्म प्रकृष्टतम हैं, क्योंकि बिना प्रचण्ड गर्मी के पड़े ये कर्म भलीप्रकार सिद्ध नहीं होते। (ह ते महिमानः देवाः नाकं सचन्त) और फिर ग्रीष्म ऋतु के पश्चात् वे सामर्थ्यवान् किरणें उसी सूर्य में संयुक्त होजाती हैं, (यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति) जहां कि पहली सूर्यकिरणें भी विद्यमान हैं।

मंत्र के भाव को पूर्णतया समझने के लिये ४५५ पृ० पर 'हिमेनाग्निं घ्रंसम्' आदि मंत्र के अर्थ को देखिये।

यहां 'यज्ञ' का अर्थ अग्नि है, जिसकी सिद्धि में आचार्य ने 'अग्निः पशुरासीत्' आदि तैत्तिरीय ब्राह्मण (५.७.२६) का प्रमाण दिया है। इस स्थल पर ब्राह्मण उपर्युक्त मंत्र की व्याख्या करता हुआ कहता है कि (यज्ञ) अग्नि पुरोडाशस्थानीय है, उस सामग्री को ग्रहण करके, उस से यज्ञ करते हैं। ४१३ और ४१४ पृ० पर 'पशु' शब्द पुरोडाशवाची प्रतिपादित किया जाचुका है।

एवं नैरुक्त तो 'साध्याः' का अर्थ द्युस्थानीय रश्मियें करते हैं, परन्तु आधिभौतिक अर्थ करने वाले ऐतिहासिकों का पक्ष है कि यहां पहला देव-युग अभिप्रेत है। सत्ययुग त्रेता द्वापर और कलि, ये चार युग माने गये हैं। उन में से सत्ययुग पहला है। इस युग में धर्म की मर्यादा अपने पूरे यौवन पर होती है। उस समय के लोग वैदिक-धर्म की पालना करने वाले हुआ करते हैं, अतः उसे देवयुग भी कहा जाता है। इस युग में देव लोग अधिक संख्या में मुक्त होते हैं। वे मुक्ति को सिद्ध करने के कारण 'साध्य' कहलाते हैं। एवं, इस पक्ष में मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(देवाः यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) देवलोग ज्ञानाग्नि के द्वारा पूजनीय परमेश्वराग्नि की को पूजा करते हैं। (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) उनके लिये वे ज्ञानयज्ञ-संबन्धी धर्म मुख्य होते हैं। (ह ते महिमानः नाकं सचन्त) तब निश्चय से वे अद्भुत महिमा वाले योगीलोग द्युलोक या मोक्षधाम को सेवते हैं, (यत्र पूर्वे

साध्याः देवाः सन्ति) जहां कि पहले देवयुग में मुक्ति को सिद्ध किये हुए देवलोग विद्यमान हैं।

एवं, इस मंत्र में दर्शाया गया है कि सत्ययुग से भिन्न दूसरे युगों में भी मनुष्य अपने पुरुषार्थ से मुक्ति को पा सकते हैं।। ७। ४०॥

२६. वसवः

वसवो यद्विवसते सर्वम्। अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मात्पृथिवीस्थानाः। इन्द्रो वसुभिर्वासव इति समाख्या, तस्मान्मध्यस्थानाः। वसव आदित्यरश्मयो विवासनात्, तस्माद् द्युस्थानाः। तेषामेषा भवति—

सुगा वो देवाः सुपथा अकर्म य आजग्मुः सवनमिदं जुषाणाः।
जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि ॥यजु०८.१८,१६

स्वागमनानि वो देवाः सुपथान्यकर्म। य आगच्छत सवनानीमानि जुषाणाः। खादितवन्तः पीतवन्तश्च सर्वेऽस्मासु धत्त वसवो वसूनि ॥ ८। ४१॥

वसवः—यतः ये तीनों स्थानों में विभक्त सारे जगत् को आच्छादन करते हैं, अतः ये वसु कहलाते हैं, 'वस' आच्छादने+उ (उणा० १.१०)। 'अग्नि' वसुओं के साथ वसुगणी है, यह प्रसिद्धि है, अतः 'वसु' पृथिवीस्थानीय हैं। 'इन्द्र' वसुओं के साथ वसुगणी है, यह प्रसिद्धि है, अतः वसु मध्यमस्थानीय हैं। रश्मिवाची नामों में 'वसवः' शब्द निघण्टुपठित है, ये अन्धकार को निर्वासित करती हैं, अतः वसु द्युलोकस्थानीय हैं, 'वस' निवासे+ उ।

अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र, ये आठ वसु प्रसिद्ध हैं। इन्हीं आठ वसुओं ने संपूर्ण जगत् को आच्छादन किया हुआ है, अतः ये वसु हैं। आदित्यरश्मिवाची 'वसवः' का मंत्र 'सुगा वो देवाः' है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(देवाः वः सुगा सुपथा अकर्म) हे सूर्यरश्मिओ! हमने तुम्हारे लिये अपने गृहों में ऐसे उत्तम मार्ग बनाये हैं कि जिन से तुम भलीप्रकार गृहों के अन्दर आसको। (ये इदं सवनं जुषाणाः आजग्मुः) सो, जो तुम हमारे इन गृहों को सेवते हुए आवो, (वसवः विश्वे जक्षिवांसः पपिवांसः च) हे रश्मिओ! वे

सब तुम गृह–स्थित रोग–क्रिमि आदिकों को खाते और पीते हुए (अस्मे वसूनि धत्त) हमारे गृहनिवासियों में सब प्रकार के धनों को स्थापित करो।

सुगा = स्वागमनानि। आजग्मुः = आगच्छत। अस्मे = अस्मासु। सवन = स्थान (३६६ पृ०)। यजुर्वेद में मंत्रपाठ इसप्रकार है —

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः।
भरमाणा वहमाना हवींष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि॥ ८.१८
यानावह उशतो देव देवांस्तान्प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।
जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽसुं घर्मं स्वरातिष्ठतानु॥ ८. १९

देवराजयज्वा ने भी 'वसवः' की व्याख्या करते हुए निघण्टुटीका (१.५) में 'सुपथा' की जगह 'सदना' करके यास्कोक्त ही संपूर्ण मंत्र उद्धृत किया है। अतः, ज्ञात होता है कि यास्कोक्त पाठ किसी शाखान्तर का है। ऋषि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद–भाष्य में (८. १८) यास्क का संपूर्ण पाठ उद्धृत किया है, परन्तु उस पर अपनी कोई टिप्पणी नहीं दी॥ ८। ४१॥

तेषामेषाऽपरा भवति—

ज्मया अत्र वसवो रन्त देवा उरावन्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः।
अर्वाक्पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य॥ ७. ३९. ३

ज्मया अत्र वसवोऽरमन्त देवाः, ज्मा पृथिवी तस्यां भवाः, उरौ चान्तरिक्षे मर्जयन्त गमयन्त शुभ्राः शोभमानाः। अर्वाच एनान्पथो बहुजवाः कुरुध्वं, शृणुत दूतस्य जग्मुषो नोऽस्याग्नेः॥ ९। ४२॥

पहले बतलाया जा चुका है कि वसुओं का अधिष्ठान तीनों लोक हैं। अतः, पृथिवीस्थ तथा अन्तरिक्षस्थ वसुओं की 'ज्मया अत्र वसवो' आदि दूसरी ऋचा दी गयी है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(ज्मयाः वसवः देवाः) हे पार्थिव वसु देवो! (अत्र रन्त) तुम यहां पृथिवी पर रमण करते हो, (शुभ्राः उरौ अन्तरिक्षे मर्जयन्त) और हे अन्तरिक्षस्थ स्वच्छ वसुओ! तुम अपने को विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में चलाते हो, (उरुज्रयः अर्वाक्पथः कृणुध्वं) हे बहुवेगवान् वसुओ! तुम सब अपने सुखकारी मार्गों को हमारी ओर बनाओ, (जग्मुषः नः अस्य दूतस्य श्रोत) और तुम्हारी विद्या को प्राप्त किए हुए हमारे इस अनर्थ–निवारक ज्ञानी के शान्ति–प्रार्थना–वचनों को सुनो।

उमयाः—उमा पृथिवी तस्यां भवाः उमयाः । मर्जयन्त=गमयन्त, यहाँ 'मृज' धातु गत्यर्थक मानी गयी है । उरुज्रयः =बहुजवाः । श्रोत=शृणुत । दूतकर्म 'अग्नि' का है, अतः यास्क ने 'अग्ने.' का अध्याहार किया है ॥ ९ । ४२ ॥

वाजी, वेजनवान् ।
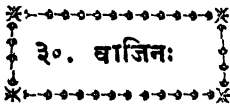
३०. वाजिनः — वाजिनो व्याख्याताः । तेषामेषा भवति—

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः । जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥७.३८.७

सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्वानेषु देवतातौ यज्ञे मितद्रवः स्वर्काः स्वञ्चना इति वा स्वर्चना इति वा स्वर्चिष इति वा, जम्भयन्तो ऽहिं च वृकं च रक्षांसि च क्षिप्रमस्मद् यावयन्त्वमीवा । देवाश्वा इति वा ॥ १० । ४३ ॥

'वाजिन्' की व्याख्या १६० पृ० पर की गयी है । 'ओविजी' भयचलनयोः से 'अण्' प्रत्यय करने पर 'वैज' का रूपान्तर वाज' है । 'वाज' का अर्थ वेग है, वाज+इनि–वाजिन्=वेगवान् । एवं, वाजिन.' का अर्थ सूर्य–रश्मिय है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(मितद्रवः स्वर्काः वाजिनः) नियम में चलने वाली और सुखप्रापक अनुग्राहक या सुदीप्त सूर्यरश्मियें (देवता हवेषु) यज्ञ में शान्ति-प्रार्थनाओं के करने पर (नः शं भवन्तु) हमारे लिये सुखकारी होवें । (अहिं, वृकं, रक्षांसि जम्भयन्तः) ये रश्मियें सांपों, चोरों, और रोग–क्रिमिओं का नाश करती हुई (अस्मत् अमीवाः सनेमि युयवन्) हमारे से रोगों तथा भयों को शीघ्र दूर करें ।

'वाजिनः' का अर्थ (देव अश्व) उत्तम वेगवान् घोड़े भी होता है, अतः अश्वपक्ष में मंत्रार्थ इस प्रकार होगा—नियम में चलने वाले और सुखप्रापक अनुग्राहक या तेजस्वी घोड़े राष्ट्रयज्ञ में युद्धों के छिड़ने पर हमारे लिये सुखकारी होवें । ये घोड़े दुष्टों, चोरों और राक्षसों का नाश करते हुए हमारे में से भयों को शीघ्र दूर करें ।

देवताति=यज्ञ । स्वर्क=सुखप्रापक, सु+'अञ्चु' गतौ । अनुग्राहक,

·'अर्च' पूजायाम् । सुदीप्त, सु+'अर्च' दीप्तौ । सनेमि=क्षिप्रम् ॥ ११ । ४४ ॥

31. देवपत्न्यः

देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः । तासामेषा भवति—

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये । या पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत ॥ ५.४६.७

देवानां पत्न्य उशत्योऽवन्तु नः, प्रावन्तु नस्तुजये ऽपत्यजननाय चान्नसंसननाय च । या पार्थिवासो या अपामपि व्रते कर्मणि ता नो देव्यः सुहवाः शर्म यच्छन्तु शरणम् ॥ १२ । ४५ ॥

देवपत्नी—अपने में सूर्यरश्मिओं जैसे तेज की रक्षा करने वाली उत्तम कोटि की सती साध्वी स्त्रियें 'देवपत्नी' कहलाती हैं । एवं, (देवाः) सूर्यरश्मिओं के प्रसङ्ग से उत्तम कोटि की स्त्रियों के वाचक 'देवपत्नीः' को उत्तम स्थान में पढ़ा है । मंत्रार्थ इसप्रकार है—

(उशतीः देवानां पत्नीः नः अवन्तु) गृहस्थ-धर्म को पालन करने की इच्छा रखती हुई उत्तम कोटि की पत्नियें हम पतियों को प्राप्त हों, (तुजये वाजसातये नः प्रावन्तु) और सन्तानोत्पादन के लिये तथा अन्नलाभ के लिये अर्थात् धनोपार्जन के लिए हमारी रक्षा करें । (याः पार्थिवासः) जो पत्नियें पृथिवी की तरह मर्यादा पूर्वक चलने वाली, (अपि याः अपां व्रते) और जो जल के व्रत में स्थित हैं, अर्थात् जो जल की तरह शान्तिप्रद तथा माधुरी हैं, (ताः सुहवाः देवीः) वे पूजा से बुलाने के योग्य देवियें (नः शर्म यच्छत) हमें सुख प्रदान करें ।

तुजि=अपत्यजनन । पार्थिवा=पार्थिव स्वभाव वाली, जैसे कि विवाह-संस्कार में विनियुक्त 'ध्रुवा द्यौः ध्रुवा पृथिवी……ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्' इस मंत्र में बतलाया है ।

तासामेषाऽपरा भवति—

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट् । आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ ५.४६.८

अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः—इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी, अग्ना-

ग्यग्नेः पत्नी, अश्विन्यश्विनोः पत्नी, राट् राजतेः, रोदसी रुद्रस्य पत्नी, वरुणानी च वरुणस्य पत्नी । व्यन्तु देव्यः कामयन्तां य ऋतुः कालो जायानाम् ॥ १३ । ४६ ॥

'देवपत्नीः' का एक मंत्र और दिया गया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(उत इन्द्राणी, अग्नायी, अश्विनी राट) अपि च विद्युत्-धर्म को पालने वाली, अग्नि-धर्म को पालने वाली, तथा सूर्य और चन्द्र के धर्मों को पालने वाली तेजस्विनी, (देवपत्नीः ग्नाः व्यन्तु) ये सब दैवी शक्तियों की पालना करने वाली स्त्रियें वेदों को पूर्णतया जानें। (रोदसी वरुणानी आशृणोतु) एवं, वायु-धर्म को पालने वाली तथा मेघ-धर्म की रक्षा करने वाली देवी वेदों का श्रवण करे। (यः जनीनां ऋतुः) और, जो जायाओं का काल है, उसी समय (देवीः व्यन्तु) ये देवियें पति-गमन करें, इतर काल में नहीं।

एवं, इस मंत्र में बतलाया गया है कि विद्युत् की तरह आशुकारिणी, अग्नि के समान दुर्गुणों को दग्ध करने वाली, सूर्य के समान प्रतापिनी, चन्द्र के समान शान्तिदायिनी, वायु के समान प्रिया, और मेघ के समान विद्यामृत-वर्षिणी स्त्रियों को सदा वैदिक मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए, और ऋतुकाल के सिवाय अन्य किसी समय में मैथुन का सेवन नहीं करना चाहिए।

'छन्दांसि वै ग्नाः' यहां तै० ब्रा० (५.१.७) में 'ग्ना' का अर्थ वेद किया है, और निघण्टु में भी यह वाक्-वाची नामों में पठित है। जनि=जाया। इन्द्राणी' आदि के अर्थ को जानने के लिये ६६९ पृ० देखिए ॥ १३ । ४६ ॥

दैवत-काण्ड समाप्त

त्रयोदश अध्याय ।

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते । अपिवा सम्प्रत्यय एव स्यान्माहाभाग्याद्द देवतायाः ।

अब, ये देवताओं के अतिस्तवन हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। अथवा, देवता के महान् ऐश्वर्य के होने से ऐसी पूर्ण प्रतीति ही होती है।

आचार्य ने दैवतकाण्ड में मंत्रों के अधिदैवत अर्थ किये हैं। परन्तु सब वेदों का मुख्य तात्पर्य परब्रह्म परमेश्वर में पर्यवसित होता है, जैसे कि ४७३ पृ० पर एकेश्वरपूजा-प्रकरण में दिखलाया गया है। अतः, अब इस परिशिष्ट में दिग्दर्शन के तौर पर आचार्य मंत्रों के ईश्वर-परक अर्थ प्रदर्शित करते हैं। इसकी पुष्टि 'देवतायाः' यहां एकवचन के प्रयोग से होती है। दुर्गाचार्य ने जो अग्नि आदि देवताओं का अतिस्तवन माना है, वह अयुक्त है, क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो बहुवचनान्त 'देवतानाम्' का प्रयोग होना चाहिये था।

प्राचीन आचार्य ईश्वर-स्तुति को 'अतिस्तुति' के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि ईश्वर की स्तुति का कोई अन्त नहीं, जैसे कि ४२२ पृ० पर 'तुञ्जे तुञ्जे......न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्' इस मंत्र में प्रदर्शित किया गया है। परन्तु 'अति-स्तुति' शब्द से कुछ ऐसा भी बोध होसकता है कि यह परमेश्वर की स्तुति यथार्थ से बढ़ कर है। अतः, यास्काचार्य ने 'अपि वा सम्प्रत्यय एव स्यात्' इस विकल्प से 'अतिस्तुति' के विरुद्ध भाव को दूर किया है।

१-२. अग्नि, वरुण

सोऽग्निमेव प्रथममाह । 'त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः' इति यथैतस्मिन्त्सूक्ते । 'नहि त्वदारे निमिषश्च नेशे' इति वरुणस्य ॥ १ ॥

वह ईश्वर-स्तोता निघण्टु के दैवतकाण्ड में पठित पहले 'अग्नि' देवता को ही पहले कहता है, जैसे कि 'त्वमग्ने द्युभिः' आदि अग्नि-सूक्त में (ऋ० २.२) अग्निस्वरूप परमेश्वर का प्रतिपादन किया गया है ।

'त्वमग्ने द्युभिः' आदि मंत्र का उल्लेख ३७२ पृ० पर भी किया गया है। परन्तु वहां उसका अर्थ विद्युत्परक है, और यहां ईश्वर-परक अर्थ का देना अभीष्ट है, अतः पुनः संपूर्ण मंत्र देकर अर्थ किया जाता है—

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥

(अग्ने) हे अग्निस्वरूप परमेश्वर ! (त्वं द्युभिः) तू दिनों से प्रसिद्ध हो रहा है, (त्वं आशुशुक्षणिः) तू अग्नि विद्युत् और सूर्य, इन तीनों चमकने वालों से प्रसिद्ध हो रहा है, (त्वं अद्भ्यः त्वं अश्मनस्परि) तू जलों से और तू हीरे आदि पत्थरों से प्रसिद्ध हो रहा है, (त्वं वनेभ्यः त्वं ओषधीभ्यः जायसे) एवं, तू जङ्गलों से और तू ओषधियों से प्रसिद्ध हो रहा है । (नृणां नृपते !) हे नरों के नरपति ! (त्वं शुचिः) तू शुद्ध पवित्र है ।

इसीप्रकार का वर्णन श्वेताश्वर उपनिषद् में (४. ४) इस तरह आया है—

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥

अर्थात्, हे जगदीश्वर ! तू नीलवर्ण भ्रमर है, तू लाल नेत्रों वाला तोता है, तू विद्युद्गर्भ मेघ है, तू वसन्तादि ऋतुएं हैं, और तू सब समुद्र है । तू विभुता के साथ अनादिमत्त्व को बरतता है, जिस तेरे सामर्थ्य से यह सब भुवन उत्पन्न हुए हैं ।

प्रभु की इसप्रकार की महिमा को आजकल के प्राकृत-कवि 'जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है' इत्यादि कविता से बखानते हैं ।

'वरुण' का संपूर्ण मंत्र और अर्थ इसप्रकार—

अपो सुम्यक्ष वरुण भियसं मत्सम्राळ् ऋतावोऽनु मा गृभाय।
दामेव वत्साद्विमुमुग्ध्यंहो नहि त्वदारे निमिषश्च नेशे ॥ २.२८.६

(वरुण ! मत् भियसं सुम्यक्ष) हे पापनिवारक प्रभु ! तू मेरे से भय को सर्वथा दूर कर। (सम्राट् ऋतावः) हे सत्यस्वरूप सम्राट् ! (मा अनुगृभाय) तू मेरे पर अनुग्रह कर। (वत्सात् दाम इव) हे वरुण ! जैसे दुग्धामृत को पिलाने के लिये दोग्धा बछड़े से रज्जु-बन्धन को छुड़ाता है, (अंहः विमुमुग्धि) उसीप्रकार तू मुझे मोक्षामृत को पिलाने के लिये मेरे से पाप-बन्धन को छुड़ा। (त्वत् आरे) हे प्रभु ! तेरे से दूर होकर कोई मनुष्य (निमिषश्चन नहि ईशे) आंख के झपकने का भी सामर्थ्य नहीं रखता ॥ १ ॥
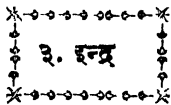
३. इन्द्र　　अथैन्द्रस्य—

यद्द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः। न त्वा
वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ ८.७०.५

यदि त इन्द्र शतं दिवः शतं भूमयः प्रतिमानानि स्युः, न त्वा वज्रिन् ! सहस्रमपि सूर्याः, न द्यावापृथिव्यावप्यभ्य-श्नुवीतामिति ॥ २ ॥

'यद् द्यावः' आदि ऋचा 'इन्द्र' देवता की है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(इन्द्र ! यत् शतं द्यावः) हे परमेश्वर ! यदि सैंकड़ों द्युलोक (उत शतं भूमीः) और सैंकड़ों भूमियें (ते स्युः) तेरी प्रतिमायें हों, (वज्रिन् ! त्वा जातं) तो 'हे वज्रधारी ! तुझ प्रख्यात को (रोदसी न अन्वष्ट) ये द्यावापृथिवी भी नहीं पा सकते, (सहस्रं सूर्याः न) और इसीप्रकार सहस्रों सूर्य भी तुझे नहीं पासकते। अर्थात्, हे प्रभु ! तू सैंकड़ों द्युलोकों, सैंकड़ों भूमिओं, और हज़ारों सूर्यों से भी महान् है। अतएव कठोपनिषद् में कहा है—'न तत्र सूर्यो भाति'। और बृहदारण्यक में लिखा है—'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' ॥ २ ॥
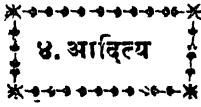
४. आदित्य

अथैषादित्यस्य—

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन । क्व स्य पुल्वघो मृगः कमगञ्जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १९. ८६.२२

यदुदञ्चो वृषाकपे ! गृहमिन्द्राजगमत, क्व स्यः पुल्वघो मृगः क्व स बह्वादी मृगः ? मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः । कमगमद् देशं जनयोपनः ? सर्वस्माद् य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ॥३॥

'यदुदञ्चो वृषाकपे' आदि ऋचा आदित्यस्वरूप परमेश्वर का वर्णन करने वाली है, जिस का अर्थ इसप्रकार है—

(वृषाकपे इन्द्र) हे धर्म में सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (यत् उदञ्चः गृहं अजगन्तन) जब ऊर्ध्वगामी मुक्तात्मा ब्रह्मधाम में जाते हैं, (क्व स्यः पुल्वघः मृगः) तब तेरा वह सर्वसंहारक तथा अन्तर्धान होने वाला स्वरूप कहां चला जाता है ? (जनयोपनः कं अगन्) और तेरा जनों को मोहने वाला स्वरूप किस देश में चला जाता है ? (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) जो आदित्यस्वरूप परमेश्वर संपूर्ण ब्रह्माण्ड से उत्कृष्ट है, उसके बारे में हम यह कह रहे हैं ।

मृत्युलोक में परमेश्वर मनुष्यों को कर्मानुसार दण्ड देता हुआ, उनका संहार करता, है और उन से बहुत दूर गया हुआ होता है । उन से इसका स्वरूप अन्तर्हित रहता है, और उन्हें मोहता रहता है । परन्तु, मुक्तिधाम में परमेश्वर का यह स्वरूप नहीं होता । वह मुक्तात्माओं को अमृत बनाता है, उनके पास सदा विद्यमान रहता है, और उन्हें पूर्ण तत्त्वदर्शी बनाता है !

अजगन्तन = अजगमत । पुल्वघः = बह्वादी, पुरु + 'घस्' भक्षणे । मृग = दूरगन्ता, यहां 'मृज्' धातु गत्यर्थक मानी है । अगन् = अगमत् । योपन — 'युप' विमोहन + ल्यु ॥ ३ ॥
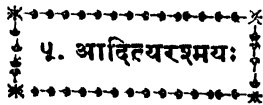
५. आदित्यरश्मयः

अथैषादित्यरश्मीनाम्—

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत । यत्रामदद् वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १०.८६. १

व्यसृक्षत हि प्रसवाय, नचेन्द्रं देवममंसत,यत्रामादद्वृषाक-पिरर्य ईश्वरः पुष्टेषु पोषेषु मत्सखा मम सखा मदनसखा ये नः सखायस्तैः सहेति वा। सर्वस्माद् य इन्द्र उत्तरस्तमेतद् ब्रूम आदित्यम् ॥ ४ ॥

'वि हि सोतोरसृक्षत' आदि मंत्र आदित्यस्वरूप परमेश्वर की रश्मिओं का वर्णन करता है, जो कि इसप्रकार है—

(सोतोः हि व्यसृक्षत) आदित्यस्वरूप परमेश्वर नें इन्द्रियरूपी रश्मियें मनुष्यों को शुभकार्मों में प्रेरित करने के लिये विसृष्ट की हैं, (देवं न अमंसत) परन्तु असुरजनों की वे इन्द्रियें उस आदित्य-प्रभु को अपना प्रकाशक नहीं समझतीं, (यत्र मत्सखा वृषाकपिः अर्यः पुष्टेषु अमदत्) जब कि मादृश देवजनों का मित्र या प्रसन्नचेताओं का मित्र धर्मश्रेष्ठ ईश्वर आदित्य-प्रभु को धारण करने वाले योगिजनों में प्रसन्न होता है। अथवा, जब कि धर्मश्रेष्ठ ईश्वर हमारे देवजनों के मित्रों के साथ आदित्य-प्रभु को धारण करने वाले योगिजनों में प्रसन्न होता है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) यह आदित्यस्वरूप परमेश्वर संपूर्ण ब्रह्माण्ड में उत्कृष्ट है, उसके बारे में हम यह कह रहे हैं।

इन्द्रियों के आत्माभिमान का वर्णन केन तथा छान्दोग्य (५ प्र० १ख०) उपनिषदों में बड़े विस्तार से दिया है, पाठक वहां देखलें।

सोतोः = प्रसवाय। अर्य = ईश्वर। पुष्ट = पोष (पोषक)। मत्सखा = मम सखा, मदनसखा (मत् = मदन) अस्मत्सखिभिः (ये नः सखायस्तै) ॥ ४ ॥

६. अश्विनौ

अथैषाऽश्विनोः —

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥ १०.१०६.६

सृण्येवेति द्विविधा सृणिर्भवति भर्ता च हन्ता च, तथा अश्विनौ चापि भर्तारौ, जर्भरी भर्तारावित्यर्थः, तुर्फरीतू हन्तारौ।

नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका—नितोशस्यापत्यं नैतोशं, नैतोशेव तुर्फरी क्षिप्रहन्तारौ । उदन्यजेव जेमना मदेरू—उदन्यजेवेत्यु-दकजे इव रत्ने सामुद्रे चान्द्रमसे वा । जेमने जयमने, जेमना मदेरू । ता मे जराय्वजरं मरायु, एतज्जरायुजं शरीरं शरदम् अजीर्णम् ॥ ५ ॥

द्यावापृथिवी के स्वामी जगदीश्वर के लिये नित्य बहुवचनान्त 'अश्विनौ' शब्द प्रयुक्त है, जिसकी ऋचा 'सृण्येव जर्भरी' आदि है । उसका अर्थ यह है—

(सृण्या इव जर्भरी तुर्फरीतू) हे द्यावापृथिवी के स्वामी अश्वी जगदीश्वर ! तू दात्री की तरह भर्ता और हन्ता है, (नैतोशा इव तुर्फरी पर्फरीका) तू शत्रु-हन्ता राजपुत्र की तरह दुष्टों को शीघ्र नष्ट करने वाला और उन्हें फाड़ने वाला है, (उदन्यजा इव जेमना मदेरू) और तू सामुद्र अथवा चान्द्रमस रत्न की तरह मन को जीतने वाला अर्थात अपनी ओर खींचने वाला तथा प्रसन्नताप्रद है । (ता मे मरायु जरायु) हे अश्वी ! वह तू मेरे मरणधर्मा शरीर को (अजरम्) बुढ़ापे से रहित बना ।

दात्री दो तरह की होती है, एक तो भर्त्री और दूसरी हन्त्री । चने आदि की कृषि में पूर्वावस्था में शाक को काटने से कृषि की अधिक वृद्धि होती है, परन्तु उत्तरावस्था में काटने पर उपज नष्ट होजाती हैं । एवं. दात्री भरण तथा हनन, दोनों कार्य करती है । इसीप्रकार प्रभु भी उपर्युक्त दोनों कर्मों को करने वाला है ।

जर्भरि = भर्ता, यङ्लुगन्त 'भृञ्' धातु से 'इ' प्रत्यय । **तुर्फरीतु** = हन्ता, 'तृफ' हिंसायाम् से 'अरीतु' प्रत्यय । **तुर्फरि** = हन्ता, 'तृफ' धातु से 'अरि' प्रत्यय । **नैतोश**—'नितोश' धातु निघण्टु में वधार्थक पठित है । नितोशस्य शत्रुहन्तुः राज्ञः पुत्रः नैतोशः । **पर्फरीक**—'ञिफला' विशरणे+ईकन् और द्वित्व (उ०४.२०) । उदन्यज = उदकज = सामुद्र-रत्न, चान्द्रमस ज्योत्स्ना-रत्न । 'चन्द्रमा' जल-प्रधान है, अतः उसे यहां '**उदक**' के नाम से पुकारा है । जेमन = जयमन । **जरायु** = जरायुज = शरीर । मरायु = मरणशील । **शरीर** = शरं नाशं राति ददातीति शरदम्—शरीरम् ॥ ५ ॥

७. सोम
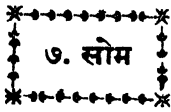
अथैषा सोमस्य—

तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ६.५८. १

तरति स पापं सर्वं मन्दी यः स्तौति, धावति गच्छत्यूर्ध्वाकृतिम् धारा सुतस्यान्धसः धारयाभिषुतस्य सोमस्य मंत्रपूतस्य वाचा स्तुतस्य ॥ ६ ॥

'तरत्स मन्दी' आदि मंत्र 'सोम' संज्ञक प्रभु का वर्णन करता है, जो कि इसप्रकार है—

(मन्दी) जो स्तोता सोम की स्तुति करता है, (सः तरत्) वह सब पापों को तैर जाता है, (सुतस्य अन्धसः धारा धावति) और वेदों से निचोड़े हुए अर्थात् वेदवाणी से स्तुति किए हुए आनन्दरस-सोम की धारा से ऊर्ध्वगति अर्थात् मुक्ति को पाता है। (सः मन्दी तरत्, धावति) एवं, वह स्तोता अवश्यमेव सब पापों को तैर जाता है, और मुक्ति को पाता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रभु के लिये आता है—'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति'। उसी 'रस' को यहां (अन्धस्) सोम के नाम से कहा है। सुतस्य = अभिषुतस्य = मंत्रपूतस्य = वाचा स्तुतस्य। धारा = धारया। जब आनन्दरस-प्रभु की धारायें योगी के आत्मा में चलती हैं, तब वह मुक्त हो जाता है ॥ ६ ॥

८. यज्ञ
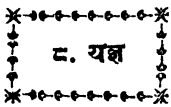
अथैषा यज्ञस्य—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश ॥४.५८.३

चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः, त्रयो अस्य पादाः इति सवनानि त्रीणि, द्वे शीर्षे प्रायणीयादयनीये, सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि, त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मंत्रब्राह्मणकल्पैः, वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः, यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति, महो देव इत्येष हि महान्देवो यद्द यज्ञः, मर्त्यां आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय ॥ ७ ॥

'चत्वारि शृङ्गा' आदि मंत्र यज्ञ-ब्रह्म का वर्णन करता है, जो कि इसप्रकार है—

(चत्वारि शृङ्गा) इस यज्ञ-ब्रह्म के चार वेद चार सींग हैं, (अस्य त्रयः पादाः) इस के तीन लोक तीन पैर हैं, (द्वे शीर्षे) सृष्टि और प्रलय, ये दो इस के सिर हैं, (अस्य सप्त हस्तासः) और इसके गायत्री आदि सात छन्द सात हाथ हैं। (वृषभः) यह सुखवर्षक यज्ञ-ब्रह्म (त्रिधा बद्धः) ऋक् यजु और साम, अर्थात् स्तुति प्रार्थना और उपासना, इन तीन प्रकारों से बंधा हुआ (रोरवीति) तीनों लोकों में गर्जना करता है, (महः देवः मर्त्यान् आविवेश) तथा यह महान् देव संगति के लिये मनुष्यों में प्रविष्ट होता है।

मनुष्य-जाति ही परमात्मा को पा सकती है, इतर प्राणी इसके पाने में असमर्थ हैं, अतः यहां कहा गया है कि यह महान् देव मनुष्यों में प्रविष्ट होता है।

सवन=स्थान=लोक। इसीप्रकार 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' यहां (यजु० ५.१५) संपूर्ण जगत् को तीन लोकों में विभक्त कर के विष्णु के तीन पद बतलाये हैं, तथा 'यज्ञो वै विष्णुः' इस ब्राह्मणवचन के अनुसार 'विष्णु' भी यज्ञवाची है। प्रायणीय=प्रारम्भ, उदयनीय=अन्त। यज्ञ के प्रारम्भिक कर्म को प्रायणीय तथा अन्तिम को उदयनीय कहा जाता है। इसीप्रकार 'सृष्टि' प्रारम्भ है, और 'प्रलय' अन्त है।

यास्काचार्य ने प्रसिद्धि-ज्ञापन के लिये 'मंत्रब्राह्मणकल्पैः' का उल्लेख करके उस का अर्थ 'ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः' किया है। इसीप्रकार आगे ९ वें खण्ड में "मंत्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः, ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः।" यहां याज्ञिकों तथा नैरुक्तों का मत दर्शाया है। इससे पता लगता है कि याज्ञिक जिन्हें मंत्र कल्प और ब्राह्मण

कहते हैं, उन्हें ही नैरुक्त ऋक् यजु और साम कहते हैं। एवं पता लगा कि यहां 'ब्रह्मण' ब्राह्मण ग्रन्थों का वाचक नहीं, प्रत्युत 'साम' का वाचक है। और, इसी-प्रकार 'कल्प' कल्पग्रन्थों का वाचक नहीं परन्तु इसका अर्थ 'यजु' है। 'कल्प' का शब्दार्थ 'क्रिया-विधान' है, और 'यजु' भी क्रियाकाण्ड को बतलाता है। ब्रह्माण इदं प्राप्तिसाधनमिति ब्राह्मणम् साम। (यदेनमृग्भिः०) यतः ऋचाओं से इस प्रभु की स्तुति करते हैं, यजुओं से इसकी प्रार्थना करते हैं, और साममंत्रों से इसकी उपासना करते हैं, एवं, इन तीनों कर्मों से मनुष्य परमेश्वर को अपने साथ बांध लेता है ॥ ७ ॥

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ यजु० १७.६८

स्वर्गच्छन्त ईजाना नेक्षन्ते, तेऽमुनेव लोकं गतवन्त इच्छन्त इति वा। आ द्यां रोहन्ति रोदसी, यज्ञं ये विश्वतोधारं सर्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिर इति ॥ ८ ॥

'यज्ञ' का एक मंत्र और दिया गया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(ये सुविद्वांसः) जो उत्तम विद्वान् योगिलोग (विश्वतोधारं यज्ञं) सब ओर से सब को धारण करने वाले यज्ञस्वरूप प्रभु का (वितेनिरे) अपने अन्दर और बाहर प्रजा में विशेषतया विस्तार करते हैं, (स्वर्यन्तः न अपेक्षन्त) वे योग-यज्ञ को करने वाले योगी सुखस्वरूप प्रभु को प्राप्त करते हुए वासनाओं में दृष्टि नहीं रखते, अथवा वे उस ब्रह्मलोक को पाते हुए तीनों प्रकार की एषणाओं की इच्छा नहीं करते, (रोदसी द्यां आरोहन्ति) और, फिर वे मुक्त होकर जरा मृत्यु तथा शोक आदि के निरोधक मुक्ति-धाम में आरूढ़ हो जाते हैं।

अपेक्षन्त = ईक्षन्ते, इच्छन्ते। रोदसी = रोदसीम्, यहां 'अम्' को पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश है ॥ ८ ॥

९. वाक् अथैषा वाचः प्रवल्हितेव—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥१.१६४.४५

चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणाः ये मेधाविनः। गुहायां त्रीणि निहितानि, नार्थं वेदयन्ते। गुहा गूहतेः, तुरीयं त्वरतेः।

कतमानि तानि चत्वारि पदानि? ओङ्कारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मंत्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग् वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः। अथापि ब्राह्मणं भवति—

"सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवदेष्वेव लोकेषु त्रीणि, पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्याम् साऽग्नौ सा रथन्तरे, याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये, या दिवि सा बृहति सा स्तनयित्नौ, अथ पशुषु। ततो या वागतिरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः, तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति, या च देवानां या च मनुष्याणाम्" इति ॥ ९ ॥

'चत्वारि वाक्परिमिता' आदि ऋचा वाक्स्वरूप परमेश्वर का वर्णन करने वाली पहेली सी है, जिस पहेलीमय कूट मंत्र का अर्थ इसप्रकार है—

(चत्वारि वाक्परिमिता पदानि) वाक्स्वरूप परमेश्वर के ऋक् यजु साम और व्यावहारिक, ये चार प्रकार के परिमित पद हैं। (तानि, ये मनीषिणः ब्राह्मणाः, विदुः) उन चतुर्विध पदों को जो मेधावी वेदज्ञ ब्राह्मण हैं, वे जानते हैं। (त्रीणि गुहा निहिता) इन में से ऋक् यजु और साम, ये त्रिविध पद बुद्धि में निहित हैं। अर्थात् वैदिक ज्ञान बुद्धिगम्य है, विना प्रकृष्ट बुद्धि के, इनका ज्ञान उपलब्ध करना दुष्कर है। (न इङ्गयन्ति) एवं, बुद्धिहीन अशिक्षित लोग इन के अर्थ को नहीं समझते, (मनुष्याः वाचः तुरीयं वदन्ति) अपितु सर्वसाधारण लोग वाक्स्वरूप परमेश्वर के चौथे व्यावहारिक पदों को ही बोलते हैं।

केनोपनिषद् में आए "यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥" से पता लगता है कि व्यावहारिक वाणी भी उसी

प्रभु के सामर्थ्य से व्यवहृत की जाती है, अन्यथा नहीं। अथवा, जो वैदिक भाषा व्यवहार में प्रयुक्त होने पर लौकिकभाषाओं के रूप में परिवर्तित हो रही है, उस का आदि स्रोत परमेश्वर है। सर्वसाधारण मनुष्य उसी व्यावहारिक भाषा को बोलते हैं, वेदमंत्रों के रहस्यों को नहीं समझते।
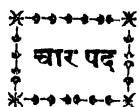
चार पद

विद्वानों ने भिन्न २ दृष्टि से 'चत्वारि पदानि' के सात अर्थ किए हैं, जिनका उल्लेख यास्काचार्य ने इसप्रकार किया है—

(१) ऋषि लोग ओंकार तथा भूः भुवः स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों को चार पद मानते हैं। मनु ने २.७६ में लिखा है—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥

अतः (अ+उ+म्) ओम् तथा तीन महाव्याहृतियें, ये चार पद वाक्-स्वरूप प्रभु से उत्पन्न हुए हैं। इन चारों पदों के रहस्य को मेधावी वेदज्ञ ब्राह्मण ही जानते हैं, इतर मनुष्य नहीं। इन चार पदों में से कौन से तीन बुद्धिगम्य हैं, और किस को सर्वसाधारण लोग बोलते हैं, यह चिन्तनीय है।

(२) वैयाकरण नाम आख्यात उपसर्ग और निपात, इन चार पदों को वाक्स्वरूप परमेश्वर से उत्पन्न हुए मानते हैं। संपूर्ण वेद इन्हीं चार पद-विभागों में विभक्त हैं, अतः ये चारों पद ईश्वरीय हैं। मेधावी ब्राह्मण इन चारों पदों को सम्यक्तया जानते हैं। इन में से पहले तीन पद बुद्धिगम्य हैं, व्याकरण-विद्या से रहित मनुष्य उन के तत्त्व को नहीं समझ सकते, अपितु सर्वसाधारण मनुष्य वाक्-स्वरूप परमेश्वर के चौथे निपात-पद को ही बोलते हैं। अर्थात्, वे निपातवत् सिद्ध शब्द की तरह साधन-ज्ञान के बिना ही उन शब्दों का प्रयोग करते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्भाष्य में इसी पक्ष को दर्शाया है।

(३) याज्ञिक लोग मंत्र कल्प ब्राह्मण और चौथी व्यावहारिकी वाणी, इन चार को मानते हैं। इस पक्ष का भाव सातवें खण्ड में दर्शाया जा चुका है।

(४) नैरुक्त ऋक् (पद्य) यजु (गद्य) साम (गीति) और चौथी व्यावहारिकी वाणी, इन चार को मानते हैं। इस पक्ष को लेकर मंत्रार्थ किया जा चुका है।

(५) कई विद्वान् सर्पों की वाणी, पक्षियों की वाणी, क्षुद्रजाति के रींगने वाले क्रिमियों की वाणी, इन चार को वाक्स्वरूप परमेश्वर से उत्पन्न हुई बतलाते हैं। इन में से पहली तीन वाणियें बुद्धिगम्य हैं, इन्हें हरएक मनुष्य नहीं समझ सकता।

(६) आत्मवादी लोग कहते हैं कि ग्राम्य पशुओं में, वाद्यों में, आरण्य पशुओं में, और मनुष्यों में जो वाणियें हैं, वे यहां अभिप्रेत हैं। इनमें से पहली तीन वाणियों का परिज्ञान बुद्धिगम्य है, उन्हें सर्वसाधारण लोग नहीं जानते।

(७) सातवां मत आचार्य ने किसी ब्राह्मणग्रन्थ का दर्शाया है। 'सा वै वाक्' आदि ब्राह्मणवचन में बतलाया है कि वह वाक्स्वरूप परमेश्वर से पैदा हुई वाणी चार प्रकार से फैली हुई है। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु, इन तीन लोकों में तीन तरह की है, और चौथी (पशुषु) मनुष्यों में है। पहली तीन वाणियें क्रमशः रथन्तर साम में, वामदेव्य साम में, और बृहत्साम में निहित हैं, तथा चौथी व्यावहारिकी मनुष्यों में रहती है। इस चौथी से जो वाणी बढ़ी हुई है, उसको वेदज्ञ ब्राह्मणों में स्थापित किया हुआ है। अर्थात्, वे लोग उपर्युक्त चारों प्रकार की वाणियों के ज्ञाता होते हैं। इसलिये ब्राह्मण लोग वैदिक और लौकिक, दोनों प्रकार की वाणियों को बोलते हैं।

इस वचन में पृथिवी = अग्नि = रथन्तर, अन्तरिक्ष = वायु = वामदेव्य, और द्यु = आदित्य = बृहत्, इनको एकार्थक दर्शाया है। इन सामगानों का अग्नि वायु और आदित्य की गतियों से संभवतः, कोई संबन्ध हो, इसे सामग लोग जान सकते हैं। और, जिसप्रकार मेघ-गर्जन वृष्टि का द्योतक होता है, उसीप्रकार मनुष्यों की व्यावहारिक वाणी भी व्यवहार की बोधक होती है, अतः संभवतः मनुष्यवाणी का स्तनयित्नु-वाणी से संबन्ध जोड़ा गया है।

गुहा = बुद्धि, यह निगूढ़ होती है, गुह् + क + टाप्। तुरीय = चौथा, चतुर्णां पूरणस्तुरीयः, यहां 'चतुर्' से 'छ' प्रत्यय करके वैयाकरण (पा०५.२.५१ वा०) तुरीय' की सिद्धि करते हैं, परन्तु यास्क त्वर् + 'छ' से सिद्ध करता ॥ ९ ॥

१०. अक्षर

अथैषाऽक्षरस्य—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ १.१६४.३९

ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन् देवा अधिनिषण्णाः सर्वे। यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्ते इमे समासते, इति विदुष उपदिशति।

कतमत्तदेतत् अक्षरम् ? ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः । ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मंत्रेषु । 'एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिप्रति' इति च ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

'ऋचो अक्षरे' आदि ऋचा अक्षर-ब्रह्म की है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(ऋचः यस्मिन् परमे व्योमन् अक्षरे) ऋग्वेदादि से प्रतिपादित जिस सर्वोत्कृष्ट तथा सवरक्षक ओम्-वाच्य ब्रह्म में (विश्वे देवाः अधिनिषेदुः) सूर्य चन्द्र आदि सब देव आधेयरूप से स्थित हैं, (यः तत् न वेद) जो मूर्ख उस ओम्-वाच्य ब्रह्म को नहीं जानता, (ऋचा किं करिष्यति) वह ऋग्वेदादि वेदों से क्या करेगा ? अर्थात्, उसका वेदाध्ययन सर्वथा निष्फल है । (ये तत् विदुः) परन्तु जो उस अक्षर को जानते हैं, (ते इमे इत् समासते) वे ये विद्वान् ही उन ऋग्वेदादिकों के द्वारा ओम्-वाच्य ब्रह्म में मिल कर रहते हैं ।

विद्वानों ने 'अक्षर' के भिन्न २ तीन अर्थ माने हैं, जिनका उल्लेख आचार्य ने इसप्रकार किया है—

(१) शाकपूणि कहता है कि ओम-शब्द-वाच्य ब्रह्म 'अक्षर' है । ऋग्वेदादि सब वेद इसी सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वरक्षक 'अक्षर' में स्थित हैं, और इसीलिये नाना देवता वाले सब मंत्रों में यही 'अक्षर' वर्णित है । अर्थात्, ओम-शब्द-वाच्य ब्रह्म चारों वेदों का प्रतिपाद्य विषय है, और अतएव अग्नि वायु आदित्य अश्विनौ आदि सब देवताओं से वही एकमात्र अभिप्रेत है । ब्राह्मण ने भी कहा है कि यह ओम्पदवाच्य ब्रह्म ही यह अक्षर है, जो कि संपूर्ण त्रयीविद्या का प्रतिनिधि है ।

इसीप्रकार कठोपनिषद् में कहा है—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति... तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥" "एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥" एवं, 'अक्षर' को ओम्पद-वाच्य ब्रह्म मान कर मंत्रार्थ किया जा चुका है ॥१० ॥

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः । एषर्ग् भवति, यदेनमर्चन्ति । तस्य यदन्यन्मात्रेभ्यस्तदक्षरं भवति । रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते, य एतस्मिन्नधिनिषण्णाः—इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—शरीरमत्र ऋगुच्यते, यदेनेनार्चन्ति । तस्य यदविनाशिधर्म तदक्षरं भवति । इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते, यान्यस्मिन्नधिनिषण्णानि—इत्यात्मप्रवादाः ॥ ११ ॥

(२) शाकपूणि का पुत्र 'अक्षर' का अर्थ आदित्य करता है । यह आदित्य ही 'ऋक्' है, यतः इस को पूजा करते हैं । इसीतरह 'ऋच्' धातु से आदित्यवाची 'अर्क' शब्द सिद्ध होता है । उस आदित्य का जो अवयवों से भिन्न संपूर्ण रूप है, वह 'अक्षर' है । एवं, इस से विदित होता है कि प्रस्तुत मंत्र में आदित्यावयव 'ऋक्' हैं, और आदित्य 'अक्षर' है । इस पक्ष में 'देव' रश्मियें हैं । एव, मंत्रार्थ इसप्रकार होगा—

(यस्मिन् परमे व्योमन् अक्षरे) जिस उत्कृष्ट और सर्वरक्षक आदित्य में (ऋचाः, विश्वे देवाः अधिनिषेदुः) संपूर्ण आदित्यावयव और सब रश्मियें अधिनिहित हैं, अर्थात् जिस आदित्य का प्रकाश तथा ताप आदि अपना है, और जिस में चन्द्रादि लोकों की प्रकाशक किरणें विद्यमान हैं, (यः तत् न वेद) जो मूर्ख उस आदित्य के विज्ञान को नहीं जानता, (ऋचा किं करिष्यति) वह आदित्यावयव से क्या करेगा, अर्थात् वह सूर्य के प्रकाश तथा ताप आदि से कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकता । (ये तत् विदुः) अपितु जो विद्वान् उस आदित्य को जानते हैं, (ते इमे इत् समासते) वे ये ही रोग आदिकों से रहित होकर सम्यक्तया चिरकाल तक जीवित रहते हैं । यह मंत्र का अधिदैवत अर्थ है ।

(३) अध्यात्म अर्थ इसप्रकार है—जिस उत्कृष्ट और सर्वरक्षक जीवात्मा में सब मनुष्य-शरीर और सब इन्द्रियें अधिनिहित हैं, जो मूर्ख उस आत्मा को नहीं जानता, वह शरीर धारण करके क्या करेगा । अर्थात्, ऐसे मूढ़ का, मनुष्य-शरीर धारण करना, नितान्त निष्फल है । अपितु जो विद्वान् उस आत्मा को जानते हैं, वे ये लोग ही जन्ममरण के प्रवाह से छूट कर ब्रह्मलोक में स्थित होते हैं ।

इस पक्ष में मनुष्य-शरीर 'ऋक्' कहलाता है, क्योंकि इसी के द्वारा परमेश्वर-पूजा की जा सकती है, अन्य किसी प्राणिशरीर से नहीं । उस शरीर का संबन्धी जो अविनाशी धर्म वाला आत्मा है, वह 'अक्षर' है, और इन्द्रियें 'देव' कहलाती हैं । यह पक्ष आत्मवादियों का है ॥ ११ ॥

अक्षरं न क्षरति, न क्षीयते वाऽक्षरं भवति । वाचोऽक्ष इति वा । अक्षो यानस्य, अञ्जनात् । तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यात्,

इत्ययं मंत्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूळ्हः । अपि श्रुतितोऽपि तर्कतः, नतु पृथक्त्वेन मंत्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः । नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा । 'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति' इत्युक्तं पुरस्तात् ।

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्, को न ऋषिर्भविष्यतीति ? तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मंत्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळ्हम् । तस्माद्द यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षन्तद्द भवति ॥१२॥

अक्षर—(क) न क्षरति न नश्यतीत्यक्षरम्, नञ्+क्षर+अच् । (ख) न क्षीयते इति अक्षरम्, नञ्+'क्षि' क्षये+ङरन् । (ग) अक्ष एव अक्षरम्, 'अक्ष' से स्वार्थ में 'रन्' प्रत्यय । ओम्-पद-वाच्य परमेश्वर वेदवाणी का अक्ष है, जिस पर कि संपूर्ण वेदवाणी घूम रही है । संपूर्ण वेदों का मुख्य तात्पर्य ओङ्कार-ब्रह्म में ही पर्यवसित होता है, यह अभी पहले बतला आये हैं । यान के धुरे को 'अक्ष' कहते हैं, क्योंकि उस पर ही यान की संपूर्ण गति अवलम्बित है, 'अक्षू' गतौ+स (उणा० ३. ६५) । आवर्तन की समानता से अक्ष के स्वभाव वाला यह दूसरा 'अक्षर' है । अर्थात्, जिसप्रकार उसी 'अक्ष' पर रथ-चक्र घूमते हैं, उसीप्रकार ओङ्कार-अक्षर पर सब वेद घूम रहे हैं ।

तर्क-ऋषि

इसप्रकार यह मंत्रार्थ चिन्तन-विषयक ऊहापोह प्राप्त किया गया है । एवं, मंत्रार्थ-चिन्तन करते समय वेद के प्रमाणों से, अपितु वेदाविरोधी तर्क से (कुतर्क से नहीं) मंत्रों का निर्वचन करना चाहिए, परन्तु प्रकरण से पृथक् करके कभी निर्वचन नहीं करना चाहिये, अपितु मंत्रों का निर्वचन सदा प्रकरणानुसार ही करना चाहिए । इन मंत्रों में अर्थ की प्रत्यक्षता, उन सामान्य जनों को कभी नहीं होती, जोकि ऋषि नहीं हैं और तपस्वी नहीं हैं । और यह पहले ही बतला चुके हैं (७२ पृ०) कि वेद को जानने वाले विद्वानों में, अधिक विद्यावान् मनुष्य प्रशस्त होता है ।

इस 'तर्क' की महत्ता को दर्शाने के लिए यास्काचार्य एक इतिहास देते हैं कि पूर्वकाल में ऋषिलोगों के उठ जाने पर मनुष्य देवजनों से बोले कि अब हमारा कौन ऋषि होगा, जो कि हमें वेदार्थ-दर्शन कराएगा । तब उन देवों ने उन मनुष्यों को तर्क-ऋषि प्रदान किया, जोकि मंत्रार्थ-चिन्तन-विषयक ऊहा

पोह है, और जिसे उन ऋषियों तथा देवों ने भी प्राप्त किया हुआ था। इसलिये ऐसे तर्क की सहायता से जो कोई भी वेदपाठी जिस किसी तत्त्व—ज्ञान को मंत्रों में खोजता है, वह तत्त्व—ज्ञान ऋषिदृष्ट ही होता है।

जो लोग वेदमंत्रों के मनमाने अर्थ करते हुए, उन्हें तर्कानुसार ठीक समझते हैं, वे यास्क के अभिप्राय से बहुत दूर हैं। यास्क हरएक साधारण मनुष्य के मनमाने तर्क को तर्क नहीं समझते, परन्तु ऐसे मनुष्य के ऊहापोह को ही तर्क—ऋषि समझते हैं कि जो मनुष्य अनेक विद्याओं में प्रवीण हो, बहुश्रुत हो, तपस्वी हो, प्रकरणानुसार चिन्तन करने वाला हो। उसका जो वेदशास्त्राविरोधी तर्क है, वही यहां तर्क—ऋषि अभिप्रेत है। यह तर्क वह है, जिसे पहले ऋषि मुनि भी प्राप्त किया करते थे (अभ्यूढम्=प्राप्तम्, अभि+वह+क्त)।

यास्क के अभिप्राय को पूर्णतया समझने के लिये मनुस्मृति के दो श्लोक उद्धृत किए जाते हैं, जो कि ये हैं—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १२.१०५

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १२.१०६

अर्थात्, धर्म—तत्त्व के जिज्ञासु को प्रत्यक्ष अनुमान और विविध शास्त्र, इन तीनों को भलीप्रकार जानना चाहिए। इसप्रकार का जो विद्वान् वेदशास्त्राविरोधी तर्क के द्वारा वेदोक्त धर्मोपदेश का अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है, अन्य नहीं ॥ १२ ॥

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः। अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥ १०.७१.८

हृदा तष्टेषु मनसाम्प्रजवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते समानख्याना ऋत्विजः, अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः। ओहब्रह्माण ऊहब्रह्माणः, ऊह एषां ब्रह्मेति वा। सेयं विद्या श्रुतिमतिबुद्धिः। तस्यास्तपसा पारमीप्सितव्यम्। तदिदमायु-

रिच्छता न निर्वक्तव्यम् । तस्माच्छन्दःसु शेषा उपेक्षितव्याः । अथागमः, यां यां देवतां निराह, तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति ॥ १३ ॥

वेदार्थ-ज्ञान के लिए तर्क-ऋषि बड़ा उत्तम सहायक है, इसकी पुष्टि के लिये आचार्य ने 'हृदा तष्टेषु' आदि मंत्र भी प्रमाण के तौर पर उल्लिखित किया है, जिसका अर्थ इसप्रकार है—

(यत् सखायः ब्राह्मणाः) जब वेदोक्तकर्मों के कर्ता वेदज्ञ विद्वान् (हृदा तष्टेषु मनसः जवेषु) हृदय से सूक्ष्मीकृत बुद्धियों की दौड़ों में, अर्थात् हृदय तथा बुद्धि से गम्य वेदार्थ-चिन्तन में (संयजन्ते) एकत्रित होते हैं, (अह अत्र त्वं वेद्याभिः विजहुः) तब निश्चय से वे विद्वान् उस वेदार्थ-चिन्तन में बुद्धिहीन मूढ़ को वेदितव्य मनोवृत्तियों के कारण छोड़ देते हैं, (उ त्वे ओहब्रह्माणः विचरन्ति) और दूसरे तर्क से वेद-ज्ञान को उपलब्ध करने वाले, या तर्क ही जिनका वेदार्थ-ज्ञापक महान् साधन है, वे विद्वान् उन २ ज्ञात देवता-तत्त्वों के ऐश्वर्यों में विचरते हैं, अर्थात् उन ज्ञात तत्त्वों से पूर्ण लाभ उठाते हैं।

सखायः = समानख्यानाः = ऋत्विजः । एवं, जिन विद्वानों का तत्त्व-दर्शन या वचन क्रिया के साथ हो, उन कर्ताओं को 'सखि' कहा गया है। ब्राह्मणाः = ब्रह्मज्ञातारः । ऐसे कर्ता ब्राह्मण ही धर्म-चिन्तन में सर्वश्रेष्ठ होते हैं, जैसे कि मनु ने कहा है—

> भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
> बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥१.९६
>
> ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
> कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ १.९७

अर्थात्, भूतों में प्राणि श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धिजीवी पश्वादि श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ है, और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। ब्राह्मणों में अधिक विद्यावान् श्रेष्ठ है, अधिक विद्यावानों में कर्मों में कर्तव्यबुद्धि श्रेष्ठ हैं, कर्मों में कर्तव्यबुद्धियों में कर्मकर्ता श्रेष्ठ हैं, और कर्मकर्ताओं में वेदज्ञ श्रेष्ठ हैं।

वेद्याभिः = वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः (मनोवृत्तिभिः) । ओहब्रह्माणः = (क) ऊहब्रह्माणः, ऊहेण तर्केण ब्रह्म विदितं येषां ते ऊहब्रह्माणः, ब्रह्मन् = वेद । (ख) ऊहस्तर्क एव ब्रह्म महद्वेदार्थसाधनमेषान्ते ऊहब्रह्माणः, ब्रह्मन् = महान् ।

'ऊह' के प्रसङ्ग से आचार्य ने 'सेयं विद्या' आदि में तर्क का वर्णन किया है कि यह तर्क-विद्या बहुश्रुतता मनन और बुद्धि, इन तीनों से ज्ञातव्य है। और तप के द्वारा उस तर्क-विद्या का पार पाने की इच्छा रखनी चाहिए। बिना तप के उपर्युक्त तीनों साधनों के होने पर भी यह तर्क-विद्या हमें अभीष्ट स्थान पर नहीं पहुंचा सकती। इसलिये अपनी यत्किंचित् आयु चाहने वाले अतपस्वी मनुष्य को इस तर्क-शास्त्र का अभ्यास कभी नहीं करना चाहिए। यदि अतपस्वी मनुष्य इस तर्क-शास्त्र से काम लेगा, तो उलटा वह अनेक दुःखों का भागी बन कर शीघ्र मृत्यु का ग्रास हो जावेगा। इसलिये श्रुति मति और बुद्धि, इन तीनों साधनों से युक्त तपस्वी विद्वान् को चाहिये कि वह तर्कशास्त्र से सहायता लेता हुआ मंत्रों में मंत्रशेषों और सूक्तशेषों आदिओं को प्रकरण-ज्ञान के लिये देखे।

एवं, तर्क की व्याख्या करने के पश्चात् आचार्य फिर मंत्रोक्त 'विचरन्ति' का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि इसप्रकार तर्क-शास्त्र के प्रयोग से यह (आगम) फल होता है कि वह विद्वान् उस तर्क के द्वारा जिस २ देवता का निर्वचन करता है, उस २ देवता के ऐश्वर्य को अनुभव करता है॥ १३॥

चतुर्दश अध्याय ।

व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं च । अथात ऊर्ध्वमार्गगतिं व्याख्यास्यामः ।

दैवत–काण्ड और यज्ञाङ्ग–काण्ड की व्याख्या कर चुके हैं । अब, यहां से ऊर्ध्वमार्ग–गमन की व्याख्या करेंगें ।

यास्काचार्य ने यहां अतिस्तुति–प्रकरण को यज्ञाङ्ग–काण्ड के नाम से उल्लिखित किया है । परमेश्वर–स्तवन ब्रह्मयज्ञ का प्रथम अङ्ग है, अन्य अङ्ग प्रार्थना और उपासना हैं, अतः इसे 'यज्ञाङ्ग' कहा गया है । इस यज्ञाङ्ग का वर्णन करने के पश्चात् यास्काचार्य अब इस अध्याय में देवयान–गमन का प्रतिपादन करते हैं ।

दुर्गाचार्य ने इस अध्याय का भाष्य नहीं किया, और जितने भी निरुक्त उपलब्ध हैं, उन सब में यह अध्याय अनेक स्थलों पर अत्यन्त अशुद्ध छपा हुआ है । कई जगहों पर तो ऐसे अप्रासङ्गिक से शब्द पड़े हुए हैं कि उन मे कोई अभिप्राय ही नहीं निकलता । इसलिये जहां तक हो सकेगा मैं इसे विशद करने का यत्न करूंगा, संपूर्ण प्रकरण को सुलझाना अत्यन्त दुष्कर है ।

'सूर्य आत्मा' इत्युदितस्य हि कर्मद्रष्टा । अथैतदनुप्रवदन्ति । अथैतं महान्तमात्मानमेषगणः प्रवदति 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इति । अथैष महानात्मात्मजिज्ञासयात्मानं प्रोवाच 'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः' 'अहमस्मि प्रथमजाः' इत्येताभ्याम् ॥ १ ॥

'चित्रं देवानाम्……सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (७२४ पृ०) इस मंत्र में बतलाया गया है कि सर्वप्रेरक परमेश्वर जंगम और स्थावर, सबका अन्तर्यामी आत्मा है, अतः यह उत्पन्न मनुष्य के कर्मों का द्रष्टा है । और, इसी महान् आत्मा परमेश्वर का प्रतिपादन यह चार मंत्रों का ऋक्समूह कर रहा

है, जिसमें से पहला मंत्र 'इन्द्रं मित्रं वरुणं' आदि (५०३ पृ०) है, और अन्य तीन मंत्र आगे दिये हैं। इस महान् आत्मा ने जीवात्मा की जिज्ञासा के कारण उस जीवात्मा को अपना स्वरूप 'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः' तथा 'अहमस्मि प्रथमजाः' इन दो ऋचाओं से बतलाया है ॥ १ ॥

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतम्म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वन्देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः ।
यो मा ददाति स इदेव मावा अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

इति स ह ज्ञात्वा प्रादुर्बभूव, एवं तं व्याजहारायम्, तमात्मानमध्यात्मजमन्तिकमन्यस्मा आचक्ष्वेति ॥ २ ॥

इस द्वितीय खण्ड में यास्क ने उन दो ऋचाओं का संपूर्ण पाठ दिया है। उन में से पहली ऋचा ऋ०३.२६.७ की है, और दूसरी तैत्तिरीय आरण्यक (९. १०) की है, और सामवेद के पूर्वार्चिक में (६.३ १०.९) भी **'नाभिः'** की जगह **'नाम'** और **'मावा'** की जगह **'मावद्'** पाठभेद के साथ यही ऋचा पायी जाती है। इन दोनों मंत्रों का अर्थ इसप्रकार है —

(अग्निः अस्मि) मैं अग्नि हूं, (जन्मना जातवेदाः) और स्वभाव से ही सर्वज्ञ हूं । (घृतं मे चक्षुः) यह संपूर्ण तेज मेरी चक्षु है, (अमृतं मे आसन्) और अमृत मोक्ष मेरे मुख में है । (अर्कः, त्रिधातुः, रजसः विमानः) मैं सर्वपूज्य, त्रिलोकी का धर्ता, और सब लोक लोकान्तरों का निर्माता हूं । (अजस्रः घर्मः) मैं सदैव यज्ञस्वरूप हूं, (हविः नाम अस्मि) और सर्वग्राह्य होने के कारण हवि नाम वाला हूं।

(अहं ऋतस्य प्रथमजाः अस्मि) मैं सत्य का प्रथम प्रवर्तक हूं, (देवेभ्यः पूर्वं अमृतस्य नाभिः) और मुक्तात्मा देवों से पहले अमृत का केन्द्र हूं। (यो मा ददाति) जो विद्वान् ब्रह्मोपदेश के द्वारा मुझे अन्यों को प्रदान करता है, (सः इत् एवं आवत्) वह ही इसप्रकार से अमृत को पाता है, (अन्नं अहं अन्नं अदन्तं अद्मि) परन्तु अन्नस्वरूप मैं एकाकी अन्नभोजी को खा जाता हूं। अर्थात्, जो योगी अकेला मेरा भोग करता है और अन्य मनुष्यों को मेरा ज्ञान प्रदान नहीं करता, उसे मैं अमृतधाम का अधिकारी नहीं बनाता।

इसप्रकार वह प्रभु ज्ञान कर योगी के सामने प्रादुर्भूत हुआ, और उसने उसे इसप्रकार कहा कि तू अपने आत्मा में प्रकाशित उस समीपवर्ती परमात्मा को अन्य मनुष्य को बतला।

परमेश्वर सत्य का प्रथम प्रकाशक है, इसे यजु० ३२.११ में 'उपस्थाय प्रथमजामृतस्य' यहां भी प्रदर्शित किया है। और, इसीप्रकार सन्यासी का यह कर्तव्य है कि वह अन्यों को भी ब्रह्मोपदेश अवश्य किया करे, अन्यथा उसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। इस कर्तव्य का प्रतिपादन ऋ० १०. ६२. ४ में 'अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे' और 'प्रतिगृभ्णीत मानवं सुमेधस.' इन स्थलों में भी बतलाया है ॥२॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः ॥

आवरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तरिति। अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत् परं, तद्ब्रह्म, तत् सत्यं, तत् सलिलं, तद् अव्यक्तं, तद् अस्पर्शं, तद् अरूपं, तद् अरसं, तद् अगन्धं, तद् अमृतं, तच्छुक्लं, तन्निष्ठो भूतात्मा। सैषा भूतप्रकृतिरित्येके। तत् क्षेत्रं, तज्ज्ञानात् क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मकम्।

अथैष महानात्मा त्रिविधो भवति, सत्त्वं रजस्तम इति। सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति, अभितो रजस्तमसी। रजः काम इति, द्वेषस्तम इति। अविज्ञानस्य विशुध्यतो विभूतिं कुर्वतः क्षेत्रज्ञपृथक्त्वाय कल्पते प्रतिभातिलिङ्गा महानात्मा तमोलिङ्गो विद्याप्रकाशलिङ्गः। तमोऽपि निश्चयलिङ्ग आकाशः ॥ ३ ॥

'अपश्यं गोपां' आदि मंत्र ऋ० १.१६४. ३१ में पाया जाता है। ईश्वर-प्रतिपादक इस चौथे मंत्र का अर्थ इसप्रकार है—

(गोपां) मैंने सर्वरक्षक (अनिपद्यमानं) इन्द्रियों से अप्राप्तव्य (पथिभिः आचरन्तं च पराचरन्तं च) और भिन्न २ मार्गों से आगे आने वाले तथा दूर जाने वाले परमेश्वर का (अपश्यम्) साक्षात्कार किया है। (सः सध्रीचीः) वह परमेश्वर अपने साथ विचरने वाली, (सः विषूचीः वसानः) और वह अपने से दूर विषममार्गों

में चलने वाली भूतजातियों को आच्छादन करता हुआ (भुवनेषु अन्तः आवरीवर्त्ति) सब लोकों के अन्दर निरन्तर विद्यमान हो रहा है।

परमेश्वर वैदिक मार्गों से मनुष्य के आगे आता है, और पापमार्गों से उस से बहुत दूर चला जाता है, अतः 'अाच परा च पथिभिश्चरन्तम्' कहा है।

यह परमेश्वर विशुद्ध सत्त्व है, इस में रजोगुण या तमोगुण का कभी संपर्क नहीं होता। वह पर है, वह ब्रह्म है, वह सत्य है, वह सलिलवत् नीरूप है, वह अव्यक्त है, वह छूआ नहीं जा सकता, वह नेत्रेन्द्रिय का विषय नहीं, वह रसना से चखा नहीं जाता, और नाही वह सूंघा जा सकता है। वह अमृतस्वरूप है, वह शुद्ध है, और लिङ्गशरीरधारी जीवात्मा उसी में आश्रय पाता है। यह सब भूतों का निमित्त-कारण होने से 'भूतप्रकृति' है, ऐसा कई कहते हैं। वह परमेश्वर सर्वनियामक होने से 'क्षेत्र' है, उसके ज्ञान से अपने क्षेत्रज्ञ रूप को प्राप्त करके जीवात्मा या (निरात्मकं) शरीररहित रूप हो जाता है, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।

और यह दूसरा शरीरधारी जीवात्मा, सत्त्व रज और तम, इन तीन भेदों से तीन प्रकार का है। विशुद्ध सत्त्वगुणी आत्मा तो अन्तर्ध्यान रहता है, परन्तु रजोगुणी और तमोगुणी इतस्ततः चंचल अवस्था में फिरता है। रजोगुणी एषणा-प्रधान होता है, और तमोगुणी दुःख-प्रधान होता है।

'अविज्ञातस्य विशुध्यतो' आदि पाठ का अर्थ विचिन्त्य होने के कारण छोड़ दिया जाता है॥ ३॥

सृष्टि, प्रलय का वर्णन

आकाशगुणः शब्दः, आकाशाद्वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन, वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणं रूपेण, ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेन, अद्भ्यः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन। पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजङ्गमाः। तदेतद् अहर्युगसहस्रं जागर्त्ति, तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति। भूतग्रामाः पृथिवीमपियन्ति, पृथिव्यपः, अपो ज्योतिषं, ज्योतिर्वायुं, वायुराकाशम्, आकाशो मनः, मनः विद्यां, विद्या महान्तमात्मानं, महानात्मा प्रतिभां, प्रतिभा प्रकृतिम्। सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रिः। तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते। स कालः। तदेतद् अहर्भवति—

"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥" इति ॥ ४ ॥

आकाश का गुण शब्द है। आकाश से वायु उत्पन्न होती है, और वह स्पर्श के साथ दो गुणों वाली है। अर्थात्, वायु के गुण शब्द और स्पर्श, ये दो हैं। वायु से अग्नि उत्पन्न होती है, और वह रूप के साथ तीन गुणों वाली है। अर्थात्, अग्नि के गुण शब्द स्पर्श और रूप, ये तीन हैं। अग्नि से जल उत्पन्न होता है, और वह रस के साथ चार गुणों वाला है। अर्थात् जल के गुण शब्द स्पर्श रूप और रस, ये चार होते हैं। जल से पृथिवी उत्पन्न होती है, और वह गन्ध के साथ पांच गुणों वाली है। और पुनः, पृथिवी से स्थावर और जंगम, ये सब भूत-ग्राम पैदा होते हैं। सो, यह जगत् सहस्रयुग-परिमित एक ब्राह्मदिन जागता है, और उस के अन्त में सोने लगा अपने सब अङ्गों को समेट लेता है। तब, सब भूत-ग्राम पृथिवी में लीन हो जाते हैं, पृथिवी जल में लीन हो जाती है, जल अग्नि में लीन होजाता है, अग्नि वायु में लीन होजाती है, वायु आकाश में लीन होजाती है, आकाश मन में, मन विद्या में, विद्या महान् में, महान् प्रतिभा में, और प्रतिभा प्रकृति में लीन हो जाती है। एवं, वह प्रकृति सहस्रयुग-परिमित एक ब्रह्मरात्रि सोती है। एवं, ये दोनों दिनरात निरन्तर चक्रवत् घूमते रहते हैं। वह अहोरात्र-काल है। वहां दिन का प्रमाण इतना है—जो मनुष्य ब्रह्मा के जिस प्रसिद्ध दिन को सहस्रयुग अवधि वाला जानते हैं, और उसीप्रकार ब्रह्मा की रात्रि को सहस्रयुग-परिमित समझते हैं, वे अहोरात्र-वेत्ता हैं।

आकाशादि पंचभूतों के गुणों का वर्णन मनु ने इसीप्रकार १ अ० १०, तथा ७५–७८ श्लोकों में किया है, और अहोरात्र का वर्णन १ अ० ७२–७४ में पाया जाता है। गीता में (८. १७) भी 'सहस्रयुगपर्यन्तम्' आदि श्लोक बिलकुल अक्षरशः इसी प्रकार पाया जाता है। यहां युग से अभिप्राय दैवयुग से है, जिसे महायुग भी कहा जाता है। यह महायुग एक चतुर्युगी जितना होता है, जिस चतुर्युगी का प्रमाण ४३२०००० वर्ष है।

'भूतग्रामाः पृथिवीमपियन्ति' इसके स्पष्टीकरण के लिये 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' आदि सांख्यसूत्र (१. ६१) का मनन करना चाहिए ॥ ४ ॥

तं परिवर्तमानमन्योऽनुप्रवर्त्तते स्रष्टा द्रष्टा विभक्ताऽतिमात्रः।
अहमिति गम्यते। स मिथ्यादर्शनेदम्भावकं महाभूतेषु चिरोत्वा-

काशाद्, वायोः प्राणं, चक्षुश्च वक्तारश्च तेजसः, अद्भ्यः स्नेहं, पृथिव्या मूर्त्तिम् ।

पार्थिवांस्त्वष्टौ गुणान् विद्यात् । त्रीन् मातृतः, त्रीन् पितृतः । [illegible]मज्जानः पितृतः, त्वङ्मांसशोणितानि मातृतः, अन्नं [illegible]नमित्यष्टौ । सोऽयं पुरुषः सर्वमयः सर्वज्ञानो ऽभिक्लृप्तः ॥ ५ ॥

उस अहोरात्र–काल के घूमने के साथ २ दूसरा जीव भी घूमता है, जो कि अपने कर्मों का स्रष्टा, रूपों का द्रष्टा, सुख दुःख में विभाग करने वाला, और निरवयव है, तथा जो अहम्भाव वाला है । वह मिथ्या–दर्शन से महाभूतों में फंसा हुआ अर्थात् शरीर को धारण किए हुआ, उस शरीर में आकाश से अवकाश, वायु से प्राण, अग्नि से आंख और वाणी, जल से स्नेह, और पृथिवी से कठिनता को पाता है ।

पार्थिव आठ गुणों को जाने, जो कि बच्चे के शरीर में आते हैं। उन में से तीन माता से और तीन पिता से आते हैं । उन में से अस्थि स्नायु और मज्जा, ये तीन पिता से आते हैं, और त्वचा मांस और रुधिर, ये तीन माता से आते हैं, दो अन्न तथा पान हैं, एवं ये आठ पार्थिव गुण हैं । सो, यह जीव मनुष्य पशु पक्षी आदि सारे शरीरों वाला, और दर्शन श्रवण आदि सब ज्ञानों वाला माना गया है ।

यहां 'मिथ्यादर्शनेदम्पाथकं' तथा 'चिरोणु' ये पाठ असंगत हैं, परन्तु प्रकरण से जो अभिप्राय निकलता है, वह दे दिया गया है । सुश्रुत ने शरीरस्थान में 'मज्जा' को माता से आने वाला गुण कहा है, परन्तु यहां यास्क इसे पित्र्यागत लिखते हैं ॥ ५ ॥

स यदनुरुध्यते तद्भ भवति । यदि धर्ममनुरुध्यते तद्भ देवो भवति, यदि ज्ञानमनुरुध्यते तदमृतो भवति, यदि काममनुरुध्यते संच्यवते ।

इमां योनिं सन्दध्यात् । तदिदमत्र मतम्—श्लेष्मा रेतसः सम्भवति, श्लेष्मणो रसः, रसाच्छोणितं, शोणितान्मांसं, मांसान्मेदः, मेदसः स्नावा, स्नाव्नोऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जातो रेतः । तदिदं योनौ रेतः सिक्तं पुरुषः सम्भवति । शुक्रातिरेके

पुमान् भवति, शोणितातिरेके स्त्री भवति, द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति, शुक्रेण भिन्नेन यमो भवति ।

शुक्रशोणितसंयोगान् मातृपितृसंयोगाच्च 'कथमिदं शरीरं परं संयम्यते ? सौम्यो भवति, एकरात्रोषितं कललं भवति, पञ्चरात्राद् बुद्बुदाः, सप्तरात्रात् पेशी, द्विसप्तरात्राद् अर्बुदः, पञ्चविंशतिरात्रः स्वस्थितो घनो भवति, मासमात्रात् कठिनो भवति, द्विमासाभ्यन्तरे शिरः सम्पद्यते, मासत्रयेण ग्रीवाव्यादेशः, मासचतुष्केण त्वग्व्यादेशः, पञ्चमे मासे नखरोमव्यादेशः, षष्ठे मुखनासिकाक्षिश्रोत्रं च संभवति, सप्तमे चलनसमर्थो भवति, अष्टमे बुध्याऽध्यवस्यति, नवमे सर्वाङ्गसम्पूर्णो भवति ।

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नानायोनिसहस्राणि मया यान्युषितानि वै ॥

आहारा विविधाः भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥

अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ।
सांख्यं योगं समभ्यस्ये पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥

ततश्च दशमे मासे प्रजायते । जातश्च वायुना स्पृष्टो न स्मरति जन्ममरणे , अन्ते च शुभाशुभं कर्म ॥ ६ ॥

वह मनुष्य जैसी कामना करता है, वैसा बन जाता है । यदि वह धर्म की कामना करता है तो देव बन जाता है, यदि ज्ञान की कामना करता हैं तो मुक्त हो जाता है, और यदि विषयवासना की कामना करता है तो मनुष्य-योनि से पतित हो जाता है,और फिर चिरकाल के पश्चात् इस मनुष्ययोनि को संयुक्त करता है ।

'अनो रुध कामे' यह धातु धातुपाठ में दिवादिगणी पठित है, जिस का अर्थ यह है कि 'अनु' पूर्वक 'रुध' धातु कामना अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

गर्भ-स्थिति

मनुष्ययोनि से संयुक्त होने के बारे में यह मत है—रेतस् से श्लेष्मा पैदा होता है, श्लेष्मा से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से स्नायुयें, स्नायुओं से हड्डियें, हड्डिओं से मज्जा, और मज्जा से वीर्य पैदा होता है। वह वीर्य स्त्री के गर्भाशय में सिक्त किया हुआ पुरुष बन जाता है। वीर्य की अधिकता में पुरुष होता है, रज की अधिकता में स्त्री होती है, रज और वीर्य, इन दोनों के समान होने पर नपुंसक होता है, और वीर्य के भेद से जोड़ा पैदा होता है।

वैद्यक-ग्रन्थों में अन्न के परिपाक का पहला रूप रस माना है, परन्तु यहां यास्काचार्य रस से भी पूर्व श्लेष्मा और रेतस्, इन दो रूपों को और मानते हैं। ये दोनों रूप 'रस' के ही स्थूल रूपान्तर जान पड़ते हैं, इसे वैद्य लोग विचारें।

गर्भ-वृद्धिक्रम

वीर्य रज के संयोग से और माता पिता के संयोग से किसप्रकार यह शरीर अन्तिम संगठन में लाया जाता है?

उत्तर—गर्भाधान के पश्चात् पहले यह सौम्य (रसीय) अवस्था में होता है, फिर एक रात्रि के पश्चात् कलल (वीर्य रज का मिश्रण) अवस्था में होता है, पांच रात्रिओं के बाद पेशी (मांसबोटी) के रूप में आजाता है, चौदह रात्रियों के बाद (अर्बुद) लोथड़ा सा बन जाता है, पच्चीस रात्रियों में अपनी द्रव सी अवस्था में रहता हुआ घन हो जाता है, एक मास में कठिन हो जाता है, दो मासों में सिर बन जाता है, तीन मासों में गर्दन की बनावट जान पड़ती है, चार मासों में त्वचा की बनावट, और पांचवे मास में नख तथा रोमों की बनावट दीख पड़ती है, छठे मास में मुख नासिका चक्षु और श्रोत्र, ये सब बन जाते हैं, सातवें मास में हिलने जुलने के योग्य होता है, आठवें महीने बुद्धि से काम लेता है, और नवम मास में सर्वाङ्ग-संपूर्ण होजाता है। उस समय उस जीव की क्या अवस्था होती है, और वह अत्यन्त दुःख में पड़ा हुआ क्या २ सोचता है, उसे 'मृत-श्चाहं' आदि तीन श्लोकों में बतलाया गया है, जो कि इसप्रकार है—

मैं मरा और फिर पैदा हुआ, मैं पैदा हुआ और फिर मरा, एवं मैंने जिन नानाप्रकार की सहस्रों योनिओं में निवास किया, वहां मैंने अनेक प्रकार के भोजन खाये, नानाविध स्तन पीये, अनेक मातायें देखीं, और अनेक पिता तथा

मित्र देखे, और अब मातृगर्भ में संयुक्त हुआ तथा नीचे मुख करके पड़ा हुआ मैं जीव पीड़ित हो रहा हूं। हे प्रभु! मुझे इस पिञ्जरे से शीघ्र बाहर निकाल कि मैं सांख्य तथा योग का अभ्यास करूं, अथवा पच्चीसवें पुरुष-तत्त्व का अभ्यास करूं।

गर्भोपनिषद् में गर्भस्थ जीव का यह विलाप अत्यन्त रोमाञ्चकारी शब्दों में दिया हुआ है, पाठकों के विचारार्थ उसे यहां उल्लिखित कर देता हूं, जो कि इसप्रकार है—

आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः॥ १॥

यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्योऽहं गतास्ते फलभोगिनः॥ २॥

अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्॥ ३॥

अशुभ-क्षयकर्तारं फलमुक्ति-प्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नरायणम्॥ ४॥

अशुभ-क्षयकर्तारं फलमुक्ति-प्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे॥ ५॥

अशुभ-क्षयकर्तारं फलमुक्ति-प्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं ध्याये ब्रह्म सनातनम्॥ ६॥

फिर, वह जीव दशम मास में पैदा होता है, और पैदा होते ही जब वायु से संस्पृष्ट हुआ कि वह उस जन्म मरण को स्मरण नहीं करता, और यहां तक कि अन्त में गत शुभाशुभ कर्म को भी नहीं याद करता।

गर्भोपनिषद् में इस विस्मृति का वर्णन इसप्रकार किया है— "अथ योनिद्वारं सम्प्राप्तो यंत्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि, न च शुभाशुभं कर्म विन्दति" ॥ ६॥

एतच्छरीरस्य प्रामाण्यम्—अष्टोत्तरं सन्धिशतम्, अष्टाकपालं शिरः सम्पद्यते, षोडश वपापलानि, नव स्नायुशतानि, सप्तशतं पुरुषस्य मर्मणाम्, अर्द्धचतस्रो रोमाणि कोट्यः, हृदयं ह्यष्टौ पलानि, द्वादश पलानि जिह्वा, वृषणौ ह्यष्टसुवर्णौ, तथोपस्थगुदपाय्वेतन्मूत्रपुरीषम्। कस्मात्? आहारपानसिक्तत्वानुपचितकर्माणावन्योऽन्यं जयेते इति।

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च। महत्यज्ञानतमसि मग्नो जरामरणक्षुत्पिपासाशोकक्रोधलोभमोहमदभयमत्सरहर्षविषादेर्ष्यासूयात्मकैर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः सोऽस्मादार्जवं जवीभावानां तन्निर्मुच्यते। सोऽस्मापान्नं महाभूमिकावच्छरीरान्निमेषमात्रैः प्रक्रम्य प्रकृतिरधिपरीत्य तैजसं शरीरं कृत्वा कर्मणोऽनुरूपं फलमनुभूय, तस्य संक्षये पुनरिमं लोकं प्रतिपद्यते ॥ ७ ॥

यह शरीर का प्रमाण है—मनुष्य-शरीर में १०८ संन्धियें हैं, आठ कापालों वाला शिर बनता है, १६ पल (१६ माषे = १ कर्ष। ४ कर्ष = १पल। अतः, १७ छटांक ४ माशे) चर्बी होती है, ९०० स्नायु होती हैं, १०७ पुरुष के मर्मस्थल हैं, साढ़े चार करोड़ रोम हैं, ८ पल (८ छ० २ तो० ८ मा०) हृदय होता है, १२ पल (१२ छ० ४ तो०) जिह्वा होती है, और दोनों अण्डकोष आठ सुवर्ण (१ सुवर्ण = १६ माशे, अतः २ छ० ८ माशे) हैं, तथा उपस्थेन्द्रिय और पायु, ये दोनों क्रमशः मूत्र और पुरीष के द्वार हैं।

गर्भोपनिषद् में शरीर का प्रमाण और अधिक स्पष्ट दिया है, पाठक उसे भी देखें।

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च—यह पाठ बृहदारण्यकोपनिषद् (६. २. १) में भी आया है। यास्कीय यह प्रसंग तीन स्थलों में कुछ अशुद्ध मुद्रित है, अतः इस का अर्थ नहीं किया जा सका ॥ ७ ॥

अथ ये हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे, चिरेण वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति, ते धूममभिसम्भवन्ति, धूमाद्

रात्रिं, रात्रेरपक्षीयमाणपक्षम्, अपक्षीयमाणपक्षाद् दक्षिणायनं, दक्षिणायनात् पितृलोकं, पितृलोकाच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो वायुं, वायोर्वृष्टिं, वृष्टेरोषधयश्चैतद् भूत्वा पुनरेवेमं लोकं प्रतिपद्यन्ते ॥८॥

जो लोग कर्म का आश्रय ले ज्ञान को छोड़कर महान् तप करते हैं, और चिरकाल से वेदोक्त कर्म करते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् धूम को पाते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन को, दक्षिणायन से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से वायु को, वायु से वृष्टि को, और वृष्टि से ओषधियों को प्राप्त होते हैं। एवं, इन क्रमों में से होकर ओषधि-भक्षण से वीर्य के द्वारा मातृगर्भ में आकर पुनः इस लोक में आते हैं ॥८॥

अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे, ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति, तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षम्, आपूर्यमाणपक्षादुदगयनम्, उदगयनाद् देवलोकं, देवलोकादादित्यम्, आदित्याद् वैद्युतम्, वैद्युतान्मानसं, मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति । ते न पुनरावर्त्तन्ते । शिष्टा दन्दशूकाः, य इदं न जानन्ति । तस्मादिदं वेदितव्यम् ॥ ९ ॥

और, जो लोग कर्म को छोड़ कर तथा ज्ञान का आश्रय लेकर महान् तप करते हैं, और ज्ञानकाण्ड-संबन्धी कर्म करते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् ज्वाला को पाते हैं, ज्वाला से दिन, दिन से शुक्लपक्ष, शुक्लपक्ष से उत्तरायण, उत्तरायण से देवलोक, देवलोक (द्युलोक) से आदित्य, आदित्य से वैद्युत लोक, वैद्युत लोक से मानस लोक, और फिर वे मानस पुरुष होकर ब्रह्मलोक (मुक्तिधाम) में पहुंच जाते हैं । वे मुक्तात्मा फिर प्राणिशरीर में नहीं लौटते। शेष जीव जो इस परमेश्वर को नहीं जानते, वे उपर्युक्त दोनों मार्गों (पितृयाण, देवयान) से भ्रष्ट होकर सांप विच्छु आदि बनते है, अतः इस को अवश्य जानना चाहिए।

इस प्रकरण में 'हिंसा' शब्द कर्म का वाचक है, जैसे कि अष्टम खण्ड के 'वेदोक्तानि वा कर्माणि, से विदित हो रहा है । 'हन' हिंसागत्योः धातु है, अतः यहां 'हन्' धातु गत्यर्थक है ।

पितृयाण और देवयान, इन दोनों मार्गों का वर्णन छा० ५ प्र० ख०, बृहदा० ८. २. १६, तथा गीता ८. २४-२५ में भी इसीप्रकार आया है। उपर्युक्त अर्थों का क्या तात्पर्य है, इसे विद्वान् लोग विचारें ॥ ९ ॥

अथाप्याह—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥१०.८२.७

न तं विद्यथा विदुषः, यमेवं विद्वांसो वदन्त्यक्षरं ब्रह्मणस्पतिम्, अन्यद् युष्माकमन्तरम् अन्यदेषामन्तरं बभूवेति। नीहारेण प्रावृतास्तमसा, जल्प्या, चासुतृपः, उक्थशासः प्राणं सूर्यं, यत्पथगामिनश्चरन्त्यविद्वांसः।

क्षेत्रज्ञमनुप्रवदन्त्यथाहो विद्वांसः—क्षेत्रज्ञोऽनुकल्पते, तस्य तपसा सहाप्रमादमेत्यथाप्तव्यो भवति। तेनासन्ततमिच्छेत्, तेन सख्यमिच्छेत्। एष हि सखा श्रेष्ठः, सञ्जानाति भूतं भवद् भविष्यदिति। (ज्ञाता कस्मात्? ज्ञायतेः। सखा कस्मात्? सख्यतेः।) स ह भूतेन्द्रियैः शेरते, महाभूतानि चेन्द्रियाणि प्रज्ञया कर्म कारयतीति। तस्य यत् तपः प्रतिष्ठा शीलम् उपशम आत्मा ब्रह्मेति, स ब्रह्मभूतो भवति, साक्षिमात्रो व्यवतिष्ठते ऽबन्धो ज्ञानकृतः॥१०॥

किञ्च इस ईश्वर-ज्ञान के बारे में 'न तं विदाथ' आदि वेदमंत्र ने कहा भी है, जो कि इसप्रकार है—

(तं न विदाथ) हे अज्ञानी लोगो! तुम उस विश्वकर्मा प्रभु को विज्ञानपूर्वक नहीं जानते हो, (यः इमा जजान) जिसने कि इन सब लोक लोकान्तरों, और वेद-विज्ञानों को पैदा किया है, और अतएव जिसे इसप्रकार जानने वाले विद्वान् अक्षर तथा ब्रह्मणस्पति कहते हैं, (युष्माकं अन्तरं अन्यत् बभूव) और जो तुम्हारे अन्दर तुम से भिन्न है। (नीहारेण प्रावृताः) ये अज्ञानी लोग अविद्यान्धकार से आच्छादित, (जल्पा) व्यर्थ में वादानुवाद करने में कुशल, (असुतृपः

च) और जिस किसीतरह प्राण-पोषण में तत्पर, (उक्थशासः चरन्ति) तथा वचनमात्र से प्राणस्वरूप सूर्य परमेश्वर की स्तुति करने वाले यथेच्छा पथगामी होकर विचरते हैं।

विद्वान् लोग त्रिलोकी के ज्ञाता प्रभु के बारे में इसप्रकार कहते हैं कि यह परमेश्वर वितृष्ण जीव की प्रतीक्षा करता है। विद्वान् मनुष्य ईश्वरोपदिष्ट तप से अप्रमाद को (जागृति को) पाता है, और तब वह प्रभु प्राप्य हो जाता है। मनुष्य उस प्रभु से अविच्छेद की इच्छा करे, और उस से मैत्री चाहे। निश्चय से यह श्रेष्ठ मित्र है, और भूत वर्तमान तथा भविष्यत्, सब को जानता है। तब यह जीव इन्द्रियों के साथ स्थित होता है, और उन भौतिक इन्द्रियों से कर्तव्याकर्तव्य-विचार-पूर्वक कर्म करवाता है। एवं, उस का जो तप, स्थिरता, शील, और उपशम है, तथा यह परब्रह्म मेरा प्राण है, ऐसी जो धारणा है, उनसे वह जीव ब्रह्मस्वरूप बन जाता है, अर्थात् वह भी ब्रह्म की तरह साक्षिमात्र द्रष्टा, बन्धनरहित, और ज्ञानी बनकर अवस्थित होता है।

इस प्रसङ्ग से वेदान्तियों के इस विचार का भी भलीप्रकार खण्डन हो जाता है कि 'ब्रह्मभूतो ब्रह्माप्येति' आदि उपनिषद्वचनों से अद्वैतवाद का प्रतिपादन है। अपितु ऐसे स्थलों में 'ब्रह्मभूत.' का क्या अर्थ है, यह उपर्युक्त यास्कवचन से स्पष्ट हो रहा है॥ १०॥

महान् आत्मा के नाम

अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्युत्क्रमिष्यामः—

हंसः, घर्मः, यज्ञः, वेनः, मेधः, कृमिः, भूमिः, विभुः, प्रभुः, शम्भुः, राभुः, बभ्रुकर्मा, सोमः, भूतम्, भुवनम्, भविष्यत्, महत्, आपः, व्योम, यशः, महः, स्वर्णीकम्, स्मृतीकम्, स्वृतीकम्, सतीकम्, सतीनम्, गहनम्, गभीरम्, गह्वरम्, कम्, अन्नम्, हविः, सद्म, सदनम्, ऋतम्, योनिः, ऋतस्ययोनिः, सत्यम्, नीरम्, रयिः, सत्, पूर्णम्, सर्वम्, अक्षितम्, बर्हिः, नाम, सर्पिः, आपः, पवित्रम्, अमृतम्, इन्दुः, हेम, स्वः, सर्गाः, शम्बरम्, अम्बरम्, वियत्, व्योम, बर्हिः, धन्व, अन्तरिक्षम्, आकाशम्,

अपः, पृथिवी, भूः, स्वयम्भूः, अध्वा, पुष्करम्, सगरम्, समुद्रः, तपः, तेजः, सिन्धुः, अर्णवः, नाभिः, ऊधः, वृक्तः, तत्, यत्, किम्, ब्रह्म, वरेण्यम्, हंसः, आत्मा, भवन्ति, वर्धन्ति, अध्वानम्, यद्दुवाहिषद्या, शरीराणि, अव्ययश्च संस्कुरुते, यज्ञः, आत्मा, भवति, यदेनं तन्वते ॥ ११ ॥

अब, पहले महान् आत्मा परमात्मा के भूतवाची नामों का उल्लेख करते हैं, यह कहते हुए आचार्य ने ९४ नामों का उल्लेख किया है। उन में से 'भूतम्' से 'अम्बरम्' तक (निघण्टु ४ पृ०) ४२ नाम जलवाची हैं, 'अम्बरम्' से 'समुद्रः' तक (निघण्टु २ पृ०) १५ नाम अन्तरिक्षवाची हैं, और 'घर्म' से 'मेध' तक (निघण्टु १६ पृ०) ४ नाम यज्ञवाची है। एवं, ये सब नाम जोकि भूतों के लिये प्रयुक्त हुए हैं, वे परमात्मा के भी वाचक हैं, ऐसा इस प्रसंग से बोध होता है। आगे विज्ञवर स्वयं विचार कर सकते हैं ॥ ११ ॥

अथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तान्येता ऋचो ऽनुप्रवदन्ति—

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥९.९६.५

सोमः पवते जनयिता मतीनां, जनयिता दिवः, जनयिता पृथिव्याः, जनयिताऽग्नेः, जनयिता सूर्यस्य, जनयितेन्द्रस्य, जनयितोत विष्णोः।

सोमः पवते, सोमः सूर्यः प्रसवनात्, जनयिता मतीनां प्रकाशनकर्मणामादित्यरश्मीनां, दिवो द्योतनकर्मणामादित्यरश्मीनां, अग्नेर्गतिकर्मणामादित्यरश्मीनां, सूर्यस्य स्वीरणकर्मणामादित्यरश्मीनाम्, इन्द्रस्यैश्वर्यकर्मणामादित्यरश्मीनां, विष्णोर्व्याप्तिकर्मणामादित्यरश्मीनाम्—इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्—सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः। अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूततम आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे॥१२॥

इस महान् आत्मा का, ये सूक्त (ऋ० ९. ९६,९७ आदि) और ये ऋचायें, अनुप्रवचन कर रही हैं, यह कहते हुए आचार्य ने २५ मंत्र उदाहरण के तौर पर उद्धृत किए हैं। उन में से पहला मंत्र 'सोमः पवते' आदि है, जिसके भिन्न २ दृष्टि से तीन अर्थ किए गये हैं, जोकि इसप्रकार हैं—

(१) सर्वोत्पादक प्रभु संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अङ्ग प्रत्यङ्ग में से प्राप्त हो रहा है, जोकि सब मतियों का उत्पादक है, द्युलोक का उत्पादक है, पृथिवीलोक का उत्पादक है, अग्नि का उत्पादक है, सूर्य का उत्पादक है, वायु का उत्पादक है, और यज्ञ का उत्पादक है।

(२) सर्वप्रेरक आदित्यस्वरूप परमेश्वर संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अङ्ग प्रत्यङ्ग में चमक रहा है, जो कि अपनी ज्ञान-प्रकाशक किरणों का उत्पादक है, अपनी कर्तव्याकर्तव्य-द्योतक रश्मिओं का उत्पादक है, अपनी ब्रह्माण्ड-विस्तारक रश्मिओं का उत्पादक है, अपनी संचालक रश्मिओं का उत्पादक है, अपनी प्रेरक रश्मिओं का उत्पादक है, अपनी ऐश्वर्योत्पादक रश्मिओं का उत्पादक है, और जोकि अपनी सर्वत्र व्याप्त होने वाली रश्मिओं का उत्पादक है। यह मंत्र का अधिदैवत अर्थ है।

(३) अध्यात्म अर्थ इसप्रकार है—सब का आत्मस्वरूप परमेश्वर संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अङ्ग प्रत्यङ्ग में गति कर रहा है, जो कि ज्ञानप्रकाशक, पदार्थ-द्योतक, ज्ञान-विस्तारक, गतिशील, प्रेरक, ज्ञानैश्वर्योत्पादक, और अनेक विषयों में व्याप्त होने वाली इन्द्रियों का उत्पादक है।

एक पक्ष में परमेश्वर को सूर्यस्वरूप और दूसरे में आत्मस्वरूप मान कर मंत्र के अधिदैवत, और अध्यात्म अर्थ किये गये हैं। सोम = आदित्य, आत्मा, ये दोनों प्रेरक हैं। यहां 'दिवः' 'पृथिव्याः' आदि सब एकवचनान्त पद बहुवचन का अर्थ देते हैं, और ये किरणों तथा इन्द्रियों के वाचक हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्मा देवानाम्पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥९.९६.६

ब्रह्मा देवानामित्येष हि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणा-मादित्यरश्मीनां, पदवीः कवीनामित्येष हि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानामादित्यरश्मीनाम्, ऋषिर्विप्राणामित्येष हि ऋषणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनां, महिषो मृगाणा-

मित्येष हि महान् भवति मृगाणां मार्गनकर्मणामादित्यरश्मीनां, श्येनो गृध्राणामिति श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः, गृध्र आदित्यो भवति गृध्यतेः स्थानकर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठति, स्वधितिर्वनानामित्येष हि स्वयङ्कर्माण्यादित्यो धत्ते वनानां वननकर्मणामादित्यरश्मीनां, सोमः पवित्रमत्येति रेभन्नित्येष हि पवित्रं रश्मीनामत्येति स्तूयमानः। एष एवैतत् सर्वमक्षर-मित्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्—ब्रह्मा देवानामित्ययमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामिन्द्रियाणाम्, पदवीः कवीनामित्ययमपि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्, ऋषिर्विप्राणामित्ययम-प्यृषणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम्, महिषो मृगाणामित्ययमपि महान् भवति मृगाणां मार्गणकर्मणामिन्द्रिया-णाम्, श्येना गृध्राणामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः, गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठति, स्वधि-तिर्वनानामित्ययमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते वनानां वनन-कर्मणामिन्द्रियाणाम्, सोमः पवित्रमत्येति रेभन्नित्ययमपि पवित्र-मिन्द्रियाण्यत्येति स्तूयमानः। अयमेवैतत् सर्वमनुभवतीत्यात्म-गतिमाचष्टे ॥ १३ ॥

देवता—सोम । (देवानां ब्रह्मा) यह आदित्यस्वरूप परमेश्वर अपनी प्रकाशक किरणों का धर्ता है, (कवीनां पदवीः) अपनी उपदेश देने वाली किरणों के स्थान का ज्ञाता है, अर्थात् समय २ पर प्रभु का उपदेश उसी मनुष्य को प्राप्त होता है, जो कि उसका योग्य पात्र है। (विप्राणां ऋषिः) यह आदित्य-प्रभु फैलने वाली अपनी रश्मिओं का गतिस्थान है, (मृगाणां महिषः) देव तथा असुर जनों को ढूंढने वाली अपनी रश्मिओं का महान् स्थान है, (गृध्राणां श्येनः) अपने स्थान को न छोड़ने वाले सूर्यों का सूर्य है, (वनानां स्वधितिः) और

विभाग करने वाली अपनी रश्मियों के कर्मों को स्वयं धारण करता है। (सोमः रेभन् पवित्रं अत्येति) एवं, यह आदित्य-प्रभु स्तूयमान होता हुआ अपनी रश्मियों की पवित्रता को पहुंचाता है।

यह मंत्र का अधिदैवत अर्थ है। इसीप्रकार अध्यात्म अर्थ भी समझ लेना चाहिए। इस पक्ष में देव कवि आदि शब्द इन्द्रियवाची हैं और 'श्येन' का अर्थ (आत्मा) परमात्मा है। देव आदि शब्दों के निर्वचन यास्क-पाठ से ही स्पष्ट हैं, अतः उनका विस्तार नहीं किया गया।

इससे अगले खण्डों में निरुक्त का पूरा २ शुद्ध पाठ नहीं मिलता, अतः आगे केवल मूल निरुक्त ही दिया गया है, उसकी व्याख्या नहीं की गयी ॥ १३ ॥

तिस्रो वाच ईरयति प्रवह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्। गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥ ९.९७. ३४

वह्निरादित्यो भवति, स तिस्रो वाचः प्रेरयत्यृचो यजूंषि सामान्यृतस्यादित्यस्य कर्माणि ब्रह्मणो मतान्येष एवैतत्सर्वमक्षर-मित्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्—वह्निरात्मा भवति स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमतान्यृतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतान्य-यमेवैतत्सर्वमनुभवतीत्यात्मगतिमचष्टे ॥ १४ ॥

सोमं गावो धेनवो वावशानाः सोमं विप्रा मतिभिः पृच्छमानाः। सोमः सुतः पूयते अज्यमानः सोमे अर्कास्त्रिष्टुभः संनवन्ते ॥ ९.९७.३५

एतमेव सोमं गावो धेनवो रश्मयो वावश्यमानाः कामय-माना आदित्यं यन्ति, एतमेव सोमं विप्रा रश्मयो मतिभिः पृच्छमानाः कामयमाना आदित्यं यन्ति, एतमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः, एतमेवार्काश्च त्रिष्टुभश्च संनवन्ते त एतस्मि-न्नादित्य एकं भवन्तीत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्—एतमेव सोमं गावो धेनव इन्द्रियाणि वावश्यमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति, एतमेव सोमं विप्रा इन्द्रियाणि मतिभिः पृच्छमानानि कामयमानान्यात्मानं यन्ति, एतमेव सोमः सुतः पूयते अज्यमानः, इममेवात्मा च सप्तऋषयश्च संनवन्ते तानीमान्येतस्मिन्नात्मन्येकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १५ ॥

अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयन्प्रजा भुवनस्य राजा । वृषा पवित्रे अधिसानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः ॥९.९७.४०

अत्यक्रमीत् समुद्र आदित्यः परमे व्यवने वर्षकर्मणा जनयन् प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा वृषा पवित्रे अधिसानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे सुवान इन्दुरित्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—अत्यक्रमीत् समुद्र आत्मा परमे व्यवने ज्ञानकर्मणा जनयन् प्रजा भुवनस्य राजा सर्वस्य राजा। वृषा पवित्रे अधिसानो अव्ये बृहत् सोमो वावृधे सुवान इन्दुरित्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १६ ॥

महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् । अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥ ९.९७.४१

महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्ग गर्भोऽवृणीत देवानामाधिपत्यम्, अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दु आदित्य इन्दुरात्मा ॥ १७ ॥

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ १०.५५.५

विधुं विधमनशीलं, दद्राणं दमनशीलं युवानं चन्द्रमसं पलित आदित्यो गिरति सद्यो म्रियते स दिवा समुदितेत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—विधुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानं महान्तं पलित आत्मा गिरति रात्रौ, म्रियते रात्रिः समुदितेत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १८ ॥

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १.१६४.१५

सहजातानां षण्णामृषीणामादित्यः सप्तमः । तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा ऽद्भिः सह सम्मोदन्ते यत्रैतानि सप्तऋषिणानि ज्योतींषि तेभ्यः पर आदित्यस्तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—सहजातानां षण्णामिन्द्रियाणामात्मा सप्तमः, तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा ऽन्नेन सह सम्मोदन्ते यत्रेमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १९ ॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः । कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पितासत् ॥ १.१६४.१६

(१) यह पाठ १० अ० १६ ख० में आया है । वही पाठ यहां लेखक-प्रमाद से लिखा जान पड़ता है, जोकि इस स्थल पर अप्रासङ्गिक सा जान पड़ता है ।
(२) यह मंत्र ३०६ पृ० पर व्याख्यात है ।

स्त्रिय एवैताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यः, ता अमुं पुं-शब्देन निराहारः प्राण इति पश्यन् । कष्टान्न विजानात्यन्धः । कविर्यः पुत्रः स इमा जानाति । यः स इमा जानाति स पितुष्पिताऽसदित्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २० ॥

सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि । ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः ॥ १.१६४.३६

सप्तैतानादित्यरश्मीन् अयमादित्यो गिरति मध्यस्थानोर्ध्वशब्दो यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति, तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्य्ययन्ति परिभुवः परिभवन्ति, सर्वाणि कर्माणि वर्षकर्मणेत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—सप्तेमानीन्द्रियाण्ययमात्मा गिरति मध्यस्थानोर्ध्वशब्दो यान्यस्मिंस्तिष्ठन्ति तानि धीतिभिश्च मनसा च विपर्य्ययन्ति, परिभुवः परिभवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि ज्ञानकर्मणेत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २१ ॥

न[1] विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि । यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ १.१६४.३७

नहि विजानन् बुद्धिमतः पुष्टिः पुत्रः परिवेदयतेऽयमादित्योऽयमात्मा ॥ २२ ॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः । ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यञ्चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥ १.१६४.३८

(१) यह मंत्र ४६९ पृ० पर व्याख्यात है ।

अथाश्नयति प्राश्नयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आदित्यो मर्त्येन चन्द्रमसा सह । तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा । पश्यत्यादित्यं न चन्द्रमसमित्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—अथाश्नयति प्राश्नयति स्वधया गृभीतोऽमर्त्य आत्मा मर्त्येन मनसा सह । तौ शश्वद्गामिनौ विश्वगामिनौ बहुगामिनौ वा । पश्यत्यात्मानं न मन इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २३ ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः । सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ १०.१२०.१

तद् भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमादित्यं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः । सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति निरिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा । अनुमदन्ति यं विश्व ऊमा इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—तद् भवति भूतेषु भुवनेषु ज्येष्ठमव्यक्तं यतो जायत उग्रस्त्वेषनृम्णो ज्ञाननृम्णः । सद्यो जज्ञानो निरिणाति शत्रूनिति निरिणातिः प्रीतिकर्मा दीप्तिकर्मा वा । अनुमदन्ति यं सर्व ऊमा इत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २४ ॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् । आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् ॥१.८४.१६

क आदित्यो धुरि गा युङ्क्ते रश्मीन् कर्मवतो भानुमतो दुराधर्षानसून्यसुनवन्तीषूनि सुखवन्ति मयोभूनि सुखभूनि य इमं सम्भृतं वेद कथं स जीवत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—क आत्मा धुरि गा युङ्क्त इन्द्रियाणि कर्मवन्ति भानुमन्ति दुराधर्षानसून्य सुनवन्तीषूनि षुणवन्ति मयोभूनि सुखभूनि य इमानि सम्भृतानि वेद चिरं स जीवती-त्यात्मगतिमाचष्टे ॥ २५ ॥

क ईषते तुज्यते को बिभाय को मंसते सन्तमिन्द्रं को अन्ति ।
कस्तोकाय क इभायोत रायेऽधिब्रवत्तन्वे को जनाय ॥ १.८४.१७

क एव गच्छति, को ददाति, को बिभेति, को मंसते सन्त-मिन्द्रं, कस्तोकायापत्याय महते च नो रणाय रमणीयाय दर्शनीयाय ॥ २६ ॥

को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिः । कस्मै देवा आवहानाशु होम को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः ॥ १०.८४.१८

क आदित्यं पूजयति, हविषा च घृतेन च स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिति । कस्मै देवा आवहानाशु होमार्थान् । को मंसते वीतिहोत्रः सुदेवः कल्याणदेव इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—क आत्मानं पूजयति, हविषा च घृतेन च स्रुचा यजाता ऋतुभिर्ध्रुवेभिरिति । कस्मै देवा आवहानाशु होमार्थान् । को मंसते वीतिहोत्रः सुमङ्गः कल्याणमङ्ग इत्या-त्मगतिमाचष्टे ॥ २७ ॥

त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् । न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥ १.८४.१९

त्वमङ्ग प्रशंसीर्देवः शविष्ठ ! मर्त्यम्, न त्वदन्योऽस्ति मघवन् ! पाता वा पालयिता वा जेता वा सुखयिता वा, इन्द्र । ब्रवीमि ते वचः स्तुतिसंयुक्तम् ॥ २८ ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् ॥ ४.४०.५

हंस इति हंसाः सूर्यरश्मयः परमात्मा परं ज्योतिः पृथिवी व्याप्तेति व्याप्तं सर्वं व्याप्तं वननकर्मणाऽनभ्यासेनादित्यमण्डलेनेति त्ययतीति लोको त्ययतीति हंसयन्त्ययतीति हंसाः परमहंसाः परमात्मा सूर्यरश्मिभिः प्रभूतगभीरवसतीति त्रिभिर्वसतीति वा रश्मिर्वसतीति वा वह्निर्वसतीति वा सुवर्णरेताः पूषा गर्भा रिभेति रिभन्ता वनकुटिलानि कुटन्ता रिभन्तान्तरिक्षा चरत्पथान्तरिक्षा चरदिति दिवि भुवि गमनं वा सुभानुः सुप्रभूतो होतादित्यस्य गता भवन्त्यतिथिर्दुरोणसत् सर्वे दुरोणसद्द्रवं सर्वे रसा विकर्षयति रश्मिर्विकर्षयति वह्निर्विकर्षयति वननं भवत्यश्वगोजा अद्रिगोजा धरिनिगोजाः सर्वे गोजा ऋतजा बहुशब्दा भवन्ति निगमो निगमव्यति भवत्यृषे निर्वचनाय ॥ २९ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १.१६४.२०

---

(१) इस मंत्र की व्याख्या विशेषतः बहुत गड़बड़ है । यह मंत्र ऐतरेय ब्राह्मण में भी (४. ३. ५) व्याख्यात है ।

(२) इस मंत्र के सायणभाष्य में 'अत्र द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ' इत्यादि निरुक्ते गतमस्य मंत्रस्य व्याख्यानमनुसन्धेयम्— यह लिखा है । इसके सिवाय चौदहवें अध्याय की किसी भी मंत्र-व्याख्या का उद्धरण सायणभाष्य में नहीं पाया जाता ।

द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ दुष्कृतं पापं परिसारक-मित्याचक्षते । सुपर्णा सयुजा सखायेत्यात्मानं परमात्मानं प्रत्यु-त्तिष्ठति शरीर एव तज्जायते । वृक्षं शरीरं, वृक्षे पक्षौ प्रतिष्ठापय-ति । तयोरन्यद्भुक्त्वाऽन्नम् अनश्नन्नन्यां सरूपतां सलोकता-मश्नुते य एवं विद्वान् अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीत्यात्मगति-माचष्टे ॥ ३० ॥

आयाहीन्द्र पथिभिरीळितेभिर्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व ।
तृप्तां जुहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव ॥

आगमिष्यन्ति शक्रो देवताः, तास्त्रिभिस्तीर्थैभिः शक्रप्रतरै-रीळितेभिस्त्रिभिस्तीर्थैर्यज्ञमिमं नो यज्ञभागधेयमग्नीषोमभागादिन्द्रो जुषस्व तृप्तामेवं मातुलयोगकन्या भागं सर्तृकेव सा या देवतास्ता-स्तत्स्थाने शाक्रं निदर्शनम् ॥ ३१ ॥

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्त्तास ऊतये ।
अग्निं गीर्भिर्हवामहे ॥ ८.११.६

विप्रं विप्रासोऽवसे विदुर्वेद विन्दतेर्वेदितव्यं विमलशरीरेण वायुना विप्रस्तु हृत्पद्मनिलयस्थितमकारसंहितमुकारं पूरयेत् मकारनिलयं गतं विप्रं प्राणेषु विन्दुसिक्तं विकसितं वह्निस्तेजः-प्रभं कनकपद्ममेष्वमृतशरीरम् अमृतजातस्थितम् अमृतवाचाऽमृत-मुखे वदन्ति 'अग्निं गीर्भिर्हवामहे' अग्निं सम्बोधयेद् 'अग्निः सर्वा देवताः (ऐ० ब्रा० १.१.१) इति ॥ ३२ ॥

तस्योतरा भूयसे निर्वचनाय—

---

(१) यह ३१ वां खण्ड कई पुस्तकों में नहीं है ।

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥ १.६६.१

जातवेदस इति जातमिदं सर्वं सचराचरं स्थित्युत्पत्तिप्रलयन्यायेनाच्छाय सुनवाम सोममिति प्रसवेनाभिषवाय सोमं राजानममृतमरातीयतो यज्ञार्थमिति स्मो निश्चये निदहाति दहति भस्मीकरोति सोमो ददित्यर्थः । स नः पर्षदति दुर्गाणि दुर्गमनानि स्थानानि नावेव सिन्धुं, यथा कश्चित्कर्णधारो नावेव सिन्धोः स्यन्दनान्नदीं जलदुर्गां महाकूलां तारयति दुरितात्यग्निरिति तानि तारयति ॥ ३३ ॥

तस्यैषाऽपरा भवति—

इदं ते ऽन्याभिरसमानमद्भिर्याः काश्च सिन्धुं प्रवहन्ति नद्यः।
सर्पो जीर्णामिव त्वचं जहाति पापं सशिरस्कोऽभ्युपेत्य ॥

इदं ते ऽन्याभिरसमानाभिर्याः काश्च सिन्धुं पतिं कृत्वा नद्यो वहन्ति सर्पो जीर्णामिव सर्पस्त्वचं त्यजति पापं त्यजन्ति । आप आप्नोतेः ॥ ३४ ॥

तासामेषा भवति—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव
बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥ ७. ५६.१२

त्र्यम्बको रुद्रस्तं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं सुष्टुगन्धिं पुष्टिवर्धनं पुष्टिकारकम् उर्वारुकमिव फलं बन्धनादारोधनान्मृत्योः सकाशात् मुञ्चस्व माम् ॥ ३५ ॥

(१) यह चौतीसवां खण्ड कई पुस्तकों में नहीं है।

कस्मादित्येषामितरेषाऽपरा भवति —

शतं जीव शरदो वर्द्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् । शत-
मिन्द्राग्नी सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषेमं पुनर्दुः ॥१०.१६१.४

'शतं जीव शरदो वर्द्धमानः' (अथर्व० ३. ११.४) इत्यपि निगमो भवति । शतमिति शतं दीर्घमायुर्मरुत एना वर्द्धयन्ति, शतमेनमेव शतात्मानं भवति, शतमनन्तं भवति, शतमैश्वर्यं भवति, शत-मिति शतं दीर्घमायुः ॥ ३६ ॥

मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान्कदाचना दभन् । विश्वा
च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥ १.८४.२०

मा च ते धामानि मा च ते कदाचन सरिषुः सर्वाणि प्रज्ञानान्युपमानाय मनुष्यहितोऽयमादित्योऽयमात्मा ।

अथैतदनुप्रवदन्ति । अथैतं महान्तमात्मानमेषगणः प्रव-दति 'वैश्वकर्मणे देवानां नु वयं जाना' 'नासदासीन्नो सदासी-त्तदानीम्' (१०.१२९.१) इति च । सैषाऽऽत्मजिज्ञासा, सैषा सर्व-भूतजिज्ञासा । ब्रह्मणः सार्ष्टिं सरूपतां सलोकतां गमयति य एवं वेद । नमो ब्रह्मणे, नमो महते भूताय, नमः पारस्कराय, नमो यास्काय । ब्रह्म शुक्लमसीय ॥ ३७ ॥

निरुक्त समाप्त

(१) कई पुस्तकों में सैंतीसवां खण्ड नहीं है । (२) कई पुस्तकों में 'नमो ब्रह्मणे' से लेकर अन्त तक का पाठ नहीं है, और कईयों में 'नमः पारस्कराय' नहीं है ।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का दशम सूक्त यमयमी-सूक्त है। यह प्रकरण दो मंत्रों की वृद्धि और थोड़े से परिवर्तन के साथ अथर्ववेद (१८.१.१-१६) में भी पाया जाता है। इस सूक्त के चार मंत्र यास्काचार्य ने निरुक्त में दिये हैं। वे चार मंत्र २८२, ३१०, ४४१ और ६९४ पृष्ठों पर उल्लिखित हैं। उन मंत्रों के अर्थ करने के लिये आवश्यक था कि संपूर्ण सूक्त पर विचार किया जाता। अतः, उन २ स्थलों में पृथक् २ मंत्रों के अर्थ न देकर यहां अन्त में संपूर्ण सूक्त पर विचार किया जाता है।

मंत्रों के अर्थ करने से पूर्व इस पर विवेचन कर लेना आवश्यक है कि यम यमी कौन हैं और उन के संवाद से क्या शिक्षा दी गयी है। इस विषय का निर्णय हो जाने पर मंत्रार्थ का समझना बड़ा सरल होजावेगा।

(१) प्रस्तुत सूक्त में यम यमी भाई बहिन हैं। इस की पुष्टि में निम्न-लिखित हेतु हैं—

(क) इसी सूक्त के ११ वें मंत्र में यम यमी के लिये 'भ्राता' 'स्वसा' का प्रयोग किया गया है, और १२ वें मंत्र 'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्' में फिर यमी के लिये 'स्वसारम्' प्रयुक्त है। ये शब्द भाई बहिन के सिवाय अन्य किसी संबन्ध में प्रयुक्त नहीं होते।

(ख) वेद की इस अन्तःसाक्षि के अतिरिक्त लौकिक संस्कृत का साहित्य भी हमारे विचार की पूरी पुष्टि करता है। शब्दकल्पद्रुम आदि कोषों में 'यमुना' नदी के यमभगिनी और यमी, ये दो नाम उल्लिखित हैं। एवं, यम का पर्यायवाची 'यमुनाभ्राता' बतलाया गया है। हमें इस कल्पना में जाने की कोई आवश्यकता नहीं कि 'यम' यमुना नदी का भाई क्यों है? परन्तु यह स्पष्ट है कि 'यम' यमुनाभ्राता है, और 'यमुना' के समानार्थक शब्द 'यमी' और 'यमभगिनी' हैं। इसी प्रकार 'भाईदूज' नामक प्रसिद्ध त्योहार जो कि दीपावली के तीसरे दिन प्रायः संपूर्ण भारत में मनाया जाता है, उस का संस्कृतनाम 'भ्रातृद्वितीया'

है, और 'भ्रातृद्वितीया' का पर्यायवाची नाम 'यमद्वितीया' कोषों में उल्लिखित है। इस प्रसिद्धि से बोध होता है कि यम यमी भाई बहिन के लिये प्रयुक्त होते हैं।

कई स्वतंत्र–विचारक यह समझते हैं कि यम यमी पति पत्नी के बोधक हैं। परन्तु उन का यह विचार प्रमाण–शून्य है। संस्कृत–वाङ्मय में 'यमी' का अर्थ 'यमभगिनी' किया गया है यमपत्नी नहीं। यदि किसी स्थल में 'यमी' का अर्थ 'यमपत्नी' होता तो कोषकार यह अर्थ भी अवश्य देते। परन्तु ऐसा न करके उल्टा 'यमपत्नी' का अर्थ 'यमस्य भार्या' करते हैं, 'यमी' का नहीं।

एवं, संस्कृत–वाङ्मय में स्पष्ट तौर पर 'यमी' का अर्थ 'यमभगिनी' विद्यमान है, फिर भी जो विचारक 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० ४.१.४८) सूत्र की घोषणा करके कहते हैं कि 'यमी' का अर्थ 'यमभगिनी' कभी नहीं हो सकता यमपत्नी होगा, यमभगिनी के अर्थ में तो 'यमा' रूप बनेगा, यह उनकी नितान्त भूल है। जिस भाषा का वह व्याकरण–सूत्र प्रस्तुत करते है, उसी भाषा के सब कोषकार एकस्वर से यही कह रहे हैं कि कि 'यमी' का अर्थ 'यमभगिनी' है। अतः, निस्सन्देह उस सूत्र का कुछ और ही अभिप्राय होना चाहिये। 'पुंयोगादाख्यायाम्' का सीधा अर्थ यह है कि जो पुल्लिंग नाम पुरुष के योग से स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है, उनसे 'ङीष्' हो। यहां स्त्री पुरुष का एकमात्र दम्पती-भाव कहां से आगया? स्त्री पुरुष के संबन्ध भाई बहिन और पिता पुत्री भी तो हैं, वे कैसे छूट जावेगें। अतएव कौमुदीकार ने 'न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः' (पा० ४. १७८) की व्याख्या में लिखा है—केकयीत्यत्र तु जन्यजनक-भावलक्षणे पुंयोगे ङीष्'। और, तत्त्वबोधिनीकार ने 'पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्र पर लिखा है—'योगः संबन्धः, सचेह दम्पतिभाव एवेति नाग्रहः, संकोचे मानाभावात्।' एवं, वेद की अन्तःसाक्षि और लौकिक संस्कृत की प्रसिद्धि से विदित होता है कि यमयमी भाई बहिन के वाचक हैं।

(२) 'यम' शब्द सहजात जोड़ा और असहजात जोड़ा, इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। एवं, यम और यमी सगोत्र भाई बहिन हैं सगे नहीं।

सं‍पूर्ण सूक्त में ऐसा कोई शब्द नहीं जिससे कि सगे भाई बहिनों की कल्पना की जासके। पंचम मंत्र के 'गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः' वचन को देखकर कई लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि यहां तो स्पष्टतया सगे भाई बहिन ही अभिप्रेत हैं। यह उनकी भूल है। यहां पर 'नौ' शब्द द्वितीयान्त नहीं प्रत्युत बहुवचन है। एवं, इसका अर्थ यह होगा कि 'उत्पादक परमेश्वर ने हमारे कई भाई बहिनों को गर्भ में दम्पती बनाया है'।

(३) गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः (१०.८५.३६)। विधवेव देवरम् मर्यं न योषा (ऋ० १०.४०.२)। उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकम् (ऋ० १०.१८.८) इत्यादि मंत्रों में विवाह और नियोग का सामान्यतया विधान है। परन्तु यमयमी सूक्त सगोत्र-विवाह और सगोत्र-नियोग का निषेधक है।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ मनु० ३.५

अर्थात्, जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो वह द्विजों के लिये (दारकर्मणि) विवाहार्थ और (मैथुने) नियोग में गर्भधारणार्थ प्रशस्त है।

उपर्युक्त मनुवचन का मूल यही यमयमी-सूक्त है। इसी वेदाज्ञा को सामने रखते हुए ऋषि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के नियोग-प्रकरण में लिखते हैं—"परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनि, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है।" अतएव पुत्री का नाम 'दुहिता' है क्योंकि वह 'दूरे हिता' होती है, विवाह या नियोग के संबन्ध के लिये सगोत्रों से बाहर दूर निहित होती है।

सपिण्ड, सगोत्र, सनाभि, सजाति—ये सब शब्द शब्दकल्पद्रुम ने समानार्थक बतलाये हैं। इस अर्थ में 'जामि' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, जिसकी सिद्धि २८२ पृ० पर की गयी है।

चतुर्थ मन्त्र में आये 'गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा' 'सा नौ नाभिः' 'परमं जामि तन्नौ' और १० वें मंत्र का 'जामयः' शब्द इसी सगोत्रता का द्योतक है।

(४) ये यम और यमी पूर्ण संयमी हैं। मन्त्र-व्याख्या के देखने से आप को स्पष्टतया ज्ञात हो जावेगा कि यमी के संयम में भी कोई सन्देह-स्थल नहीं। 'पितुर्नपातमादधीत वेधा' एकस्य चिश्यजसं मर्त्यस्य' 'विवृहेव रथ्येव चक्रा' आदि में यमी उच्च उद्देश्य का ही निर्देश कर रही है।

'काममूता' में उसने स्पष्टतया ही कह दिया है कि मैं यथेष्ट प्रवृद्धचेता होती हुई इस सम्बन्ध के लिये कह रही हूं। यमी का प्रस्ताव अशिष्ट है, भाव पापपूर्ण नहीं प्रत्युत पवित्र है।

सगोत्र वालों में विवाह के लिये जिस किसी तरह भी बुद्धि और हृदय को अपील किया जा सकता है, किया गया। और फिर उसके ठीक २ उत्तर देकर

निषेधात्मक परिणाम निकाला गया जिस से प्रस्तावकर्त्री यमी भी सहमत हो गई। यह है संवाद का रहस्य।

(५) यमयमी-सूक्त के नियोग-पक्ष में यह स्पष्टतया विदित होता है कि 'यमी' का पति जीवित है परन्तु उस से कोई सन्तान नहीं हुई। प्रथम ही मंत्र में यमी कह रही है 'पितुर्नपातमादधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः' अर्थात् पितृ-वंश की चिन्ता करता हुआ मेरा विधाता पति पृथिवी पर अपने पिता के वंश को नष्ट न होने देने वाले प्रकृष्ट पौत्र को धारण करे। सातवें मंत्र में यमी कहती है "विवृहेव रथ्येव चक्रा" हम पतिपत्नी रथ के दोनों चक्रों के समान मिलकर उद्योग करें। और ९ वें मंत्र मे 'यम' यमी और उस के पूर्व पति, दोनों के लिये परमेश्वर से कल्याण-प्रार्थना करता है।

नियोग-पक्ष में १३ वे तथा १४ वें मंत्र को देखने से यह भी विदित होता है कि 'यम' की पत्नी से भी कोई सन्तान नहीं हुई। अतः वह भी किसी से नियोग करना चाहता है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि उस की पत्नी जीवित है या मर चुकी है। परन्तु यह असंदिग्ध है कि 'यमी' का पति अभी जीता है।

जिसप्रकार यम भाई ने यमी बहिन के लिये 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' का प्रयोग किया है उसीप्रकार असमर्थ पति पत्नी को और असमर्थ पत्नी पति को यह बात कह सकती है। अतएव ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास के नियोग-प्रकरण में उपर्युक्त मंत्र-वचन का अर्थ 'हे सौभाग्य की इच्छा करने हारी स्त्री' इत्यादि किया है।

अब इतनी भूमिका के पश्चात् मंत्र-व्याख्यान की ओर आइए—

यमी की उक्ति

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरूचिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमादधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः॥ १॥

(ओ चित्!) हे ज्ञानवान् यम! (सखाय चित् सख्या ववृत्याम्) तुझ श्रेष्ठ मित्र को मैं गृहस्थ-धर्म के लिये वर्तूं, ग्रहण करूं (तिरः अर्णवं चित् पुरु जगन्वान्) यतः तू विद्यमान भवसागर में संपूर्णता को अर्थात् पूर्ण यौवन को प्राप्त कर चुका है। (दीध्यानः वेधा) प्रकाशमान् या हमारा ध्यान करता हुआ अर्थात् हमारे पर अनुग्रह करता हुआ विधाता प्रभु (अधिक्षमि) पृथिवीस्थानीय मुझ स्त्री में (पितुः प्रतरं नपात) पितृवंश को नष्ट न होने देने वाली प्रकृष्ट सन्तान को (आदधीत) धारण करे।

नियोग पक्ष में—(दीध्यानः वेधा) पितृवंश की चिन्ता करता हुआ मेरा विधाता पति (अधिक्षमि) पृथिवी पर (पितुः प्रतरं नपातं आदधीत) अपने पिता के वंश को नष्ट न होने देने वाले प्रकृष्ट पौत्र को धारण करे।

विशेष—दूसरा 'चित्' पूजार्थक है (निरुक्त २६ पृ०)। सख्या = सख्याय, सुपां सुलुक् (पाणि० ७. १. ३९) से 'ङे' को 'आ'। तिरस् = प्राप्तम् (निरु० २२६ पृ०)। पुरु = संपूर्णता, देखिए सुश्रुत क्या कहता है—चतस्रोऽवस्था शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति। पूर्ण यौवन के पश्चात् चौथी वृद्धावस्था में विवाह या नियोग नहीं हो सकता। इस संबन्ध के लिये पूर्ण यौवन अवस्था ही सर्वोत्कृष्ट समझी जाती है, अतः इसी का यहां निर्देश किया गया है। 'दीध्यानः' रूप दीप्त्यर्थक 'दीधीङ्' या 'ध्यै' चिन्तायाम्, इन दोनों धातुओं से निष्पन्न होता है। क्षमि = क्षमायां, यहां आतो धातोः (पाणि० ६. ४. १४०) में 'आतः' योग-विभाग से 'आ' का लोप हो गया है। जैसे 'क्त्वो ल्यप्' (पा० ७. १. ३७) हलः श्नः शानज्झौ (पा० ३. १. ८३) इन सूत्रों में 'क्त्वायाः' की जगह क्त्वः' और 'श्नायाः' की जगह 'श्नः' आकारलोप से हो गया है। नपात् = पुत्र या पौत्र, न पातयतीति नपात्।

मंत्र से स्पष्ट है कि यहां भोग के लिये विवाह या नियोग का संबन्ध नहीं हो रहा प्रत्युत प्रकृष्ट सन्तान पैदा करना ही इसका एकमात्र उद्देश्य है, जैसे कि 'गर्भं धाता दधातु ते' आदि मंत्रों में प्रतिपादन किया हुआ है।

यम की उक्ति।

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन्॥ २॥

(ते सखा एतत् सख्यं न वष्टि) हे यमि बहिन! तेरा मित्र ऐसे गृहस्थ को नहीं पसन्द करता, (यत् सलक्ष्मा विषुरूपा भवाति) यतः समान चिन्हों वाली बहिन विषमरूपा होती है, विवाह या नियोग के लिये अयोग्य होती है। (महः असुरस्य) पूज्य प्राणाधार परमेश्वर के (वीराः) वीर अर्थात् पापनाशक (दिवः धर्तारः) और सत्य-प्रकाश-प्रदात्री वेदवाणी के धारण करने वाले (पुत्रासः उर्विया परिख्यन्) पुत्र बड़े बल से ऐसे संबन्ध का प्रत्याख्यान करते हैं।

विशेष—सगोत्र स्त्री पुरुष प्रायः सलक्ष्म ही हुआ करते हैं। भाई बहिन मामा भानजा आदि के रूप किस तरह मिलते जुलते हैं, इसे प्रत्येक रूपदर्शी समझ सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा सलक्ष्म-संबन्ध दोषपूर्ण होने से सर्वथा

त्याज्य हैं। वेद इसी सगोत्र विवाह या नियोग को विषमरूप कहता हुआ निषेध कर रहा है।

विषुरूप—विषमरूप (६७९ पृ०)। वीर=पापनाशक, वीरयत्यमित्रान् (३८ पृ०)। उर्विया=उरुणा, 'टा' की जगह 'इयाट्' (पाणि० वा० ७. १. ३९)। अपपरी वर्जने (१.४.८८) में पाणिनि 'परि' को वर्जनार्थक भी मानते हैं।

य इन्दोः पवमानस्यानु धामान्यक्रमीत्।
तमाहुः सुप्रजा इति यस्ते सोमाविधन्मनः॥ ६. ११४. १

(यः इन्दोः पवमानस्य) जो मनुष्य ऐश्वर्यधाम पावक परमात्मा के (धामानि अनु अक्रमीत्) सर्वसत्यविद्यास्थानों वेदों का अनुकरण करता है (सोम ! यः ते मनः अविधत्) और हे शान्तिधाम ! जो तेरे मनोनूकूल अर्थात् तेरी आज्ञाओं के अनुसार चलता है, (तं सुप्रजाः इति आहुः) विद्वान् लोग उस को तुम्हारा 'सुपुत्र' कहते हैं।

यह है परमेश्वर के सुपुत्र का लक्षण। ऐसे सुपुत्र वेद की आज्ञाओं से प्रभावित होकर सलक्ष्म संबन्ध का घोर प्रत्याख्यान करते हैं, अतः यह संबन्ध अनिष्ट है, यम ऐसे सम्बन्ध को नहीं चाहता।

यमी की उक्ति।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमाविविश्याः॥ ३॥

(ते अमृतासः घ) हे यम भ्रातः ! वे अमृतपुत्र भी (एकस्यचित् मर्त्यस्य) एक मनुष्य के (एतत् त्यजसं) इस एक स्त्री-रत्न को (उशन्ति) चाहते हैं। (ते मनः अस्मे मनसि निधायि) अतः तेरा मन मेरे मन में निरन्तर स्थित हो (जन्युः पतिः तन्वं आविविश्याः) और सन्तानोत्पत्ति करने वाला पति होकर इस शरीर को अर्थात् मुझ को प्राप्त हो।

नियोगपक्ष में—हे यम भ्रातः ! वे अमृतपुत्र भी प्रत्येक मनुष्य के इस पुत्र-रत्न को चाहते हैं। अतः तेरा मन मेरे मन में नियोग पूर्वक स्थित हो, अर्थात् मेरे अन्दर गर्भ धारण कर।

विशेष—त्यजस=धन, त्यज्यते म्रियमाणस्य पुरुषस्येहैवेति त्यजसम्। मरते हुए मनुष्य का धन यहीं छूट जाता है। धन मनुष्य के साथ नहीं जाता।

त्युत यहीं रह जाता है। यास्काचार्य ने 'परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णः नित्यस्य रायः तयः स्याम। न शेषो अग्ने'' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है 'रेक्ण ति धननाम, रिच्यते प्रयतः। शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतः (१६४ पृ०) र्थात्, 'रेक्णस्' धनवाची है यतः स्वामी के मरने पर रिक्त रह जाता है, यहीं ट जाता है। और 'शेष' का अर्थ अपत्य है, क्योंकि पिता के मरने पर सन्तान अवशिष्ट रह जाती है। 'परिषद्य' मंत्र में धनवाची 'रेक्ण.' तथा 'रायः' शब्द यास्क ने 'पुत्र' अर्थ में प्रयुक्त किये हैं, और इसी तरह 'स्त्री' को भी वेद ने बहुत्र धन कहा है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'त्यजस' के स्त्रीरत्न और पुत्ररत्न, ये अर्थ किये गये हैं।

विवाह-पक्ष में यमी कहती है कि वे अमृत-पुत्र भी इस से सहमत हैं कि एक पुरुष की एक पत्नी होनी चाहिये। यम! आपकी अभी तक कोई पत्नी नहीं और मेरा अभी तक कोई पति नहीं, अतः आइये सन्तानोत्पत्ति के लिये हम दोनों विवाह करलें।

नियोग-पक्ष में यमी का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य का एक न एक पुत्ररत्न अवश्य होना चाहिये, यह सिद्धान्त शिष्ट-सम्मत है। मेरा पति रोग आदि के कारण जन्यु नहीं, अर्थात् सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ है, अतः आप मेरे जन्यु (सन्तानोत्पत्तिकर्त्ता) पति बन कर मेरे अन्दर गर्भ धारण कीजिये।

यहा पर भी विवाह या नियोग एकमात्र सन्तानोत्पत्ति-हेतुक ही बतलाया गया है, विषयभोग के लिये नहीं।

'मेरे शरीर में प्रविष्ट हो' के यथोक्त भाव को समझने के लिये 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (१६६ पृ०) 'एतेरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति' आदि (बृहदारण्यक ३. ५. १७) वचनों का ध्यान कीजिये।

यम की उक्ति।

न यत्पुरा चकृम कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥४॥

(यत् पुरा न चकृम) जो पहले ऐसा सगोत्र-संबन्ध हम अमृत-पुत्रों ने नहीं किया (कत् ह नूनं) भला अब कैसे (ऋता वदन्तः) सत्यनियमों को बतलाते हुये (अनृतं रपेम) असत्य नियम का प्रचार करें ? (गन्धर्वः अप्सु) मेरा वेदज्ञ पिता प्राप्त संबन्धों में से है, अर्थात् तुम्हारे निकट-संबन्धों में से है, (योषा च अप्या) और मेरी माता निकटसम्बन्धिनी है। (सा नः नाभिः)

वह मेरी माता या वह मेरे पिता हम सब भाई बहिनों के सनाभि हैं अर्थात् सगोत्र हैं, (तत् नौ) इसलिये हम दोनों का (परमं जामि) परम सजातित्व है। अतः, हमारे में विवाह या नियोग के सम्बन्ध का होना सर्वथा नियम विरुद्ध है।

विशेष—एवं, यम उत्तर देता है कि हे बहिन! यह ठीक है कि एक पुरुष की एक पत्नी होनी चाहिये और प्रत्येक पुरुष का कोई न कोई पुत्र-रत्न भी आवश्यक है, परन्तु इसकी पूर्ति के लिये सगोत्र भाई बहिनों का विवाह या नियोग सत्य-नियम के सर्वथा विपरीत है। ऐसे सत्य धर्म का विलोप कभी नहीं किया गया। अतः, तुम्हारी प्रार्थना को मैं स्वीकार नहीं कर सकता।

यमी की उक्ति।

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः॥ ५॥

(देवः सविता विश्वरूपः त्वष्टा जनिता) हे भाई! सर्वप्रकाशक सर्वप्रेरक सर्वद्रष्टा और व्यवस्थाकर्ता उत्पादक परमेश्वर ने (नौ गर्भे नु दम्पती कः) हमारे कई भाई बहिनों को गर्भ में दम्पती बनाया है। (अस्य व्रतानि नकिः प्रमिनन्ति) इस प्रभु के नियमों को कोई नहीं तोड़ सकते। (अस्य नौ पृथिवी उत द्यौः वेद) इस बात को हमारे में से प्रत्येक स्त्री और पुरुष जानता है।

विशेष—यमी कहती है भाई! यह तूने कैसे कह दिया कि सगोत्र स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध पहले कभी नहीं हुआ और ऐसा सम्बन्ध ईश्वरीय सत्यनियमों के विरुद्ध है? क्या तुम यह नहीं जानते कि हमारे कई भाई बहिन जोड़े के रूप में पैदा हुए हैं। क्या उन्हें परमेश्वर ने एक ही गर्भ में इकट्ठे संबद्ध नहीं रखा? क्या वे दम्पती की तरह एक ही स्थान में सहवास नहीं करते रहे? अतः, यह ईश्वरीय नियम तो यही बतलाता है कि सहजात भाई बहिनों तक में संबन्ध हो सकता है। यह तुम जानते ही हो कि ईश्वरीय नियमों का भंग किसी को भी न करना चाहिए। इस सत्य-सिद्धान्त के साक्षि प्रत्येक स्त्री पुरुष हैं। अतः, भाई ईश्वरीय नियमों का पालन इसी में है कि मुझ से विवाह या नियोग करो।

यम की उक्ति।

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥ ६॥

(अस्य प्रथमस्य अह्नः कः वेद) हे यमी ! गर्भवास के इस पूर्वकाल के तत्त्व को कौन जानता है ? (कः इम् ददर्श) किसने इस पूर्वकाल के तत्त्व का साक्षात्कार किया है ? (कः इह प्रवोचत्) और कौन उस गर्भवास–तत्त्व का यहां प्रवचन कर सकता है ? अर्थात् गर्भवास के रहस्य को कोई नहीं समझ सकता । (मित्रस्य वरुणस्य धाम बृहत्) सब के मित्र और श्रेष्ठ परमेश्वर का सामर्थ्य-तेज महान् है । (आहनः !) हे असभ्यभाषिणि बहिन ! (कत् उ वीच्या) तब तू कैसे विशेष ज्ञान के साथ अर्थात् निश्चयपूर्वक (नॄन् ब्रवः) भाईयों को यह कहती है कि सगोत्र भाई बहिनों का सम्बन्ध ईश्वरीय नियमों के अनुकूल है ? अर्थात् तेरा यह कथन असत्य है ।

विशेष—यम कहता है कि गर्भवास के समय युगल भाई बहिनों को दम्पती के रूप में किस ने जाना देखा या कहा है ? अनन्त सामर्थ्यवान् परमेश्वर की महिमा को समझना अत्यन्त दुष्कर है । गाढ़ सुषुप्ति की अवस्था में स्त्री पुरुष इकट्ठे नग्न पड़े हैं, इस से उनका दम्पतीभाव स्थापित नहीं होता । दम्पतीभाव किसी विशेष धर्म को लेकर स्थापित होता है, एकमात्र सहवास से ही दम्पती नहीं कहलाये जाते । अतः, ऐसा कोई सत्य नियम नहीं जिससे कि सगोत्र स्त्री पुरुषों में विवाह या नियोग का संबन्ध स्थापित हो सके ।

वीच्या = विज्ञानेन, निश्चयेन । वीच्या 'वीची' का तृतीयान्त रूप है, वि + अञ्चू । इसीप्रकार प्रतीची, प्राची आदि शब्दों की सिद्धि होती है ।

यमी की उक्ति,

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ७ ॥

(समाने योनौ सहशेय्याय) समान गृहस्थाश्रम में सहवास के लिये अर्थात् परस्पर में विवाह के लिये (मा यम्यं) मुझ यमी को (यमस्य कामः आ अगन्) यम की कामना आयी है । अतः, स्वयम्वर–विवाह के अनुसार (पत्ये जाया इव तन्वं रिरिच्यम्) पति के लिये जाया की तरह जायाभाव से शरीर को तुझ से जोड़ूं—अपना तन तुझ पति के अर्पित करदूं । (चित् रथ्या चक्रा इव विवृहेव) और फिर हम दोनों रथ के दोनों चक्रों के समान मिलकर उद्योग करें, अर्थात् धर्म अर्थ काम और मोक्ष का सम्पादन करें ।

नियोग पक्ष में—समान स्थान में सहवास के लिये, गर्भधारण करने के लिए मुझ यमी को तुझ यम की कामना है । अतः, स्वयंवर–नियोग के अनुसार, जैसे

मैं अपने पति के लिए जायाभाव से अपने शरीर को फैलाती थी वैसे, तेरे लिए अपने शरीर को फैलाऊं, जिस से सन्तानोत्पत्ति के होने पर हम पति पत्नी रथ के दोनों चक्रों के समान मिल कर उद्योग करें।

विशेष—अब यहां यमी कामना की-स्वयंवर की-युक्ति प्रस्तुत करती है। वह कहती है कि स्वयंवर-विवाह या स्वयंवर-नियोग तो प्राप्त सिद्धान्त है, यम ! मैंने विवाह या नियोग के लिए तुझे ही चुना है, अतः तू मेरे से संबन्ध करले।

बिना सन्तान के प्रायः गृहस्थ कैसा दुःखधाम बन जाता है, यह किसी से छिपा नहीं। सर्वदा सन्तान-चिन्ता में दुःखी रहने के कारण स्त्री पुरुष पूरे साहस के साथ पुरुषार्थ-लाभ नहीं कर सकते। अतः, पुत्रविहीना यमी 'यम' से कहती है कि मैं जैसे अपने पति के लिये जायाभाव से शरीर को फैलाती थी वैसे मैं तेरे लिए अपने शरीर को फैलाउ, जिस से कि सन्तानोत्पत्ति के होने पर हम पतिपत्नी रथ के दोनों चक्रों के समान मिलकर उद्योग करें।

नियोग-पक्ष में 'विवृहेव' से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि यमी का पति जीवित है मृत नहीं। 'रिरिच्याम्' में 'रिच' वियोजनसंपर्चनयोः धातु है।

यम की उक्ति।

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा॥ ८॥

(एते देवानां स्पशः) ये ईश्वरीय नियमों के गुप्तचर (ये इह चरन्ति) जो कि इस संसार में विचर रहे हैं, (न तिष्ठन्ति न निमिषन्ति) वे न ठहरते हैं और न आंख झपकते हैं। (आहनः) अतः, हे असभ्यभाषिणि ! (मत् अन्येन तूयं याहि) मेरे से भिन्न दूसरे पुरुष के साथ शीघ्र जायात्व को प्राप्त कर। (तेन रथ्या चक्रा इव विवृह) और उस पति के साथ मिल कर रथ के दोनों चक्रों की तरह उद्योग कर।

नियोग पक्ष में—(मत् अन्येन तूयं याहि) मेरे से भिन्न दूसरे पुरुष के द्वारा शीघ्र सन्तान को प्राप्त कर, (तेन रथ्या चक्रा इव विवृह) और उस सन्तानलाभ से तू अपने पति के साथ मिलकर रथ के चक्रों की तरह उद्योग कर।

विशेष—यम कहता है कि सगोत्र वालों में विवाह या नियोग के संबन्ध की कामना करना पाप है। परमेश्वर के गुप्तचर निरन्तर इस संसार में विचर रहे हैं। वे एक क्षण के लिये भी न ठहरते हैं और न आंख झपकते हैं, प्रत्युत

लगातार हमारे कर्मों को देख रहे हैं। ये ईश्वरीय–नियम रूपी गुप्तचर यद्यपि हमें नही दीख पड़ते तथापि ये अपना कार्य निरन्तर कर ही रहे हैं। तदनुसार राजाओं के महाराजा परमेश्वर की तरफ से पापकर्म का दण्ड अवश्य मिलेगा। अतः, हे बहिन! तू यह अशुभ कामना एकदम त्याग दे और अन्य पुरुष के साथ संबन्ध कर।

'स्पश' शब्द गुप्तचर के लिये लौकिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। वेद में उस की जगह 'स्पश्' का प्रयोग है। ऋ० ४. ४. ३ में भी इसी रूप में प्रयुक्त हुआ है। दर्शनार्थक 'पश्' से 'क्विप्' और सुडागम। आहतः— हे असभ्यभर्त्सिणि (३१० पृ०)।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवापृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि ॥ ९ ॥

(अस्मै रात्रिभिः अहभिः दशस्येत्) इन व्याहे जाने वाले दम्पतीयुगल के लिये अथवा नियोग द्वारा पुत्रलाभ हो जाने पर पुराने दम्पतीयुगल के लिये परमात्मा अहर्निश सुख प्रदान करे, (सूर्यस्य चक्षुः मुहुः उन्मिमीयात्) सूर्य के प्रकाश को बहुत देर तक उत्तमतया निर्मित करे। (मिथुना दिव्यापृथिव्या सबन्धू) ये दोनों स्त्री पुरुष समानभाव से परस्पर में बंधे रहें। (यमीः यमस्य अजामि बिभृयात्) और यमी मुझ यम के दोषरहित बन्धुत्व को धारण करे।

पूर्व तथा अपर मंत्र के अनुसार अपने को छोड़ कर जिस अन्य पुरुष के साथ बहिन का विवाह या नियोग होगा, उस दम्पतीयुगल को लक्ष्य में रखकर यम इस मंत्र में प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! इस व्याहे जाने वाले दम्पतियुगल के लिये अथवा नियोग द्वारा पुत्रलाभ हो जाने पर पुराने दम्पतियुगल के लिये रात और दिन सुख देने हारे हों। इन की चक्षु आदि इन्द्रियें दीर्घकाल तक अविकल रहें और ये चिरायु हों। यह जोड़ा समान भाव से परस्पर में बन्धा रहे, और हम भाई बहिनों का सम्बन्ध वैसा ही निष्कलङ्क और पवित्र बना रहे।

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ १० ॥

(ता उत्तरा युगानि घ आगच्छान्) वे उत्तर काल भी ऐसे ही आवेंगे (यत्र जामयः अजामि कृणवन्) जहां कि सगोत्र स्त्रीपुरुष हितकर या मूर्खता

रहित अर्थात् दोषरहित कार्य करेंगे। अर्थात्, पहिले भी सगोत्र वालों में विवाह या नियोग का संबन्ध नहीं था, आगे भी ऐसा ही रहेगा। यह ईश्वरीय नियम तीनों कालों में एकरस है अटल है। (सुभगे) अतः, हे सौभाग्य की इच्छा रखने हारी यमी ! (मत् अन्येन) मेरे से भिन्न दूसरे पति की विवाह या नियोग के लिये (इच्छस्व) इच्छा कर (वृषभाय बाहुं उपबर्बृहि) और उस वीर्यवान् पति के लिये अपनी बाहु को बढ़ा अर्थात् उसे बाहुदान कर।

इस मंत्र की व्याख्या यास्क ने २८२ पृष्ठ पर की है। 'जामि' पर विस्तृत विवेचन वहीं देखिए। तदनुसार प्रस्तुत मंत्र में 'जामि' के यास्ककृत तीनों अर्थ संगठित हैं।

यमी की उक्ति।

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वेतद् रपामि तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि ॥ ११ ॥

(किं भ्राता असत्) वह क्या भाई (यत् अनाथं भवाति) जो बहिन की मांग को न पूर्ण करने वाला है ? (उ किं स्वसा यत् निर्ऋतिः निगच्छात्) और वह क्या बहिन है जिस को भाई के होते हुए दुःख प्राप्त हो ? (कामं ऊता) हे भाई ! मैं यथेष्ट प्रवृद्धचेता होती हुई (एतत् बहु रपामि) इस विवाह या नियोग के बारे में बहुत कह रही हूं। (मे तन्वा तन्वं संपिपृग्धि) अतः भाई ! मेरे तन के साथ अपने तन को जोड़ो, अर्थात् मेरे साथ विवाह या नियोग का संबन्ध स्थापित करो।

विशेष—यमी अपने भाई से कह रही है कि भाई ! वह किस बात का भाई जो अपनी बहिन की माँग को, प्रार्थना को या इच्छा को पूरा नहीं करता। और यह कैसी बहिन जो भाई के रहते हुए दुःख तो पाती है परन्तु अपने भाई से सहायता नहीं लेती। अतः भाई ! तुझे मेरी मांग पूरी करनी चाहिए। और मेरा भी यही कर्तव्य है कि मैं तेरे से सहायता लेकर अपने कष्ट को दूर करूं। भाई ! मेरी यह मांग किसी पापवासना को लेकर पैदा नहीं हुई अपितु पूर्ण पवित्र भावों से भरी हुई है। अतः तू मेरे से विवाह या नियोग कर।

'नाथ' धातु याचना और इच्छा अर्थ में भी धातुपाठ में पठित है। 'कामम्' अव्यय यथेष्टवाची प्रसिद्ध ही है। धातुपाठ में 'अव' धातु गति रक्षण कान्ति आदि १९ अर्थों में पठित है। 'ऊता' में 'अव' वृद्ध्यर्थक प्रयुक्त है।

'काममूता' से स्पष्ट है कि बहिन की उक्ति पवित्रभाव से परिपूर्ण है। वह किसी विषयवासना से प्रेरित होकर यम से विवाह या नियोग के लिये नहीं कह रही।

यम की उक्ति।

नवा उ ते तन्वा तन्वं संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १२ ॥

(ते तन्वा तन्वं न वै उ संपपृच्याम्) बहिन ! मैं तेरे तन के साथ अपने तन को निश्चय पूर्वक नहीं जोडूंगा (यः स्वसारं निगच्छात्) क्योंकि जो बहिन को विवाह संबन्ध या नियोग संबन्ध से प्राप्त होता है, (पापं आहुः) उसे विद्वान् लोग पापी कहते हैं। (मत् अन्येन) अतः मेरे से भिन्न दूसरे पुरुष के साथ (प्रमुदः कल्पयस्व) विवाह या नियोग जन्य सुखों को मना। (सुभगे ते भ्राता एतत् न वष्टि) हे सौभाग्य को चाहने वाली बहिन ! तेरा भाई इस विवाहकर्म या नियोगकर्म को नहीं चाहता।

यम कहता है कि बहिन ! यह ठीक है कि मुझे तेरी इच्छा पूर्ण करनी चाहिए। और तेरा भी यह धर्म है तू मेरे से सहायता ले। और यह भी सच है कि तू प्रबुद्धचेता है और पवित्रभाव से प्रेरित होकर ही मुझे कह रही है। परन्तु बहिन! हमें ऐसा कर्म तो न करना चाहिए जिस का परिणाम पाप हो। सगोत्र भाई बहिनों के संबन्ध को पाप माना जाता है। अतः बहिन ! यह तू निश्चय जान कि मैं तेरे से विवाह या नियोग किसी भी अवस्था में नहीं कर सकता। इसलिये तू किसी अन्य पुरुष के साथ यह संबन्ध स्थापित कर। मैं इस संबन्ध को नहीं करूंगा।

यमी की उक्ति।

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयञ्चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥१३॥

(यम बतः असि) यम ! तू धर्म के आगे दुर्बल है, धर्म के सामने सिर झुकाने वाला है, (बत ते मनः हृदयं च न एव अविदाम) पर हाय ! मुझे खेद है और अपने जैसे अविवेकियों पर तरस आता है कि हम लोग तेरे मन और हृदय को सर्वथा नहीं समझते। (वृक्षं लिबुजा इव) वृक्ष को लता

की तरह (युक्तं कक्ष्या इव) और ब्रह्मचर्य–युक्त ब्रह्मचारी को मेखला के समान या पुरुषार्थयुक्त पुरुषार्थी को उद्योग के समान (अन्या किल त्वां परिष्वजाते) अन्य ही विवाहित या नियुक्त पत्नी तुझे आलिङ्गन करेगी।

विशेष—यम के उत्तर प्रत्युत्तर को सुन कर और उस के मुकाबले में अपने विवेकरहित प्रस्ताव को देख कर यमी को बड़ा दुःख हुआ। वह अपने जैसे अविवेकियों पर खेद प्रकाशित करती हुई और उनकी दयनीय अवस्था को जतलाती हुई कहती है कि हाय! हम लोगों में इसप्रकार का मन और हृदय नहीं। मैंने पहले प्रभावोत्पादक तर्क करते हुए बुद्धिबल से तुझे मनाना चाहा, परन्तु तूने उन तर्कों का ऐसा समाधान किया कि मुझे चुप होना पड़ा। फिर, मैंने 'किं भ्रातासद्' आदि मंत्र से तेरे हृदय को अपील करना चाहा, परन्तु उस अमोघ अस्त्र से भी मुझे असफलता ही हुई। हाय! मैं भी वैसे मनोगत विचार को और हृदयगत प्रेम को क्यों नहीं समझी। अस्तु, अब तू जैसे वृक्ष के साथ लता रहती है, और ब्रह्मचारी के साथ मेखला रहती है, या पुरुषार्थी के साथ क्रियाशीलता रहती है, एवं किसी अन्य योग्य स्त्री को विवाह या नियोग के लिये अपने साथ संबन्धित कर।

'कक्ष्या गृहप्रकोष्ठे स्यात् सादृश्योद्योगकाञ्चिषु। बृहतिकेभ नाड्योश्च' इस वचन में हेमचन्द्र ने 'कक्ष्या' के गृह, प्रकोष्ठ, सादृश्य, उद्योग, काञ्चि अर्थात् मेखला, बृहतिका (उत्तरीय वस्त्र) हथिनी और नाड़ी, ये अर्थ किये हैं।

इस मंत्र की यास्क–व्याख्या ४४१ पृ० पर देखिये। तदनुसार कुछ शब्दों की व्याख्या इसप्रकार है—अविदाम = विजानीमः। **लिबुजा** = व्रतति (लता)। लिभजा–लिबुजा, 'लीङ्' श्लेषणे + 'भज' सेवायाम् + घञ्। लता वृक्षादि आश्रय को विशेषतया सेवती हुई उस पर लिपट जाती है। **व्रतति**—लता वृक्षादि का वरण करती है, उस को बांधती है (लिपट कर उसे जकड़ लेती है, और उस पर ही फैलती है, अतः इसे 'व्रतति' कहा जाता है। 'वृञ्' वरणे + 'षिञ्' बन्धने + 'तनु' विस्तारे + क्तिन्। 'व्रतति में 'षिञ्' धातु का कोई रूप नहीं दीख पड़ता, संभवतः लेखकप्रमाद से 'सयनाच्च' लिखा गया हो।

यम की उक्ति

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥१४॥

(यमि उ त्वं अन्यं सु) हे यमि ! इसीतरह तू अन्य पुरुष से ही संबन्ध कर, (उ वृक्षं लिबुजा इव अन्यः त्वां परिष्वजाते) और वृक्ष को लता की तरह दूसरा पुरुष तेरे से संबन्ध करे। (वा तस्य मनः त्वं इच्छ) और उसके मन को तू चाह (वा सः तव) और वह तेरे चित्त को चाहे। (अध) एवं, परस्पर एकचित्त होकर (सुभद्रां संविदं कृणुष्व) कल्याणमय संयम या आचार को बना।

विशेष—इन दोनों मंत्रों की वाक्य-रचना और इस अन्तिम मंत्र के 'अन्यमू' वाले 'उ' के प्रयोग से अत्यन्त स्पष्ट है कि यम यमी, दोनों विवाह या नियोग तो करना चाहते हैं, परन्तु परस्पर में ऐसे संबन्ध का प्रत्याख्यान किया है। 'वा' निपात समुच्चय अर्थ में यास्क ने माना है (३० पृ०)। "संविन् संभाषणे ज्ञाने संयमे नाम्नि तोपणे। क्रियाकारे (कर्मनियमे) प्रतिज्ञायां संकेताचारयोरपि ॥" यहां हेमचन्द्र ने 'संवित्' का अर्थ संयम और आचार भी स्वीकृत किया है।

इस मंत्र की यास्ककृत व्याख्या ६९४ पृ० पर देखिए। (यमी यमं चकमे०) यमी ने यम की कामना की, उसका यम ने प्रत्याख्यान किया, इसप्रकार यह यमयमी का संवाद है। यम यमी के बारे में ७१८ पृ० भी देखिए।

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम्
पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं
कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं। मह्यं दत्वा
व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ अथर्ववेद १९.७१.१

उत्तरार्द्ध समाप्त।

विविध-सूचि-पत्र ।

चतुर्दश-निरुक्तकार-नाम-सूचि ।

अन्य द्रष्टव्य नाम-सूचि ।

कतिपय द्रष्टव्य विषयों की सूचि ।

निरुक्तस्थ-वेदमंत्र-सूचि ।

शाखा--मंत्र--सूचि।

ब्राह्मणवाक्य--सूचि।

अन्य उद्धरणों की सूचि।

निघण्टु--निरुक्त--पदसूचि।

नोटः—इस सूचि में निघण्टु के पहले चार अध्यायों के समस्त पदों की सूचि है। पहले निघण्टु के पते (अध्याय, खण्ड) हैं और अगले निरुक्त के। निरुक्त की पृष्ठसंख्या है।

पदपूरक, ३७०, ३९९, ५२६, [५९९
इषति २।१४ गच्छति
इषिर ४।१, २५१ गया हुआ, कामनायुक्त, साक्षात्कारकर्ता
इषुध्यति ३।१९ याचते
इष, इष् २।७ अन्न, ६०६, ६३५
इष्टि ३।१७ यज्ञ
इष्मिन् ४।१, २६७ क्रियाशील, आत्मकामा, तत्त्वदर्शी
इळा १।१, १।११, २।७, २।११ पृथिवी, वाणी, अन्न, गाय ८०५
ईक्षे ४।३, ३६० ईशिषे
ईङ्खते २।१४ गच्छति
ईम् १।१२, ४।२, जल, ३७१ पदपूरक, वीर्य, पतनम्, २८१, ६५५
ईमहे ३।१९ याचामहे
ईयर्ति २।६ इच्छति
ईर्ते २।१४ गच्छति
ईर्मान्त ४।१, २५८ विस्तृतान्त
ईषति २।१४ गच्छति, २४१ ईषते, [पलायते
ईहते २।१४ गच्छति
उक्थ्य ३।८ प्रशस्य, ६१०
उक्षन्, उक्ष ३।३ महान्
उक्षित ३।३ महान्
उत्स ३।२३ कूप, ६१५ मेघ
उदक १।१२ जल, १५३, ७६० चन्द्र
उपजिह्विका ३।२९, दीमक
उपब्दि १।११ वाणी
उपमे २।१६ अन्तिके
उपर १।१० मेघ, १५०, १७५ पत्थर का अनछिला हिस्सा
उपरा १।६ दिशा
उपल १।१० मेघ, १५०
उपलप्रक्षिणी ४।३, ३८६ भड़भूंजी
उपसि ४।३, ३८८ समीप स्थान में
उपाके २।१६ समीपे
उराण ४।३, ४१९ बहुकर्मा
उरु ३।१ बहुत
उर्वशी ४।२, ३४१ विद्युत्, स्त्री
उर्वी १।१, १।१३, ३।३३ पृथिवी, नदी, द्यावापृथिव्यौ, १५८
उल्ब ४।३, ४५४ आवरण
उशिक् २।६ कामनावान्, ३।१५ मेधावी
उश्मसि २।६ कामयामहे, ११८
उस्रा १।५, २।११ रश्मि, गाय, २७८
उस्रिया २।११ गाय, २७८
ऊति ४।२, ३१५ रक्षा, गति, शोभा आदि, ७२६ मार्ग
ऊधस् १।७ रात्रि, ४२३
ऊर्ज् २।७ अन्न, १८०, ६०६, ६८८
ऊर्जस्वती १।१३ नदी
ऊर्दर ३।२९, २३१ धान्यकोष्ठ
ऊर्म्या १।७ रात्रि
ऊर्वी १।१३ नदी
ऋच् १।११ वाणी, मंत्र, ४५८, ४३, [७६८
ऋक्ष ३।२९, २२८ नक्षत्र
ऋचीषम ४।३, ४३३ स्तुत्य, अनुरूप, अर्थप्रकाशक
ऋच्छति २।१४, ३।५ गच्छति,

शत ३।१ बहुत, ३२६, १८७
शतर ३।६ सुखवान्
शब्द १।११ वाक्
शम् ३।६ सुख
शम्नाति २।१९ हन्ति
शमी २।१ कर्म, ६७३
शम्बर १।१०, १४९ मेघ, पर्वत,
 १।१२ जल, २।९ बल, ५०९
शम्ब ४।२, ३६५ वज्र [३६१
शरण ३।४ गृह, शरणा = शरणम्
शरारु ४।३, ४५० जिघांसु
शर्ध २।९ बल
शर्मन् ३।४ गृह, ३।६ सुख, ५८०
शर्या २।५ अंगुलि, ४।२, ३२१ इषु
शर्वरी १।७ रात्रि
शवति २।१४ गच्छति
शव १।१२, २।९ जल, बल
शशमानः ३।१४ अर्चन्, ४।३,३९८
शश्वत् ३।१ बहुत [शंसमानः
शाखा २।५ अंगुलि
शातपन्त ३।६ सुखवान्
शाशदानः ४।३, ४१६ बार बार
 दमन करता हुआ
शिक्षति ३।२० ददाति, ३६
शिताम ४।१, २४६ बाहु, गुदा,
 यकृत्, चर्बी [वैश्य
शिपिविष्ट ४।२, ३३० सर्वव्यापक,
शिप्रे ४।१, ४१७ कपोल, जबाड़े,
शिमी २।१ कर्म ३३९ [नासिकायें
शिम्बात ३।६ सुखवान्

शिरिणा १।७ रात्रि
शिरिम्बिठ ४।३, ४४६ मेघ, राजा
शिलगु ३।६ सुख
शिल्प २।१ कर्म, ३।७ रूप
शिव ३।६ सुख, ६२३
शिशीते ४।१, २७३ तीक्ष्ण करता
शीभ २।१५ शीघ्र [है, ३६३ ददाति
शीर ४।१, २६२ अवस्थित, सर्व-
शु २।१५ शीघ्र, ३७२ [व्यापक
शुक्र १।१२ जल, ५४५, ७२६
शुभ १।१२ जल
शुन ३।६ सुख, ६०४
शुरुध् ४।३, ४१४ जल
शुष्ण २।९ बल, ३५० शोषक
शुष्म २।९ बल, १५१ प्रचण्ड
शूघन २।१५ आशुकारी
शूरसाति २।१७ युद्ध
शूर्त २।१५ आशुकारी
शूष २।९, ३।६ बल, सुख
शृङ्ग १।१७ तेज, ज्योति, ११८
शृणाति २।१९ हन्ति [सींग
शेप ३।२९, २३५ उपस्थेन्द्रिय
शेव ३।६ सुख, ६२३
शेवृध ३।६ सुख
शेष २।२ अपत्य १६४
शोकी १।७ रात्रि
शोचति १।१६ ज्वलति
शोचिष् १।१७ दीप्ति २६१
श्चोतति २।१४ गच्छति
श्नथति २।१९ हन्ति

निघण्टु-निरुक्त-दैवतपदसूचि ।

नोट:— निघण्टु के पते नहीं दिये गये। ये सब शब्द उसके पंचमाध्याय के हैं, जो कि १५१ देवता हैं।

—:०:—

विशिष्ट--निरुक्त--पदसूचि ।